समता के स्वरग्रन्थांक–१८

आचार्य श्री नानेश विचार-दर्शन

परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानालाल जी म० सा० के
विविध विषयक विचारों का विवेचनात्मक
संकलन–विश्लेषण

□

पंडित रत्न श्री शान्ति मुनि

□

प्रकाशक :

श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ
बीकानेर

समर्पण

समता दर्शन के

गूढ़ व्याख्याता

समीक्षण ध्यान के

नूतन अनुसन्धाता

एवं

अप्रतिम साधक

प्रखरतम वाग्मी

युग प्रचेता

आचार्य श्री

नानेश

के

पदारविन्दों में—

—शान्ति मुनि

□□□

प्रकाशकीय

भारतीय संत-परम्परा में निर्ग्रन्थ-परम्परा का अपना विशिष्ट महत्त्व है। निर्ग्रन्थ का अर्थ है—जो सब प्रकार की ग्रंथियों (गाँठों), मोह, परिग्रह आदि से रहित है। भगवान् महावीर की शासन-परम्परा इस निर्ग्रन्थ सन्त-धारा का प्रतिनिधित्व करती है। इस धारा के सन्तों का तप-त्याग सर्वोपरि है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य जैसे महाव्रतों की परिपालना ये बड़ी कठोरता के साथ करते हैं। एक ओर ये अपने स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन आदि आत्मकल्याणक कार्यों में निरत रहते हैं तो दूसरी ओर संसार के प्राणियों के कल्याणार्थ धर्मोपदेश देते हुए ग्रामानुग्राम पदयात्रा करते हैं। ऐसे ही आत्मधर्मी लोकोपकारक संतों के सच्चे प्रतिनिधि हैं समता-विभूति, जिनशासन-प्रद्योतक, धर्मपाल-प्रतिबोधक, चारित्र-चूड़ामणि, परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानालालजी म. सा.।

आज से ६२ वर्ष पूर्व ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया सं. १६७७ को मेवाड़ के दांता ग्राम में आपका जन्म हुआ। १६ वर्ष की अवस्था में आपने सांसारिक मोह-माया से विरत होकर जैन भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली। तब से आप अपनी उत्कृष्ट ज्ञान-आराधना, विशिष्ट-ध्यान-साधना और विचक्षण प्रवचन-प्रभावना से जिन शासन की निरन्तर महान् सेवा करते आ रहे हैं। आश्विन शुक्ला द्वितीया सं. २०१६ को आप युवाचार्य पद पर तथा माघ कृष्णा द्वितीया को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। अपने आचार्यत्व काल में आपने धर्म और अध्यात्म के, जीवन और समाज के नानाविध क्षेत्रों में समता-दर्शन के रूप में युगान्तरकारी चिन्तन प्रस्तुत किया। समता-दर्शन का ही क्रियात्मक-रूप प्रतिफलित हुआ है धर्मपाल प्रवृत्ति के पल्लवन एवं प्रसरण में। इस प्रवृत्ति के माध्यम से मालवा-क्षेत्र के अस्पृश्य कहे जाने वाले बलाई जाति के हजारों लोगों को व्यसन-मुक्त और सुसंस्कारी बनाया गया है। आपकी अपार करुणा और विशेष प्रेरणा के फलस्वरूप ही मानव कल्याण का यह जीवन उन्नयनकारी ऐतिहासिक कार्य सम्पन्न हो पा रहा है।

आज जीवन में विलासिता और विषमता तेजी से बढ़ती जा रही है लोग बेभान होकर दौड़े जा रहे हैं भौतिकता और पदार्थवादिता के पीछे। ऐसे समय में आप अपने लगभग २२५ साधु-साध्वियों के समुदाय के सहयोग से

समदर्शिता, सात्विकता और आध्यात्मिक का आलोक जन-जन में विकीर्ण कर रहे हैं। आपका यह आलोक पुंज महनीय व्यक्तित्व हम सबके लिए वन्दनीय, पूजनीय और प्रेरणादायी है।

नैतिक भावना और चरित्र निर्माणकारी चेतना उद्बुद्ध करने में महापुरुषों की प्रेरणादायी जीवनियों के अध्ययन का विशेष महत्त्व होता है। महान् पुरुषों के जीवन की छोटी-छोटी घटनाएँ जीवन-निर्माण के जिन सूत्रों की छाप छोड़ती हैं, वह बड़े-बड़े धार्मिक और सैद्धान्तिक ग्रन्थों का अध्ययन करके भी नहीं प्राप्त की जा सकती। आचार्यश्री का जीवन नानाविध प्रेरणादायी घटनाओं और महत्त्वपूर्ण जीवन-प्रसंगों से परिपूर्ण है। 'अन्तर्पथ के यात्री आचार्य श्री नानेश' ग्रंथ के 'जीवन-दर्शन' खण्ड में उनके विद्वान् शिष्य पं० र० श्री शान्ति मुनिजी ने आचार्य श्री के जन्म, बचपन, वैराग्य, दीक्षा और आत्म-कल्याण के साथ-साथ सम्पन्न विविध लोकोपकारी कार्यों का एवं चातुर्मासिक उपलब्धियों का क्रमबद्ध रोचक विवरण प्रस्तुत किया है। इस कृति में समता-दर्शन, समीक्षण-ध्यान प्रवचन-मीमांसा तथा समसामयिक स्थितियों पर आचार्यश्री के समय-समय पर व्यक्त किये गये विचार-बिन्दुओं को संकलित कर उन्हें व्यवस्थित रूप दिया गया है।

सरदारशहर चातुर्मास के बाद पंडितरत्न श्री शांतिमुनिजी का छत्तीसगढ़ (मध्य प्रदेश) क्षेत्र की ओर विहार हो गया और ४-५ वर्ष तक आप उधर ही विचरण करते रहे। क्षेत्र की दृष्टि से दूर होते हुए भी चरित नायक के प्रति आपका भावात्मक सम्बन्ध निरन्तर बना रहा और आपने परिष्कृत, रोचक, प्रांजल पर सरस भाषा शैली में इस ग्रंथ का प्रणयन किया। उसके लिए साधुमार्गी जैन संघ और समग्र साहित्य जगत् आपका चिर ऋणी है। इस ग्रंथ के सम्पादन-परिष्कार में प्रोफेसर श्री शिवाशंकरजी त्रिवेदी एवं सुझाव-संशोधन में डॉ. नरेन्द्र भानावत, प्रोफेसर हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्व-विद्यालय, जयपुर का विशेष सहयोग रहा है, अतः संघ इनका आभारी है। गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद के भूतपूर्व उपकुलपति डॉ. रामलाल परीख ने आमुख लिखकर ग्रंथ की गरिमा में वृद्धि की है, उसके लिए हम उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

इसके प्रकाशन में अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ के नवनिर्वाचित अध्यक्ष श्री दीपचन्दजी भूरा ने अपने पूज्य पिताजी स्वर्गीय श्री भीखमचन्दजी भूरा की पुण्य स्मृति में बड़ी उदारतापूर्वक आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, इसके लिए हम संघ की ओर से आपके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। साहित्य समिति के संयोजक एवं संघ के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री गुमानमलजी चोरड़िया की त्वरित कार्य क्षमता एवं सतत जागरुकता के परिणामस्वरूप यह प्रकाशन पाठकों के सम्मुख यथासमय प्रस्तुत हो सका है। अतः संघ इनका

आभारी है। इसके मुद्रण में फ्रैण्ड्स प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स, जयपुर ने विशेष अभिरुचि लेकर सक्रिय सहयोग प्रदान किया, उसके लिए हम संघ की ओर से धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

आशा है, इस ग्रंथ के पठन-पाठन, चिन्तन-मनन से व्यक्तित्व-निर्माण और समाजोत्थान में विशेष प्रेरणा और प्रकाश मिलेगा।

: विनीत :

जुगराज सेठिया
अध्यक्ष

पीरदान पारख
मंत्री

चम्पालाल डागा

समीरमल कांठेड़

हस्तीमल नाहटा

विनयचन्द कांकरिया

सहमंत्री

श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर

आमुख

आचार्य श्री नानालाल जी महाराज की चिन्तन धारा का यह संकलन करके श्री शान्ति मुनि जी ने बहुजन समाज की बड़ी सेवा की है। यह संकलन पढ़ने से आधुनिक मानव समाज की विषमताओं का समतापूर्ण निराकरण करने का, जो मार्ग आचार्य श्री ने बताया है, इसकी आत्म प्रतीति होती है।

आचार्य श्री का चिन्तन इतना गहन, विशद, सहज और मौलिक है कि इसका आमुख लिखना करीब-करीब असम्भव ही है फिर भी श्री शान्ति मुनि जी की प्रेमपूर्ण सूचना का मैं अनादर नहीं कर सकता। मुझे मुनि जी की इस सूचना के कारण आचार्य श्री जैसे महान् आत्मदर्शी का परिचय करने का सौभाग्य मिला। मैं इसको अपने जीवन का धन्य क्षण मानता हूँ।

भौतिक समस्याओं से पीड़ित मानव समाज चारों ओर से त्रस्त है। कभी-कभी ऐसा लगता है कि जैसे चारों ओर अन्धेरा है और जीवन के ऊर्ध्वीकरण के लिए प्रकाश की किरण कहीं दीखती नहीं। वैसे इतिहास के अध्ययन से तो एक बात सिद्ध है कि मनुष्य को कभी आशा छोड़नी नहीं चाहिये, प्रत्येक विषम परिस्थिति में आशा की ज्योति छिपी हुई होती है।

आचार्य श्री ने विषमताओं के घेरे में से मानव समाज को समता-मार्ग पर आने का सरल और व्यावहारिक उपाय अपने चिन्तन से व्यक्त किया।

उपनिषद् काल से आज तक हमारे यहाँ चिन्तन और चिन्तकों की कमी नहीं है, परन्तु अपने जीवन से निष्पन्न चिन्तन की अनुभूति बहुत कम चिन्तकों से होती है। आचार्य श्री के चिन्तन को पढ़कर हममें एक नई आत्म चेतना का प्रादुर्भाव होता है।

आचार्य श्री के चिन्तन से हममें नई ताजगी, प्रेरणा, आत्म-श्रद्धा तथा संकल्प शक्ति का प्राकट्य होता है। इसी मीमांसापूर्ण चिन्तन से हममें आन्तरिक साधना की शक्ति प्राप्त होती है।

मानव इतिहास के एक ऐसे युग में हम पहुंचे हैं जब हमारी बाहरी शक्ति चारों ओर से कमजोर हो रही है। उस समय नयी शक्ति का स्रोत आन्तरिक दर्शन से ही मिल सकता है।

महात्मा गांधी ने निद्राधीन भारत को इसी मार्ग से जागृत किया था। आचार्य श्री के सम्यक्दर्शी चिन्तन से हमें इसी प्रकार की चेतना मिलती है।

अशान्ति, हिंसा और उद्वेग से त्रस्त मानव समाज को समता और शान्ति का आत्मदर्शी मार्ग इस चिन्तन से प्राप्त होता है। इस दृष्टि से श्री शान्ति मुनि जी का यह संकलन शान्तिमय, अहिंसक जीवन और समाज सिद्धि के लिए एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य सिद्ध होगा।

शान्ति संशोधन केन्द्र
गुजरात, विद्यापीठ,
अहमदाबाद

प्राध्यापक रामलाल परीख
भूतपूर्व उपकुलपति
गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद

□□□

आत्म-निवेदन

सात वर्ष से अधिक ही बीत गये। संघ के वरिष्ठ, प्रबुद्ध कार्यकर्ताओं की ओर से प्रेरणा मिली कि मैं आचार्य प्रवर के जीवन का इतिवृत्त प्रस्तुत करने की दिशा में अपना श्रम, समय और योग्यता सन्नद्ध करूं। प्रेरणा अथवा निर्देश के इस अपेक्षा-वृत्त में मैं ही क्यों समेटा गया, यह बात वे सज्जन, जो इसकी आवश्यकता अनुभव करते थे, ही जानें। क्योंकि इससे पूर्व मेरा लेखकीय अनुभव अपरिदृष्ट था। मेरी प्रसन्नता की सीमा नहीं रही। इतना पावन सुयोग हाथ लगा, जैसे किसी गूंगे भिक्षुक के पात्र में अयाचित ही मधुर प्रसाद आ पड़ा हो। केवल उत्साह, केवल उल्लास, केवल उमंग और केवल सुयोग का गर्व! इस उत्साह ने एक ही प्रतीति पर अपना पाल तान दिया—यह कार्य मेरे लिये सर्वथा अनुकूल और सुगम रहेगा।

मैंने मन ही मन रूपरेखा गढ़नी प्रारम्भ कर दी। यद्यपि मुझसे जीवन-दर्शन की एक सामान्य परिचायिका की ही अपेक्षा की गई थी, किन्तु इतने अल्प से मेरा मन सन्तुष्ट नहीं था। महान् चेतनाओं का व्यक्तित्व घटना प्रधान नहीं, विचार प्रधान होता है। अतः मुझे लगा कि जीवन-दर्शन के निरूपण के साथ आचार्य प्रवर के आन्तरिक व्यक्तितत्व को भी अभिव्यक्ति देना उचित रहेगा। मैंने सम्पूर्ण जीवन-वृत्त को प्रमुख दो भागों में विभक्त करने का विचार स्थिर कर लिया। उसी की फल-श्रुति है यह "विचार-दर्शन"।

विचार दर्शन में आचार्य प्रवर के विविध स्तरीय विचारों का संकलन एवं विश्लेषण है। इस विश्लेषण में पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय युगीन समस्याओं के अध्यात्म-पोषित समाधान हैं, तो चरम शान्ति की प्राप्ति हेतु अध्यात्म साधना के विविध आयाम भी प्रस्तुत हुए हैं।

अध्यात्म में ही जीवन के चरम पुरुषार्थ की अभिव्यक्ति होती है। विकसित मानवीय चेतना के स्तर पर आकर ही आत्म-ज्ञान साधना का विषय बनता है। बाह्य संघर्षों में व्यस्त मानव-समाज इस दिशा में बढ़ने का अवकाश नहीं पाता और व्यस्तताओं तथा संघर्षों के भी दर्शन खड़े हो गये हैं। किन्तु यह स्पष्ट है कि यह संघर्ष-जाल जीवन का लक्ष्य नहीं है। बाधाओं पर विजय के

लिये संघर्ष खड़े होते हैं, किन्तु मानव-चेतना इन संघर्षों पर भी विजय प्राप्त करना चाहती है।

संघर्षों पर विजय की दिशा जीवन के लिये अवकाश उपार्जित करने की है। वह अवकाश ही जीवन को सही दिशा है। जब भी सम्भव हो सकेगा, मानव उस अवकाश का उपयोग आत्म-साक्षात्कार के लिये ही करेगा। समय-समय पर अवतरित विराट चेतनाओं ने अध्यात्म की दिशा में महती उपलब्धियां अर्जित की हैं। वे उपलब्धियां ही हमें प्रेरणा और पथ देती हैं। जीवन का संघर्ष आज अपनी चरम स्थिति में है, अतः जीवन के शाश्वत मूल्यों की मांग भी तीव्रतम है। अतः यह तय है कि ये संघर्ष हमें अध्यात्म की दिशा में तेजी से बढ़ने को प्रेरित कर रहे हैं।

आचार्य प्रवर का जीवन साधना का जीवन है। उनकी साधना सत्य-दशन की साधना है तथा सत्य-दर्शन के विषय में उनकी यह सुनिश्चित अवधारणा है कि—"तमेव सच्चं-निसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।" वही सत्य और संशयातीत है, जिसे जिनेश्वर भगवन्तों ने प्रतिपादित किया है।

सत्य सत्य है, उसे तर्क की कसौटी पर कसते रहना बेतुका है। सत्य अतर्क्य एवं अविभाज्य है, सत्य को जाना नहीं, जीया जाता है। यह तत्त्वदृष्टा जिनेश्वरों का शाश्वत प्रतिपादन है। वर्तमान का युग तर्क का युग है, अतः सत्य की यात्रा दुरूह होती जा रही है। यद्यपि महावीर के दर्शन में "पण्णा समिक्खए धम्मं" के द्वारा तर्क की प्रतिष्ठा भी की गई है, तथापि पूर्ण सत्य के दर्शन में "तक्का तत्थ न विज्जई, मइ तत्थ न गाहिया" सूक्तों द्वारा तर्क एवं प्रज्ञा को अकिंचितकर घोषित कर दिया गया है।

इसी तर्कणातीत सत्य का साक्षात्कार आचार्य देव की साधना का पुनीत लक्ष्य है। वे अपने इस लक्ष्य में किस सीमा तक सफल हुए हैं, यह हमारे चिन्तन का विषय नहीं है। किन्तु इतना मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि आचार्य देव अपने लक्ष्य के प्रति पूर्ण सजगता के साथ समर्पित हैं तथा चरम केन्द्र बिन्दु तक पहुँचने के लिये अनवरत सावचेत एवं गतिशील हैं। उनकी समत्व प्रज्ञा अपने अन्तः शोध के पथ पर द्रुतगति से धावमान है। उनके चेतना के केन्द्र में सत्य-दर्शन अथवा समत्व-दर्शन का व्यापक विस्फोट हुआ है। इसीलिये उसमें स्वात्मलीनता के साथ समाज को कुछ दे देने की बेचैनी भी है। वे समाज में चली आ रही रूढ़ धारणाओं एवं मिथ्या मान्यताओं पर अपने प्रवचनों के माध्यम से करारा प्रहार करते हैं। इसी प्रकार निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति के विकास में वे अपने आपको समिधा के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसी आधार पर वे अपने संघ के बहुमुखी विकास हेतु सतत प्रयत्नशील रहते हैं।

साधना के क्षेत्र में वे अपने शिष्य सम्प्रदाय के समक्ष नित नूतन आयाम उद्घाटित करते हुए अपनी पुरातन मर्यादाओं के प्रति सतत जागृति का संकेत भी प्रस्तुत करते रहते हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में कुछ रूढ़िगत धारणाओं से ऊपर उठकर आचार्य श्री ने परीक्षा प्रणाली का शुभारम्भ किया। फलस्वरूप एक क्रमबद्ध शिक्षा का व्यापक विस्तार संघ के श्रमण-श्रमणियों में होता जा रहा है। अपने शिष्य समुदाय को वे निरन्तर तल-स्पर्शी अध्ययन हेतु प्रेरणा प्रदान करते रहते हैं।

आचार्य देव के व्यक्तित्व की महत्तम विशेषता यह है कि वे वृद्ध एवं ग्लान साधु-साध्वियों की सुव्यवस्थित सेवा-संयोजना के प्रतीक हैं। चूंकि मैं आचार्य देव के आचार्यत्व काल की अधिसंख्य घटनाओं का प्रत्यक्षदर्शी रहा हूं, अतः मेरा अनुभव है कि रुग्ण-सन्तों की सेवा के लिये उनमें जीवन्त तत्परता है। वे स्वयं प्रसंगों पर रात-रात भर सजगवृत्या सेवा साधना में संलग्न हो जाते हैं।

संघीय व्यवस्थाओं में इतनी अधिक तत्परता के उपरान्त भी आचार्य देव "भावणा जोग सुद्धप्पा जले नावा व आहिया" आगम वाक्य के अनुसार जल-कमलवत इन सबसे अपने को असंपृक्त रखने के भी पूर्ण अभ्यासी हैं। श्रद्धेय आचार्य देव निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति के परम पावन अग्रदूत हैं। उनका जीवन त्याग, तप और वैराग्य का प्रतिबिम्ब है। विशुद्ध चरित्र-निष्ठा में उनका अगाध विश्वास है। आचार्य श्री क्या हैं—ज्ञान और कृति के सुन्दर समन्वय, विचार और आचार के बिम्ब- प्रतिबिम्ब। सैद्धान्तिक विचार-विमर्श में किंचित् मात्र भी लाग-लपेट एवं संकोच नहीं रखते हुए विचारों को खुली अभिव्यक्ति देने की कला उनका स्वभाव है। उनकी अतलग्राही मेधा तथा सूक्ष्म प्रज्ञा, विलक्षण प्रतिभा, अद्भुत विचारणा एवं अपूर्व तर्कणा शक्ति से सुसज्ज है।

आचार्य देव द्वारा ही प्रस्तुत परिभाषा "सम्यग् निर्णायकं समता-मयञ्च यत्तज्जीवनम्" के अनुसार आचार्य श्री का जीवन दर्शन समता का साकार प्रतिबिम्ब है।

प्रस्तुत कृति 'विचार-दर्शन' को पांच अध्यायों में विभक्त किया गया है—

१. प्रथम अध्याय 'समता दर्शन' में आचार्य श्री की राष्ट्र के लिये अमूल्य देन समता दर्शन को विवेचित किया गया है।

२. द्वितीय अध्याय 'समीक्षण ध्यान' में युग की ज्वलन्त समस्या को समाहित करने का उपक्रम है।

३. तृतीय अध्याय 'प्रवचन-मीमांसा' में आचार प्रवर के प्रवचनों की विषय-वस्तु का दिग्दर्शन कराया गया है।

४. चतुर्थ अध्याय 'प्रश्न मेरे—उत्तर आचार्य श्री के' में आज की कुछ ज्वलन्त जिज्ञासाओं का विस्तृत समाधान है।

५. पंचम अध्याय 'चिन्तन कण' में आचार्य प्रवर के मौलिक चिन्तन कणों को संकलित किया गया है।

आलेखन का आयोजन यों प्रायः पूर्ण हो गया। किन्तु यह पूर्णता विषय की नहीं है। ग्रन्थ की पूर्णता ने मुझे बौनेपन का अहसास ही दिया है। यदि यह कार्य किसी समर्थ शिल्पी के हाथों से सम्पन्न होता, तो आचार्यवर के गरिमामय जीवन को अधिक सही अभिव्यक्ति मिल पाती। मेरे पास भाषा, शिल्प और सम्प्रेषण की वह योग्यता नहीं थी, जो विषय का न्यायसम्मत निर्वाह कर सके। अतः इस ग्रन्थ में दो समानान्तर धाराएं प्रवाहित हैं—एक आचार्य देव के महिमामय जीवन-प्रसंगों की और दूसरी मेरी क्षमतागत दुर्बलताओं की। सुधी और श्रद्धावान पाठकों से यही निवेदन है कि वे अभिव्यक्ति की अकुशलता के लिये मुझे क्षमा करते हुए श्रद्धेय गुरुदेव के जीवन-प्रसंगों से ही प्रेरणा लें। यदि कहीं त्रुटियां रह गई हों तो उनके लिये मैं ही उत्तरदायी हूं।

इस ग्रन्थ के लेखन में आचार्य महाप्रभु की परोक्ष अनुकम्पा के अतिरिक्त सर्वतो महत सहकार मुझे मुनिमण्डल का प्राप्त हुआ। चूंकि इस लेखनावधि में महातपोधनी,सेवा की साकार प्रतिमा श्री अमरचन्दजी म. सा., तपस्वी श्री रतनमुनि जी, सेवा समर्पित श्री भूपेन्द्र मुनि जी एवं महान् तपस्वी श्री बलभद्र मुनि जी का सहवास ३-४ वर्ष रहा, अतः इन सभी महामुनियों का सहकार अविस्मरणीय है। विशेषतया घोर तपस्वी द्वय एवं सेवाभावी श्री भूपेन्द्र मुनि जी का कृपापूर्ण सहयोग विस्मृत नहीं किया जा सकता, जिन्होंने मुझे प्रायः सभी अन्तरंग कार्यों से मुक्त कर इस कार्य हेतु समर्पित होने का अवकाश प्रदान किया।

विश्रुत विद्वान् महामान्य श्री शिवाशंकर जी त्रिवेदी का ग्रन्थ का आद्यन्त अवलोकन कर सम्पादन-सम्बन्धी परिष्कार किसी भी कीमत पर उपेक्षणीय नहीं हो सकता है। उनके अमूल्य सहयोग से ही कृति को पूर्णता प्राप्त हुई, यह कहना वास्तविकता के बहुत करीब है। हिन्दी के प्रमुख समीक्षक और जैन दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. नरेन्द्र भानावत, प्रोफेसर राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के संशोधनात्मक सुझावों का भी यथास्थान उपयोग किया गया है।

अन्य सभी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोगियों की संस्मृति के साथ अपने इस विरत, किन्तु विपुल प्रयास को "त्वदीयं वस्तु योगीन्द्र, तुभ्यमेवसमर्पयेत्" की भावना के साथ महामहिम आचार्य महाप्रभु के चरणों में विनम्रान्जलि रूप में प्रस्तुत कर देता हूं।

श्रेयो भूयात

—शान्ति मुनि

☐ अनुक्रमणिका ☐

☐ ☐ ☐

युग-चेतना

भारतीय संस्कृति की गौरव-गरिमा, संत, महात्मा एवं ऋषि-महर्षियों के त्याग के उपादानों से रही है। संस्कृति के ऐतिहासिक पृष्ठों से एकबारगी यदि संत, महात्मा एवं ऋषि-महर्षियों के जीवनवृत्तों को पृथक् कर दिया जाय तो निश्चित रूपेण संस्कृति की चेतना लुप्त हो जायेगी, संस्कृति मात्र एक जड़ ढाँचा रह जायेगी। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि हमारी संस्कृति त्याग पर ही आधारित है। हमारा इतिहास बताता है कि जितने भी पूजनीय हुए हैं, अपने त्याग के बल से ही हुए हैं। महावीर, राम, कृष्ण और बुद्ध की पूज्यता का कारण उनका राजकीय वैभव न होकर यथोचित मात्रा में लौकिक वैभव आदि का त्याग ही रहा है। भारतीय सांस्कृतिक हिमालय से प्रवाहित मूल दो (श्रमण एवं वैदिक) धाराओं में श्रमण (निर्ग्रन्थ श्रमण) संस्कृति की धारा तो विशेषतया निवृत्ति प्रधान होने के कारण त्याग से ही ओतप्रोत रही है।

इस त्याग प्रधान संस्कृति की लौ को अनवरत प्रज्वलित रखने हेतु प्रत्येक युग में कोई-न-कोई चेतना, प्रकाश-स्तम्भ बनकर अवनितल पर उत्तरित होती है और अपने जीवन-स्नेह द्वारा संस्कृति की परम्परागत चली आ रही लौ को अक्षुण्ण रूप से प्रज्वलित बनाये रखती है। इसे हम साहित्य की भाषा में युग-चेतना किंवा युग-पुरुष की संज्ञा से अभिहित कर सकते हैं।

पारिभाषिक अर्थों में युग-पुरुष वह होता है, जो अपने युग को तत्कालीन सन्दर्भों में नूतन सन्देश द्वारा आन्दोलित एवं आलोकित करता है। उसकी वैचारिकता में युग का विचार मुखरित होता है, उसकी वाणी में युग बोलता है और उसकी प्रत्येक क्रियान्विति से युग को नवीन चेतना, नई स्फूर्ति एवं नूतन प्रेरणा मिलती है। वह युगीन चेतना का सफल एवं सबल प्रतिनिधित्व करता है। वह अपनी महत्ता एवं दिव्यता से समस्त मानव जाति को ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण वायुमण्डल को महत्तम एवं दिव्यतम रूप में आलोकित एवं अनुप्राणित करता है। वह अपनी क्रांतिकारी प्रेरक विचार-रश्मियों से समाज में चले आ रहे सड़े-गले विश्वास एवं मिथ्या आचार के अन्धकार को निरस्त करता हुआ उसमें सम्यग् नूतनता का स्नेह सिंचन कर उसे दिव्य आलोक से भर देता है। सीधे एवं स्पष्ट शब्दों में कहें तो जो स्व-पर कल्याण की गहरी निष्ठा, अविचल आस्था एवं प्रगाढ़ श्रद्धा के साथ समाज को विकृति के गर्त से निकाल कर संस्कृति की ओर गति देता है वही महापुरुष, किंवा युग-पुरुष कहलाता है।

युग-पुरुष अपने सामर्थ्य एवं पौरुष बल से दुर्गम एवं बीहड़ कण्टकाकीर्ण गन्तव्य पथ को सुगम एवं सरल (कोमल) पुष्प शय्या के रूप में परिवर्तित कर देता है। वह जन-मुख पर होने वाली अपनी निन्दा-स्तुति, मान-अपमान से सर्वथा ऊपर उठकर निश्चित अपनी मंजिल की ओर निरन्तर अग्रसर रहता है। वह तत्कालीन जन-जीवन का अनुसरण नहीं करता, अपितु जन-चेतना स्वयं ही उसका अनुसरण करती है, क्योंकि उसकी हर मानसिक, वाचिक एवं कायिक क्रिया लोक-मंगल एवं जन-कल्याण के लिये होती है, अतः उसके जीवन के कण-कण से एक ही स्वर झंकृत होता है—

'अर्पित है मेरा मनुज काय,
सब जनहिताय, सब जनसुखाय।'

युग-पुरुष अपने युग का प्रतिनिधि तो होता है, किन्तु सामान्य जन से ऊपर। वह अपनी विचार-क्रांति से तत्कालीन विचार, वाणी और कर्म को नया मोड़ देता है, नूतन मार्ग-दर्शन देता है। संक्षेप में हम यों कह सकते हैं कि जब सामान्य जन-चेतना समस्याओं एवं परिस्थितियों के संकुल पथ में दिग्भ्रमित होने लगती है, तब उसका अन्तर स्वर युग-पुरुष का आह्वान करता है जो आकर उसे दिशा-बोध एवं समाधान देकर हैरानी एवं परेशानी की विडम्बना से मुक्त कर दे, तत्कालीन समस्त बोझिल रूढ़ियों को ध्वस्त कर दे। जो चेतना ऐसी क्षमता एवं ऊर्जा की धारक व संवाहक हो, वही युगीन चेतना युग-पुरुष के रूप में विश्रुत हो जाती है।

प्रस्तुत है, ऐसे ही निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति किंवा जैन संस्कृति के दिव्य नक्षत्र, युग-पुरुष की जीवन-झांकी, जो कि अपने अध्यात्म आलोक से भौतिकता के गहन अन्धकार में भटकते हुए जनमानस को आलोकित कर रही है, जो समता की पवित्र सरित धारा में स्वयं अवगाहन करती हुई जन-जन के लिए समता-धारा में अवगाहन का प्रेरणास्रोत बनी हुई है, जिसने श्रमण संस्कृति के उत्थान हेतु सर्वतोभावेन अपने आपको समर्पित कर दिया है।

ज्योति-पुंज

उपर्युक्त शब्दावली में आगत 'समताधारा' शब्द को पढ़ते ही, मैं सोचता हूँ, सुज्ञों की दृष्टि में वह ज्योति-पुंज उजागर हो चुका होगा, क्योंकि आधुनिक संदर्भ में समता दर्शन और वह ज्योति-पुंज प्रायः एक अर्थ के दो पर्याय बन चुके हैं। फिर भी शब्द-चित्र के द्वारा यत्किञ्चित् अंकन आवश्यक प्रतीत होता है।

निःसीम ससीम में

ससीम शब्दों के सीमा-बंधन में विराट् एवं निःसीम व्यक्तित्व को आबद्ध करना गागर में सागर भरने के समान दुःसाध्य अवश्य है, फिर भी आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के शब्दों में—

"बालोऽपि किं न निज बाहुयुगम वितत्य ।
विस्तीर्णतां कथयति स्व धियाऽम्बुराशेः ।।"

के अनुसार अपने श्रद्धेय के प्रति, जिन्होंने कच्ची मिट्टी को एक हार का रूप दिया, आन्तरिक सहज श्रद्धा की अभिव्यक्ति के रूप में कुछ लिखने के लिए मन का प्रेरित होना, निजी सौभाग्य मानता हूँ । एतदर्थमेव श्रद्धा के दो शब्द, शब्द-चित्र के रूप में प्रस्तुत हैं—

शब्द-चित्र

मंझला कद, भरी-पूरी एवं सुडौल, किन्तु कोमल देह, कान्तिमय गेहुँआ वर्ण, गम्भीर मधुर स्मिति युक्त प्रसन्न वदन, अमिताभ-तेज मंडित विशाल भाल, चौड़ा वक्षःस्थल, प्रलम्ब बाहु, अति कोमल एवं हल्की लालिमा लिये हुए सामुद्रिक सुलक्षणों युक्त हस्त युगल । सिर पर बिखरी हुई विरल, धवल एवं श्यामल मिश्रित केश राशि । उपनेत्र में से झांकते हुए दिव्य तेजोमय चक्षु जो सम्मुखस्थ व्यक्ति को चुम्बकीय शक्ति से प्रभावित करते हुए उसके अन्तरंग भावों के परीक्षण में परम प्रवीण हैं । गुदगुदी भरी कोमलता एवं सुकुमारता से रंजित लघु पादांगुलियाँ एवं तदनुरूप पद्मरेखादि सुलक्षणों युक्त अत्यन्त सुकोमल रक्ताभ, चरण-सरोज । श्वेत, नाति-स्वच्छ खद्दर से समाकृत साध्वोचित सादगी का प्रतिरूप जादू भरा परम प्रभावक यह बाहरी व्यक्तित्व, आन्तरिक विशुद्धता "सादा जीवन उच्च विचार" का स्पष्ट अभिव्यंजक है ।

सीधा सादा रहन-सहन एवं जैन श्रमणोचित अति सीमित उपकरण । धार्मिक एवं दार्शनिक विचार व चर्या में निष्णात कतिपय शिष्यों से परिवृत्त एवं हजारों हजार उपासकों के श्रद्धाभाजन । यही है परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानालालजी म० सा० का बाहरी व्यक्तित्व ।

व्यक्तित्व-अंकन

सरस और स्पष्ट मानस, सहज स्फूर्त, तर्क-पटु, तीक्ष्ण प्रज्ञा तथा वात्सल्यमयी कोमल, किन्तु सुस्पष्ट वाणी की अभिव्यंजना । जिस तेजोमय व्यक्तित्व में इन तीनों की समष्टि है उस महामहनीय व्यक्तित्व का परिचय है—परम श्रद्धेय, समतादर्शन प्रणेता, धर्मपाल-प्रतिबोधक, आचार्य श्री नानालालजी म० सा०, जिन्हें हम संक्षेप में आचार्य श्री नानालालजी म० सा० और अति संक्षेप में आचार्य श्री नानेश कहकर सम्बोधित करते हैं ।

आपकी वाणी में छोटे-बड़े एवं समवयस्क सभी के प्रति नवनीत-सी मृदुता व कुसुम सी कोमलता झलकती है, किन्तु तार्किक विचार-मंथन में आप वज्रादपि कठोर एवं हिमालय से भी अधिक निष्प्रकंप हैं । व्यवहार-पटु होने के

साथ ही अपनी वैचारिक एवं व्यावहारिक चारित्रमय आचरण पद्धति में मेरुवत अचल, निष्कंप एवं अडोल हैं। आधुनिक संदर्भ में विज्ञान की चकाचौंध से पराभूत जनचेतना में विज्ञान, दर्शन एवं संस्कृति के समन्वय-सूत्र प्रस्तुत कर जन-जागृति करने वालों में आप सर्वाधिक अग्रगामी, सर्वाधिक सजग एवं सर्वतोभावेन लोकप्रिय हैं।

आचार्य देव सौजन्य, सौहार्द, स्नेह, सद्भाव एवं समत्वयोग के अद्भुत एवं ध्रुव अपने आप में एक विशिष्ट साधक हैं, और हैं इस नूतनता के द्वन्द्व-पीड़ित युग में दोनों चिन्तन-धाराओं में समन्वय प्रस्तुत करने वाले स्नेह के नये सूत्रधार। पद की दृष्टि से सर्व-ज्येष्ठ होते हुए भी पर्याय-ज्येष्ठों के प्रति अप्रतिम विनम्र। छोटों एवं समवयस्कों के प्रति निष्कारण भावपूर्ण व स्नेहिल।

निष्कर्ष की भाषा में आचार्य देव का विराट् व्यक्तित्व उस इन्द्रधनुष की तरह सुनहला और मोहक है, जिसकी रमणीयता को अनेकानेक बार देख कर भी नेत्र कभी तृप्ति का अनुभव नहीं कर पाते।

आपका व्यक्तित्व अति रमणीय, अद्भुत एवं क्रियाशील है। जहाँ वह दर्शन के समान तर्कशील एवं गूढ़ है वहाँ काव्य के समान सरस एवं सुबोध भी। अध्यात्मनिष्ठ योगी की विशुद्ध व्यक्तिवादी दृष्टि उसमें झलकती है, तो एक समाज-संगठक का समूहवादी चिन्तन भी उसमें निखरता-सा लगता है। साधुत्व की दृष्टि से आप साधना के उच्च शिखर को छू रहे हैं, तो अनुशासनात्मक विचार-क्रांति की दृष्टि से आप समाज की जड़ता को झकझोर कर उसको गति-शील योग्य नेतृत्व भी देते हैं। सचमुच आचार्य देव के व्यक्तित्व में इन्द्रधनुष की तरह विभिन्न रंग एक विलक्षण छटा लिए एक साथ उभरते दिखाई देते हैं।

वैचारिक परिवेश

आचार्यश्री के परिदृष्ट व्यक्तित्व को 'अन्तर्पथ के यात्री आचार्य श्री नानेश' के प्रथम खंड 'जीवन-दर्शन' में आलेखित करने का प्रयास किया गया है। किन्तु किसी भी व्यक्तित्व के सम्यक् बोध हेतु उसके व्यक्तित्व एवं कृतित्व दोनों पर दृग्पात करना होता है। व्यक्तित्व जीवन के एक पक्ष को उजागर करता है, तो कृतित्व दूसरे पक्ष को। कृतित्व ही ऐसी सशक्त विधा है, जो व्यक्तित्व को स्पष्टतया अभिव्यंजित करती है।

कृतित्व को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं, एक वैयक्तिक, दूसरा सामष्टिक। जीवन की कुछ कृतियाँ ऐसी होती हैं जो स्वयं के जीवन से ही अधिक सम्बद्ध होती हैं। उनका समष्टि पर प्रभाव होना आनुषंगिक मात्र होता है, जबकि कुछ कृतियाँ समष्टि के लिए—सामान्य जन-जीवन के लिए उत्प्रेरक होती हैं, जिनके द्वारा जन चेतना को दिशाबोध प्राप्त होता है।

आचार्य प्रवर के व्यक्तित्व एवं वैयक्तिक कृतित्व का 'अन्तर्पथ के यात्री आचार्य श्री नानेश' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ के प्रथम खण्ड 'जीवन-दर्शन' में विवेचन किया गया है, किन्तु इतने मात्र से उनके सामष्टिक व्यक्तित्व का आलेखन अपूर्ण ही रहता है अथवा यों कहें इतने श्रम के उपरान्त भी उनके व्यक्तित्व को अभिव्यंजना के फलक पर पूर्णतया उकेरा नहीं जा सका है। उनके व्यक्तित्व का सर्वतोमहत् पक्ष है—विचार-क्रांति। उन्होंने समष्टि को विचार की एक नई दिशा दी है, जिसे हम क्रांति शब्द में अभिहित कर सकते हैं। क्रांति का अर्थ होता है—विचारों का सामूहिक एवं सशक्त रूपान्तरण। और यह कार्य किया है आचार्य प्रवर के वैचारिक परिवेश ने। अपनी वैचारिक क्रांति में उन्होंने व्यक्ति एवं देश को ही नहीं, विश्व-समस्याओं को रेखांकित कर उन्हें समाहित करने का मौलिक मार्ग-दर्शन प्रस्तुत किया है।

आज विश्व की ज्वलन्त समस्याएँ हैं—मानव-मानव में व्याप्त विषमता की भेद रेखाएँ, मानसिक तनाव, सामाजिक विभेद एवं जन-जन का प्रश्नाकुल मानस।

आचार्यश्री के उर्वरक ऊर्जस्विल मानस ने विचार क्रांति के रूप में प्रत्येक समस्या का स्पर्श किया और उसका स्थायी समाधान भी प्रस्तुत किया।

विषमता की धधकती ज्वालाओं में आज एक राष्ट्र ही नहीं, समूचा विश्व जल रहा है। व्यक्ति-व्यक्ति के भेद ने समाज, राष्ट्र एवं विश्व में विभेद की सशक्त रेखाएँ खींच दी हैं।

इस वैषम्य के साथ ही आज का विश्व सर्वाधिक ग्रस्त है—मानसिक तनावों से। आज का आम व्यक्ति किसी-न-किसी तनाव से अनुवेष्टित है। वैयक्तिक, पारिवारिक एवं सामाजिक संघर्षपूर्ण स्थितियों में वह तनावमुक्त नहीं रह सका है और इस तनाव ने बहुत अधिक मनोरोगों को उत्पन्न किया है।

अध्यात्म के प्रति उपेक्षा एवं सामाजिक संघर्षों ने भी विश्व-समस्याओं में कम वृद्धि नहीं की है। मानव-मन की उद्दाम लालसाओं ने आम व्यक्ति का ध्यान अपनी ओर खींच लिया है, परिणामतः अध्यात्म साधना के प्रति जन-रुचि सहज ही क्षीण होती गई और आज विश्व उस स्थिति में पहुँच गया है जहाँ आत्म-शान्ति नामक तत्त्व नाम शेष रह गया है।

इतना सब होने पर भी यह मानना पड़ेगा कि आज के विश्व ने बौद्धिक विकास के प्रतिमान स्थापित किये हैं। प्रतिभाओं में बहुमुखता आई है। प्रकृति-विजय का अभियान आरम्भ किया है मानव प्रज्ञा ने। महा समुद्रों के विराट् वक्ष पर विशाल जलयान ही नहीं, जहाजी बेड़ों की गर्जना सुनाई दे रही है। पक्षियों की भांति आज का मानव आकाश को नाप रहा है। यही नहीं, वह

सृष्टि के समस्त रहस्यों को जान लेने के लिए कृत संकल्प है और विकास की ओर द्रुत गति से बढ़ रहा है, किन्तु दूसरी ओर उसी मानव-प्रज्ञा ने हाइड्रोजन एवं न्यूट्रान जैसे अणु आयुधों का भी निर्माण किया है, जो विश्व सभ्यता को एक ही ग्रास में आत्मसात कर सके। मानव प्रज्ञा की इस स्थिति को देखते हुए आज का जन-मानस प्रश्नाकुल ही अधिक बना है। उसकी तीक्ष्ण प्रज्ञा अनेक सामान्य-असामान्य जिज्ञासाओं से आक्रान्त बनी रहती है। अनेक जटिल-अजटिल प्रश्न उसके मानस में तरंगायित होते रहते हैं।

विश्व की इन सभी गम्भीर एवं पेचीदा समस्याओं पर आचार्य प्रवर ने मीमांसापूर्ण चिन्तन किया है और उनके समाधान के लिए समता दर्शन, समीक्षण ध्यान, जैसे सशक्त आयाम प्रस्तुत किये हैं। इन सब की सविस्तार व्याख्या के द्वारा, जो आगे के पृष्ठों पर अंकित है, पाठक अपनी समस्याओं का ही नहीं, विश्व समस्याओं का भी समाधान प्राप्त कर सकेंगे।

आचार्य प्रवर का व्यक्तित्व अनुभूतिगत साधना का व्यक्तित्व है। उनकी साधना आत्मनिष्ठ साधना है और आत्मा के चरमान्त स्वरूप की उपलब्धि उनकी साधना का पुनीत लक्ष्य है। अस्तु, जो कुछ विचार-वैभव आचार्य प्रवर से प्राप्त हुआ है वह आत्म-दर्शन की भूमिका का निदर्शन मात्र है। समस्त अनुभूतियों का अभिव्यंजन एवं आलेखन असम्भव ही है। अतः अगले पृष्ठों में हम 'विचार-दर्शन' के माध्यम से आचार्य प्रवर के आन्तरिक व्यक्तित्व की किंचित् झलक प्राप्त कर सकेंगे।

समता-दर्शन

किसी भी महामानव के महनीय व्यक्तित्व को तब तक सर्वांगीण रूप से नहीं जाना जा सकता, जब तक उसके दार्शनिक विचार अथवा उसकी समाज किंवा राष्ट्रोत्थान के लिये समर्पित दार्शनिक विचारधारा को ठीक से न जान लिया जाय। महान् व्यक्तित्व की गरिमा उसके विचार-वैभव द्वारा ही आँकी जा सकती है। विचार ही उसकी ऐसी धरोहर है जो युग-युग तक उस व्यक्तित्व को अमर रखती है और समाज को निरंतर आलोक प्रदान करती है।

आचार्यश्री एक युगपुरुष हैं और युग पुरुष वही होता है, जो समाज में चली आ रही गली-सड़ी मान्यताओं, मानवता विरोधी रूढ़ धाराणाओं को ध्वस्त कर समाज को चिन्तन का नया आलोक प्रदान करे, युगीन समस्याओं का आध्यात्मिक दृष्टि से समयोचित समाधान प्रस्तुत करे तथा जनजीवन में फैली हुई अन्ध श्रद्धा, विषमता एवं दौर्मनस्यपूर्ण परिस्थितियों पर स्थायी समाधान हेतु अनुभूतिमूलक दृष्टि प्रदान करे।

श्रद्धेय आचार्य देव अपने इस दायित्व के निर्वहन में कितने सक्षम रहे हैं, इसे हम उनके द्वारा प्रस्तुत समता-दर्शन की वैचारिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि के आधार पर समझने का प्रयास करेंगे।

आज का जनजीवन जिस विषमता के दलदल में फँस चुका है, अथवा फँसता जा रहा है, वह अत्यन्त शोचनीय है। चारों तरफ हिंसा का ताण्डव नृत्य हो रहा है, प्रत्येक मानव का मन भयाक्रान्त है, विषमता की इस विभीषिका के भयंकर परिणामों से उपराम पाने के लिये ही आचार्यश्री ने समता-दर्शन की मौलिक देन समाज के लिये प्रस्तुत की है।

समता-दर्शन के स्वरूप-विश्लेषण एवं वस्तुनिष्ठ विवेचन के पूर्व "दर्शन" शब्द की निर्युक्ति तथा दर्शन-क्षेत्र की वर्तमान दशा पर कुछ चिन्तन अप्रासंगिक नहीं होगा।

दर्शन-निर्युक्ति

दर्शन मानव मस्तिष्क की विचित्र किन्तु तर्कनिष्ठ उपज है। दर्शन, जीवन और जगत् की विचित्रताओं का पर्यावलोकन करने वाला दिव्य चक्षु है। दर्शन शब्द की निष्पत्ति 'दृश्' धातु से हुई है। 'दृश' का अर्थ है देखना। "दृश्यते अनेन इति दर्शनम्" जिसके द्वारा देखा जाये, वह दर्शन कहलाता है। नेत्रों का दर्शन चाक्षुष दर्शन कहलाता है, किन्तु प्रस्तुत में दर्शन शब्द किन्हीं भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जिन तत्त्वों का साक्षात्कार चर्म-चक्षुओं से नहीं किया जा सकता, उनका साक्षात्कार दर्शन-चक्षु का विषय क्षेत्र है। संक्षेप में दर्शन का अर्थ है तत्त्व का साक्षात्कार।

दर्शन की सार्थकता केवल भौतिक पदार्थों की शक्ति-सीमा के परिबोध में ही नहीं, अपितु, सृष्टि के चराचर तत्त्वों की अपरिमेयता एवं सूक्ष्मता के प्रति अन्तर्दृष्टि के जागरण में है।

दर्शन का उद्देश्य

विश्व के रंगमंच पर प्रतिपल घटित होने वाले घटना चक्रों की विविधता, विचित्रता, साश्चर्यता एवं रमणीयता का तीक्ष्ण प्रज्ञा से तर्क-पटु विवेचन करना, विश्व में चेतन-अचेतन-सत्ता का क्या स्वरूप है, उस सत्ता का जीवन और जगत् पर क्या प्रभाव पड़ता है, प्रकृति प्रदत्त उपादानों की रमणीय व्यवस्थाओं का केन्द्र क्या है, प्रकृति अपने सन्तुलन को कैसे बनाए रखती है आदि प्रश्नों की गहराई में पहुँच कर उनकी तर्क-संगत व्याख्या करना दर्शन-शास्त्र का प्रमुख लक्ष्य रहा है।

पाश्चात्य दार्शनिकों के अनुसार दर्शन का उद्देश्य है, विश्व की बौद्धिक एवं तर्क-संगत व्याख्या प्रस्तुत करना, अर्थात् पाश्चात्य अवधारणा के अनुसार मानसिक व्यायाम का ही अपर पर्याय दर्शन है। किन्तु पौर्वात्य दर्शन तर्क के साथ श्रद्धा के संबल को समुचित महत्त्व प्रदान करते हैं, अतएव पूर्व के दर्शन, विशेषकर भारतीय दर्शनों में श्रद्धा एवं तर्क का सुन्दर समन्वय मिलता है। दृश्य एवं अदृश्य जागतिक तत्त्वों के प्रति नैसर्गिक श्रद्धा के साथ तर्क-पुरस्सर विवेचना प्रस्तुत करना भारतीय दर्शनों की प्रमुख विशेषता है। तात्पर्य यह है कि भारतीय दर्शन जगत् के साथ जीवन की भी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से भारतीय दर्शन आत्मा एवं परमात्मा की सत्ता को उजागार करते हैं। इस प्रकार यदि भारतीय दर्शन की ऐसी कोई विशेषता है, जो उसे पाश्चात्य दर्शन से पृथक् करती है, तो वह है, आत्मा की परम सत्ता (मोक्ष) का चिन्तन।

सृष्टि के दो प्रमुख घटक हैं; चेतनामय जगत् और अचेतन सृष्टि। जैन दर्शन की भाषा में चेतन एवं जड़, सांख्य दर्शन के शब्दों में पुरुष और प्रकृति, वैदान्त के चिन्तन में ब्रह्म एवं माया का विस्तार कहा जाता है।

उपर्युक्त दोनों तत्त्वों के अन्वेषण की मुख्य दो परम्पराएँ कायम हो गई हैं और वे दो परम्पराएँ ही निरन्तर प्रवहमान सरिता की तरह दर्शन-जगत् की दो धाराएँ बन गई हैं, एक पाश्चात्य और दूसरी पौर्वात्य। पाश्चात्य दर्शन भौतिक तत्त्वों के विश्लेषण की गहराई में पहुँचे, तो पौर्वात्य दर्शन चेतन-आत्म तत्त्व के अन्वेषण की दिशा में प्रवृत्त हुए। इसी दृष्टि से भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति से प्रभावित सभी पौर्वात्य दर्शनों को आत्मवादी दर्शन कहा जाता है।

भारत के प्राय: सभी दर्शनों का प्रमुख ध्येय आत्मा और उसके स्वरूप का प्रतिपादन करना रहा है। चेतन एवं परम चेतन की सत्ता को जिस समग्रता एवं सूक्ष्मता से भारतीय दार्शनिकों ने समझने-समझाने का प्रयास किया, वह अपने आप में अनूठा एवं अतुलनीय है।

जैन-दर्शन

सभी भारतीय दर्शनों में जैन-दर्शन का अपना गौरवमय स्थान है। आत्म-तत्त्व की विवेचना में तो उसका सानी कोई दर्शन है ही नहीं, क्योंकि दिव्यद्रष्टा प्रभु महावीर का अध्यात्मवादी दर्शन "आत्मा" का ही दर्शन है। प्रभु महावीर के उपदेश "से आयावाई, एगे आया" जैसे आत्मवादी स्वरों से ही प्रारम्भ होते हैं। आत्मा के संदर्भ में जितनी सूक्ष्म मीमांसा जैनागमों में उपलब्ध होती है, उससे सहज समझा जा सकता है कि आत्मा का स्वरूप-विवेचन महावीर का प्रमुख प्रतिपाद्य रहा है। इतना होने पर भी वह आत्मा-सम्बन्धी चिन्तन केवल विचारपरक नहीं रहा। विचार के साथ आचारनिष्ठा महावीर दर्शन का प्राण है। महावीर का दर्शन केवल विचारों का एक कोष नहीं, अपितु जीवन जीने की कला है। वहाँ केवल सत्य की अन्वेषणा नहीं, उसके साथ रमणता (आत्मासात् हो जाना) भी अनिवार्य मानी गई है।

यही कारण है क वेदान्त और मीमांसा, महायान और हीनयान, सांख्य और योग की तरह महावीर-दर्शन, दर्शन और धर्म दो भागों में विभक्त नहीं हुआ और न वहाँ किसी प्रकार का विरोध ही उपस्थित हुआ। दर्शन और धर्म वहाँ विचार और आचार के रूप में परस्पर पूरक, सहचर अथवा सहगामी रहे हैं। महावीर-दर्शन में विचार के साथ आचार की भी अतुलनीय महिमा तथा गरिमा है। दर्शन द्वारा विचार प्रस्फुटन और तद्द्वारा तत्त्व प्रतिपादन होता है, तो धर्म उसके क्रियान्वयन किंवा अनुशीलन पर वल देता है।

महावीर-दर्शन की इस संक्षिप्त विवेचना के आधार पर हम कह सकते हैं कि समस्त भारतीय दर्शनों में जैन-दर्शन सर्वाधिक प्रभावशाली दर्शन है। इस दर्शन की अनूठी एवं वस्तुनिष्ठ विशेषताएँ हैं। अध्यात्म से सम्बन्धित जड़-चेतन, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, आत्मा-परमात्मा तथा संसार-मुक्ति, सभी का सांगोपांग तर्क-संगत विवेचन तथा तदनुसार जीवन-सर्जन जैन-दर्शन और जैन-धर्म के प्रथम प्रतिपाद्य हैं।

विडम्बना यह कि अन्यान्य दर्शनों की तरह जैन-दर्शन की तात्त्विक विवेचना भी बौद्धिक विलास बनकर रह गई है। आज का चिन्तन बौद्धिक विश्लेषण किंवा वैचारिक परिधि तक सीमित रह गया है। जीवन की सम्पूर्ण व्यावहारिक समस्याओं-अभीप्साओं का समयोचित तथ्यमूलक समाधान दर्शन की परिधि से बाहर रहता जा रहा है। दर्शन की चर्चा केवल तर्क के रूप में जीवन की नहीं, मस्तिष्क की खुराक बनकर रह गई है और दर्शन अपने उद्देश्य (सत्य की खोज) से भटक गया है।

वैज्ञानिक दर्शन

यही कारण है कि पौर्वात्य दार्शनिक चिन्तन-प्रणाली की जटिलताओं एवं दुरुहताओं से आज की जन-चेतना असम्पृक्त-सी होती जा रही है, और पाश्चात्य दार्शनिक चिन्तन, जो आज विज्ञान के रूप में प्रस्तुत है, के प्रति समूचा पौर्वात्य जन-जीवन भी आकर्षित है। तथ्य यह है कि जीवन के चरम एवं परम सत्य का आधार विज्ञान कथमपि नहीं बन सकता। विज्ञान का प्रारम्भ भौतिक जगत् के सत्य तत्त्व की खोज के लिये और तद्द्वारा जीवन में बाह्य सुख-सुविधाओं और सुरक्षा जुटा लेने के लिये हुआ है। किन्तु विज्ञान अपने प्रारंभिक उद्देश्य से भटक कर ठीक विपरीत दिशा की ओर मुड़ गया। उसकी तथाकथित उन्नति, अवनति की पराकाष्ठा बन गई है। आनुमानिक तथ्य के अनुसार संसार के बड़े देशों में वैज्ञानिक प्रयोगों पर होने वाले व्यय का लगभग ९९ प्रतिशत युद्ध और जासूसी के साधनों पर हो रहा है।[1] कैसी विडम्बना है कि जिस विज्ञान से यह अपेक्षा की गई थी कि वह मानव-जाति के लिये अधिक जीवन सामग्री, अधिक रोजगार, अधिक विश्राम और अवकाश, अधिक शान्ति और अधिक सौहार्द तथा पारस्परिक विश्वास का निर्माण करेगा, वही विनाश की सामग्रियों के अम्बार लगाने में नियुक्त है। क्या मनुष्य की मूल प्रवृत्ति सृजनात्मक होने के बजाय विध्वंसात्मक है ?

आज राष्ट्रीय रंगमंच ही नहीं, सम्पूर्ण जन-मानस त्रस्त है। विश्व युद्धों के सृजन में संलग्न कूटनीति और सर्वनाशी आणविक अस्त्रों की घुड़-दौड़ के

१—नवभारत टाइम्स, वार्षिकांक १९७७।

महावीर-दर्शन की इस संक्षिप्त विवेचना के आधार पर हम कह सकते हैं कि समस्त भारतीय दर्शनों में जैन-दर्शन सर्वाधिक प्रभावशाली दर्शन है। इस दर्शन की अनूठी एवं वस्तुनिष्ठ विशेषताएँ हैं। अध्यात्म से सम्वन्धित जड़-चेतन, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, आत्मा-परमात्मा तथा संसार-मुक्ति, सभी का सांगोपांग तर्क-संगत विवेचन तथा तदनुसार जीवन-सर्जन जैन-दर्शन और जैन-धर्म के प्रथम प्रतिपाद्य हैं।

विडम्बना यह कि अन्यान्य दर्शनों की तरह जैन-दर्शन की तात्त्विक विवेचना भी बौद्धिक विलास बनकर रह गई है। आज का चिन्तन वौद्धिक विश्लेषण किंवा वैचारिक परिधि तक सीमित रह गया है। जीवन की सम्पूर्ण व्यावहारिक समस्याओं-अभीप्साओं का समयोचित तथ्यमूलक समाधान दर्शन की परिधि से बाहर रहता जा रहा है। दर्शन की चर्चा केवल तर्क के रूप में जीवन की नहीं, मस्तिष्क की खुराक बनकर रह गई है और दर्शन अपने उद्देश्य (सत्य की खोज) से भटक गया है।

वैज्ञानिक दर्शन

यही कारण है कि पौर्वात्य दार्शनिक चिन्तन-प्रणाली की जटिलताओं एवं दुरुहताओं से आज की जन-चेतना असम्पृक्त-सी होती जा रही है, और पाश्चात्य दार्शनिक चिन्तन, जो आज विज्ञान के रूप में प्रस्तुत है, के प्रति समूचा पौर्वात्य जन-जीवन भी आकर्षित है। तथ्य यह है कि जीवन के चरम एवं परम सत्य का आधार विज्ञान कथमपि नहीं बन सकता। विज्ञान का प्रारम्भ भौतिक जगत् के सत्य तत्त्व की खोज के लिये और तद्द्वारा जीवन में बाह्य सुख-सुविधाओं और सुरक्षा जुटा लेने के लिये हुआ है। किन्तु विज्ञान अपने प्रारंभिक उद्देश्य से भटक कर ठीक विपरीत दिशा की ओर मुड़ गया। उसकी तथाकथित उन्नति, अवनति की पराकाष्ठा बन गई है। आनुमानिक तथ्य के अनुसार संसार के बड़े देशों में वैज्ञानिक प्रयोगों पर होने वाले व्यय का लगभग ६६ प्रतिशत युद्ध और जासूसी के साधनों पर हो रहा है।[१] कैसी विडम्बना है कि जिस विज्ञान से यह अपेक्षा की गई थी कि वह मानव-जाति के लिये अधिक जीवन सामग्री, अधिक रोजगार, अधिक विश्राम और अवकाश, अधिक शान्ति और अधिक सौहार्द तथा पारस्परिक विश्वास का निर्माण करेगा, वही विनाश की सामग्रियों के अम्वार लगाने में नियुक्त है। क्या मनुष्य की मूल प्रवृत्ति सृजनात्मक होने के वजाय विध्वंसात्मक है ?

आज राष्ट्रीय रंगमंच ही नहीं, सम्पूर्ण जन-मानस त्रस्त है। विश्व युद्धों के सृजन में संलग्न कूटनीति और सर्वनाशी आणविक अस्त्रों की घुड़-दौड़ के

१—नवभारत टाइम्स, वार्षिकांक १६७७।

जिस वैज्ञानिक युग में हम जी रहे हैं, इसमें मानवीय मूल्य और मापदण्ड भी बदल गए हैं। लगता है, अब मानवीय अस्तित्व अनिश्चित है। उसमें न तो निश्चितता रह गई है और न निश्चिंतता। यायावरों की तरह हम भटक रहे हैं और अपने ही भविष्य के प्रति आतंकित बने हुए हैं। विज्ञान का तथाकथित विकास यहाँ तक पहुँच गया है कि एक उन्मादी आक्रामक इस धरती की अद्या-वधि संचित सभ्यता को चुटकी बजाते भस्मसात कर सकता है, और समस्त सुरक्षा-साधन निरर्थक होकर ताकते रह सकते हैं।

पाश्चात्य वैज्ञानिक दर्शन की भयावह स्थिति के सुस्पष्ट चिह्न समक्ष होते हुए भी आज सम्पूर्ण जन-चेतना उसी से आप्लावित एवं प्रभावित है तथा पौर्वात्य दर्शन के प्रति एक आम उपेक्षा प्रायः सर्वत्र परिलक्षित हो रही है।

कारण स्पष्ट है कि आज समूचा पौर्वात्य दर्शन केवल वैचारिक सिद्धान्त मात्र रह गया है, और दर्शन जब बौद्धिक परिधि में ही आबद्ध होकर युगीन समस्याओं का समुचित समाधान प्रस्तुत करने में अक्षम हो जाता है, तो वह दर्शन की व्युत्पत्ति मूलक परिभाषा से ही कट जाता है।

यह कहा जा चुका है कि दर्शन का अर्थ केवल बौद्धिक व्यायाम ही नहीं है। जीवन की मौलिक समस्याओं के समाधान पर दृष्टि-बोध देना भी दर्शन के कार्य क्षेत्र में आता है। इस अर्थ में दर्शन विचार एवं तदनुरूप आचार का भी उत्प्रेरक होता है।

वर्तमान चिन्तन इस बात का प्रबल साक्षी बनता जा रहा है कि आज दर्शन का कार्य-क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत हो चुका है और उसकी उपयोगिता भी बढ़ चुकी है, किन्तु आवश्यकता है दर्शन को अपने पुरातन रूढ़ अर्थों की परिधि से बाहर निकाल कर उसे युगानुकूल शैली एवं भाषा में प्रस्तुत करने की। आज का जन-जीवन वैषम्य की जिस ज्वाला में झुलस रहा है, दर्शन के समक्ष यह एक ज्वलन्त चुनौती है। दृष्टिकोण और आचार का संयोजन तो विज्ञान की बुनियाद है, किन्तु जब ध्वस्त आचार पर कोई दर्शन प्रस्तुत कर दिया जाता है, तो उसकी परिणति बड़ी शोचनीय हो जाती है। वही बात आज के वैज्ञानिक भौतिकवादी दर्शन की हो रही है, जो कुटिल युद्ध नीति के अत्याचारी जबड़ों में आ फँसा है।

दर्शन का वर्तमान रूप : समता दर्शन

श्रद्धेय आचार्य देव ने समता दर्शन की जो विचार-प्रणाली प्रस्तुत की है,

वह निश्चित ही दर्शन-जगत् की जीवन्त माँग को पूरी कर सकती है और दर्शन-क्षेत्र के प्रति जो एक उपेक्षा का भाव सर्वत्र व्याप्त हो रहा है, उसे समाप्त करने में योगदान कर सकती है।

आचार्य श्री ने युगीन समस्याओं को अपने अध्यात्म-चिन्तन के व्यापक फलक पर लेकर तोला है और पाया है कि जब तक दर्शन को समता के धरातल पर युगान्तरकारी रूप में प्रस्तुत नहीं किया जाएगा, तब तक दर्शन के प्रति विश्व-मानस आश्वस्त नहीं हो सकता।

वर्तमान का भयावह विज्ञान

मेरी अपनी दृष्टि से, ऐसे समय में, समता दर्शन की उपयोगिता और अधिक बढ़ जाती है, जबकि समूचा वायुमण्डल विषमता के विष से संपृक्त एवं विस्फोटक बन गया है। आज इस अध्यात्म-प्रधान सांस्कृतिक मानवीयता के नीलाकाश में भौतिकवाद का विस्फोटक गुब्बारा अपनी चरम सीमा तक फूल कर विनाश के कगार तक पहुँचने को है, क्योंकि मानवीय सभ्यता एवं संस्कृति को भूमिसात करने वाले विध्वंसक अणुओं के ढेर पर हर राष्ट्र का अहं ताण्डव नृत्य कर रहा है। सभ्यता और संस्कृति के श्वासों की धड़कन सीमातीत रूप से तीव्र हो चली है। पता नहीं कौन-सा क्षण उसके पर्यवसान की घण्टी बजा दे।

दो प्रलयंकारी महायुद्धों के दुष्परिणाम हम देख चके हैं। तीसरे महायुद्ध के घनघोर बादल भी जब कभी तथाकथित राष्ट्राधिपतियों के अमानवीय अन्तराकाश में मंडराने लगते हैं। शीतयुद्ध तो प्रायः चलते ही रहते हैं।

ब्रिटिश विज्ञान-शास्त्री गार्डरेटरेटेलर ने अपनी पुस्तक "द बायलाजिकल टाइम बम" में कीटाणु-युद्ध की विभीषिकाओं का दिग्दर्शन कराते हुए लिखा है, "अब इन आयुधों के प्रहार से यह संभव हो गया है कि किसी देश को शारीरिक और मानसिक दृष्टि से स्थायी तौर से दुर्बल बनाकर शताब्दियों तक पराधीन रखा जा सके। यह कितनी चिन्ताजनक दयनीय और अमानवीय स्थिति होगी ? अमेरिकी कृमिविज्ञानी साल्वे डोर लूरिया ने यह आशंका व्यक्त की है कि अब सिर्फ राजनेता ही नहीं सामान्य रसायनवेत्ता भी किसी देश अथवा समस्त विश्व को बर्बाद करने की शक्ति से सुसज्जित हो गये हैं। इससे सार्वभौम विनाश को रोक सकना और भी अधिक जटिल हो गया है।"

कितनी दर्दनाक एवं भयावह स्थिति में पहुँच गई, हमारी मानवीय सभ्यता ! आज जिधर दृष्टि दौड़ाई जाय, उधर ही विषमता एवं अशान्ति का दौर-दौरा मानव-मानव के अन्तःकरण को घेरे खड़ा है। मानवता टुकड़ों-टुकड़ों में विभक्त हो चुकी है। हिंसा का दानव मानवीय हृदयों को कुचलकर सभ्यता और संस्कृति के रहे-सहे चिह्नों को भी दुर्दश्य किंवा अदृश्य बना देना चाहता है।

इस विस्फोटक परिस्थिति का संवेदन राजनैतिक एवं दार्शनिक मनीषियों के आशंकित हृदयों को विगत तीन दशों से अत्यधिक झकझोर रहा है। राजनीतिज्ञों की मनश्चेतना व्याकुल हो रही है। दार्शनिकों एवं संस्कृति-संरक्षकों ने सावधान और सचेत होकर फूँक-फूँक कर पैर धरने के स्वर उठाये हैं, राजनीतिज्ञों ने जलावर्त्तों से बचते हुए नौका खेने का आग्रह प्रदर्शित किया है।

राजनीतिज्ञों द्वारा समाधान

अन्तश्चेतना को उद्वेलित करने वाले इन दृश्यों को देखकर विभिन्न राजनीतिज्ञ भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से समस्याओं पर समाधान पाने का निष्फल प्रयास कर रहे हैं। कोई समाजवाद का नारा लगाता है, तो कोई राजतन्त्र का। किन्हीं की दृष्टि कम्युनिज्म पर ही केन्द्रित हो जाती है, तो कोई पूँजीपति बनकर शान्ति को हस्तगत करना चाहता है। लेनिनवाद, माओवाद के मनमोहक नारे लगाये जा रहे हैं।

ऐसे समय में आवश्यकता है एक ऐसे शान्तिदूत की जो महावीरवत समतापूत, बुद्धवत करुणापूत और जीससवत सेवापूत हो, जिसकी समग्र अन्तश्चेतना अहिंसा एवं समता की अन्तश्चेतना हो, जिसका प्रत्येक उद्घोष अहिंसक क्रान्ति के साथ समता का सिंहनाद करने वाला हो, जिसकी हर प्रक्रिया अहिंसात्मक समता की गहराई हो, जिसके जीवन के अणु-अणु से मुखरित होता हुआ समता का समवेत स्वर विषमता से आप्लावित जन-जन के कर्ण-कुहरों को अजस्र वाहिनी समताधारा से भरनेवाला हो, किन्तु समस्या यह है कि उस समता-सर्जक अथवा दर्शक की खोज प्रायः भौतिक, सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में ही की जा रही है। आध्यात्मिक क्षेत्र की ओर से प्रायः सभी अन्वेषकों की दृष्टि वन्द हो चुकी है जबकि शान्ति एवं समता का वास्तविक प्रवाह-स्रोत अध्यात्म ही है।

जब तक इन उद्जन एवं हाइड्रोजन विस्फोटकों की सर्वनाशकारी प्रतिस्पर्धा का अन्त न आ जाए और उन चिन्तकों की दृष्टि, जो अभी तक भौतिक शक्ति में ही परिवद्ध रही है, मुड़कर अध्यात्म की ओर करवट न ले ले, स्थायी शान्ति का सूत्र हस्तगत नहीं किया जा सकता।

आश्चर्य तो इस वात का है कि अन्तश्चेतना में सन्निहित शान्ति का अन्वेषण चन्द्रलोक, मंगलग्रह एवं समुद्र की अतल गहराइयों में किया जा रहा है। शान्ति वाहर नहीं है, अन्तर में उपलब्ध होगी। आवश्यकता है, दृष्टि-परिवर्तन अथवा दृष्टि-समन्वय की।

वैसे राजनीतिज्ञों द्वारा शान्ति-स्थापन के छुटपुट प्रयास राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में यदाकदा दृष्टिगत होते रहे हैं। हिंदुस्तान-पाकिस्तान का

ताशकंद समझौता उसी प्रयास की एक कड़ी कहा जा सकता है, किन्तु जब तक सर्वमान्य मानवीय धरातल का सैद्धान्तिक भूमिका के रूप में गठन नहीं किया जाये, ये छुटपुट प्रयास प्राणवान बनकर स्थायित्व ग्रहण नहीं कर सकते।

अध्यात्मवादियों के छुटपुट प्रयास

आध्यात्मिक क्षेत्र में भी स्थायी विश्व शान्ति की उपलब्धि हेतु विभिन्न विचारात्मक एवं समायोजनात्मक प्रयास किये गये व किये जा रहे हैं, किन्तु वहाँ भी कहीं साम्प्रदायिक हठाग्रह के घेरे में तो कहीं व्यक्तिगत अहं के सम्पोषण एवं संवर्धन में ही अवरुद्ध होकर प्रायः वे प्रयास इति श्री प्राप्त करते रहे हैं।

आचार्य श्री द्वारा स्थायी समाधान

सम्भवतः इन्हीं दृष्टिकोणों को सन्मुख रखते हुए जैन-दर्शन को भाषा एवं शैली की दृष्टि से नूतन परिवेश प्रदानकर तथा उसे वैचारिकता की एकान्त परिधि से बाहर निकालकर स्थायी विश्वशान्ति के अमोघ उपाय प्रशस्त करने के लिये एवं मानव-मानव में परिव्याप्त विषमता का सफल समाधान देने हेतु राष्ट्र के महान् मनीषी, सन्त, युगपुरुष, अध्यात्म जगत् के प्रखर चिन्तक, दार्शनिक गरिमा से युक्त, समतादर्शन एवं समता-समाज के सृजेता तथा व्याख्याता, तपःपूत, समतासागर, आचार्यवर्य श्री नानालाल जी म० सा० ने समता-दर्शन का सिद्धांत प्रस्तुत किया है। आचार्यश्री द्वारा प्रस्तुत समता-दर्शन वैचारिक, दार्शनिक एवं व्यावहारिक क्षेत्रों में समता का समुद्घोष कर अहिंसक उत्क्रांति का आधार रखने वाला, साम्प्रदायिक घेरे-बन्दियों से मुक्त, वैचारिक और व्यावहारिक रूपरेखा तैयार करने वाला है। यदि चिन्तकों, दार्शनिकों तथा समाज व राष्ट्र के कर्णधारों की चेष्टाएँ इस दर्शन के अनुरूप हों, तो मैं समझता हूँ कि, निर्विवादेन विश्व शान्ति का प्रयास एक आश्वस्त दिशा पा सकता है। इसके साथ ही दर्शनजगत् अपने नव्य-भव्य रूप में पुनः स्थायी आलोक-स्तम्भ के रूप में प्रस्तुत हो सकता है।

आचार्य श्री की चिन्तन-प्रणाली सम्प्रदायवाद तथा व्यक्तिवाद से उन्मुक्त आत्मिक एवं मानवीय मूल्यों को स्पर्श करने वाली है। उनका जीवन चिरपोषित साधना का जीवन है। उनकी साधना एक सच्चे योगी की अनुभूतिपूर्ण साधना है। अतः उनके तपःपूत मानस से निःसृत चिरसंचित अनुभूतियों से नियोजित समता दर्शन की विचार-भागीरथी जन-जन के हृदय-क्षेत्र में परिव्याप्त विषमता-जन्य शुष्कता को समता की सरसब्जता में अवश्य ही बदल सकती है।

आचार्य प्रवर ने अपनी साधना के समुज्ज्वल अतीत में जो कुछ चिन्तन, मनन एवं अनुभव किया है उसी से समता दर्शन की विचारधारा का आकलन

प्रस्तुत हुआ है। समता दर्शन एक स्पष्ट दार्शनिक एवं व्यावहारिक विचार-धारा है। यह वैचारिक हवाई महलों का निर्माण नहीं है, जहाँ केवल विचार, विचार तक सीमित रह जाय। जीवन की समस्याओं का स्थायी समाधान केवल वैचारिक उत्क्रान्ति से ही नहीं होगा। उसके लिये जीवन के व्यवहारों की ओर भी दृष्टि दौड़ानी होगी। इन्हीं दृष्टियों को सम्मुख रखते हुए समता दर्शन की विचार-सरणि में सैद्धांतिक एवं दार्शनिक पहलुओं के साथ-साथ व्यावहारिक (Practical) प्रयोगात्मक प्रणालियों का भी समुचित समायोजन किया गया है। संक्षेप में हम यों कह सकते हैं, वर्तमान विषमताजन्य समस्याओं का स्थायी समाधान समता दर्शन की दार्शनिक तथा व्यावहारिक पृष्ठभूमि के आधार पर ढूँढ़ा जा सकता है।

समता दर्शन का उद्देश्य

समता दर्शन का प्रतिपाद्य (उद्देश्य) आध्यात्मिक (धार्मिक), सामाजिक, नैतिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में परिव्याप्त विषमताओं का वैचारिक तथा प्रवृत्त्यात्मक स्थायी समाधान प्रस्तुत कर जन-जन में समत्व, समन्वय, सामंजस्य, सर्वधर्म सद्भाव एवं भावात्मक एकता की प्रबल भावनाओं का विस्तार करना है।

आधुनिक संदर्भ में युगीन पुकार के आधार पर यह नितान्त वांछनीय भी है कि समता, समन्वय, मैत्री एवं सद् एकत्व की भावना जन-जनव्यापी बने। किन्तु इसके लिये पहले एक सुदृढ़ पृष्ठभूमि चाहिये। संशुद्ध वैचारिक भूमिका पर ही कर्मबीज पल्लवित हो सकता है। "यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी" के अनुसार जैसी विचार-निष्ठा होगी, कर्म-प्रस्फुटन भी तदनुरूप ही होगा। अतः समन्वय और समतामूलक व्यवहार अपने लिये एक ऐसी भूमिका चाहते हैं जो एतन्मूलक विचारों से ओतप्रोत हो।

यह तभी संभव है, जबकि प्रबुद्ध जन-मानस समता-दर्शन की वैचारिक पृष्ठभूमिका की परिचिति प्राप्त कर लोकव्यापी अहिंसक सत्संगठनात्मक आंदोलन द्वारा उसके व्यावहारिक क्रियात्मक रूप को विचार, उच्चार एवं आचार द्वारा आत्मसात् करने का सबल प्रयास करे।

उसके सामान्य परिचय (परिबोध) के लिये समता-दर्शन की वैचारिक एवं व्यावहारिक रूपरेखा "समता-दर्शन और व्यवहार" नामक ग्रंथ में साधुमार्गी जैन संघ द्वारा प्रस्तुत की गई है। यह आचार्यदेव के चिन्तन का व्याख्यान बद्ध अनुलेख है।

आचार्य श्री द्वारा प्रतिपादित समता-दर्शन के उद्देश्य एवं विधेय को हृदयंगम करने के लिये यह आवश्यक है कि उसके मूल सिद्धांतों पर दृष्टिपात

किया जाए। समता-दर्शन के प्रारंभिक प्रतिपादन में सूत्रात्मक शैली के आधार पर आचार्य श्री ने समता-दर्शन को चार सोपानों में विभक्त किया है। इन सूत्र-स्पर्शों की विस्तृत विवेचना आचार्य श्री अपने प्रवचनों में किया करते हैं। यहाँ प्रस्तुत है आचार्य श्री के शब्दों एवं विचारों में ही समता-सिद्धांत का मूल सूत्रात्मक रूप।

समता-दर्शन के चार मुख्य विभाग किये जा सकते हैं—

(१) सिद्धान्त-दर्शन　　　　(२) जीवन-दर्शन
(३) आत्म-दर्शन और　　　　(४) परमात्म-दर्शन

(१) सिद्धान्त-दर्शन :

मानव ही नहीं, प्राणि समाज से संबंधित सभी क्षेत्रों में यथार्थ की दृष्टि, वस्तुस्वरूप के उत्तरदायित्व तथा शुद्ध कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान एवं सम्यक्, सर्वांगीण व सम्पूर्ण चरम विकास की साधना समता सिद्धान्त का मूलाधार है। इस प्रथम सोपान पर सिद्धान्त को प्रमुखता दी गई है।

(क) समग्र आत्मीय शक्तियों के सम्यक् और सर्वांगीण चरम विकास को सदा-सर्वत्र सम्मुख रखना।

(ख) समस्त दुष्प्रवृत्तियों के त्यागपूर्वक सत्साधना में विश्वास रखना।

(ग) समस्त प्राणिवर्ग का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करना।

(घ) समस्त जीवनोपयोगी पदार्थों के यथाविकास यथायोग्य सम-वितरण में विश्वास रखना।

(ङ) गुण एवं कर्म के आधार पर विश्वस्थ प्राणियों के श्रेणीविभाग में विश्वास रखना।

(च) द्रव्य-सम्पत्ति व सत्ता-प्रधान व्यवस्था के स्थान पर चेतना तथा कर्तव्यनिष्ठा को प्रमुखता देना।

(२) जीवन-दर्शन :

सबके लिए एक व एक के लिए सब तथा जीओ व जीने दो के प्रतिपादक सिद्धान्तों तथा संयम-नियमों को स्वयं के व समाज के जीवन में आचरित करना समता का जीवन्त दर्शन करना होगा।

(क) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और सापेक्षवाद (स्याद्वाद) को जीवन में उतारना।

(ख) जिस पद पर जीवन रहे, उस पद की मर्यादा को प्रामाणिकता से वहन करने का ध्यान रखना।

(३) आत्म-दर्शन :

विश्व में मुख्य दो तत्त्व हैं—एक चेतन तत्त्व और दूसरा जड़ तत्त्व। चेतन तत्त्व स्व-पर-प्रकाश-स्वरूप है और जड़ तत्त्व उससे भिन्न है। इन दोनों तत्त्वों के सम्मिश्रण से कर्म-युक्त संसारी प्राणी-जगत् है। इसमें व्यवस्थित न्यूनाधिक कलापूर्ण विकासशीलता आत्मा का प्रतीक है और घुणाक्षर-न्याय के तरीके से बननेवाली स्थिति का प्रतीक प्रायः जड़ तत्त्व है।

सम्यक् आचरण से आत्मा का साक्षात्कार चिन्तन, मनन व स्वानुभूति द्वारा करना आत्म-दर्शन है। इसके लिये निम्नोक्त भावना एवं नियमितता आवश्यक है—

(क) प्रातःकाल सूर्योदय के पहले कम-से-कम एक घण्टा आत्म-दर्शन के लिये निर्धारित करना।

(ख) जो भी घण्टा, जिन मिनिटों से नियुक्त किया जाये, ठीक उन्हीं मिनिटों का हमेशा ध्यान रखकर साधना में बैठना।

(ग) साधना के समय पापकारी प्रवृत्तियों का निरोध करना और सत्प्रवृत्तियों को आचरण में लाना।

(घ) समस्त प्राणिवर्ग को आत्मा के तुल्य समझना।

जैसा सुख-दुःख अपने को होता है अर्थात् सुख प्रिय और दुःख अप्रिय लगता है, वैसा ही अन्य प्राणियों को भी होता है। अतः हम किसी को दुःख न दें। सबको सुख हो, इस भावना से अपनी सम्यक् प्रवृत्ति का ध्यान रखना।

किसी भी जीव को हनन करने की भावना रखना अपने आपका हनन करना है। दूसरों के सुख में अपना सुख समझना और कष्ट में अपना कष्ट समझना परमावश्यक है। इस प्रकार आत्म-दर्शन की भावना को यथास्थान सम्यक् रीति से आगे बढ़ाते रहना चाहिये तथा इन भावनाओं को पुष्ट करने के लिए सत्साहित्य का यथावकाश अध्ययन करना चाहिये।

(४) परमात्म-दर्शन :

रागद्वेष, आदि विकारों के समूल नाशपूर्वक चरम विकास पर पहुँचने वाली आत्मा सही अर्थ में परमात्म-दर्शन को प्राप्त होती है और परमात्म-दर्शन पद प्राप्त आत्मा ही समग्र आत्मीय तथा अनन्त गुणों का उपयोग करती हुई जगत् में मंगलमय कल्याण अवस्था की आदर्श स्थिति उपस्थित करती है।

इस विषय में निरन्तर ध्यान रखते हुए जो व्यक्ति क्रमिक विकास पर चलता है, वह समता-दर्शन की स्थिति से विश्व-कल्याण में महत्त्वपूर्ण योगदान करता है। अतः समता-दर्शन को परिपूर्ण रूप से जीवन में उतारना चाहिये।

उपर्युक्त चार सूत्र रूप सोपानों को माध्यम बनाकर आचार्यश्री अपने प्रवचनों में समता-समाज की सर्जना के लिये मौलिक प्रकाश डालते हैं, जिसका सीधा सम्बन्ध वर्तमान की विषमताजन्य विभीषिका के समाधान से होता है। आचार्य देव सचोट, किन्तु स्पष्ट शब्दों में फरमाया करते हैं कि असमानता के नाम से जो सर्वव्यापी विषमता चारों तरफ फैली हुई है, वही जन-जीवन में घृणा, द्वेष, दौर्मनस्य एवं असन्तोष का कारण बनी हुई है। अतः इस स्थिति से उपराम पाने के लिये समता-दर्शन के माध्यम से समता-समाज का निर्माण नितान्त अपेक्षित है। जन-जन में व्याप्त विषमता की आग की उप-शान्ति के लिये समता-सिद्धान्त-सरिता का शीतल जल ही एक अमोघ उपाय सिद्ध हो सकता है।

समता-सिद्धान्त के प्रतिपादन का मूल उद्देश्य है, विषमताजन्य द्वन्द्वों से उपराम पाना। वर्तमान विषमता की अग्नि का चित्रण आचार्यश्री के भावों में ही प्रस्तुत है।

वर्तमान विषमता की विभीषिका

आज सारे संसार में विषमता की सर्वग्राही आग धू-धू करके जल रही है। जहाँ दृष्टि जाती है, वहीं दिखाई देता है कि हृदय में अशान्ति, वचन में विश्रृंखलता एवं जीवन में स्वार्थ की विक्षिप्तता ने सब ओर मनुष्यता के कोमल और हार्दिक भावों को आच्छादित कर दिया है। ऐसा लगता है कि चंचलता में गोते लगाता हुआ मनुष्य का मन भ्रष्टता एवं विकृति के गर्त की ओर निरन्तर अग्रसर होता ही चला जा रहा है।

सर्वव्यापी विषमता

अमावस्या की मध्य रात्रि का अन्धकार जैसे सर्वव्यापी हो जाता है, वैसी ही सर्वव्यापी यह विषमता हो रही है। क्या व्यक्ति के हृदय की आन्तरिक गहराइयों में, तो क्या बाह्य संसार में, व्यक्ति से लेकर परिवार, समाज, राष्ट्र एवं समूचे विश्व में प्रायः यह विषमता फैलती जा रही है—गहराती जा रही है।

विषभरी यह विषमता सबसे पहले मानव-हृदय की भीतरी परतों में घुस कर उसे क्षत-विक्षत बनाती है और हृदय की सौजन्यता तथा शालीनता को

नष्ट कर देती है। जो हृदय समता की रसधारा में समरस बनकर न केवल अपने भीतर, बल्कि बाहर भी सब ठौर आनन्द की उमंग उत्पन्न कर सकता है, वही हृदय विषमता की आग में जलकर स्वयं तो काला-कलूटा बनता ही है, किन्तु उस कालिमा को बाह्य वातावरण में भी चारों ओर विस्तारित कर देता है।

फैलाव व्यक्ति से विश्व तक

यह विषमता इस तरह व्यक्ति के हृदय में पोषण प्राप्त करके जब बाहर फूटती है, तो उसका सबसे पहला आक्रमण परिवार पर होता है, क्योंकि परिवार ही आधारगत घटक है। परिवार में जो रक्त-प्रभाव का सहज स्नेह होता है, वह भी विषम विचारों एवं वृत्तियों में पड़कर विषाक्त बन जाता है।

परिवार की सहृदयता एवं स्नेहिल वृत्ति को लूटती हुई विषमता जब आगे फैलती है, तो वह समाज और राष्ट्र के विभिन्न क्षेत्रों में भेद-भाव व पक्ष-पात की असंख्य दीवारें खड़ी कर देती है और पग-पग पर पतन की खाइयाँ खोद देती है। जिन क्षेत्रों से वास्तव में दुर्बलता के क्षणों में मनुष्य को सम्हलने और उठने का सहारा मिलना चाहिये, वे ही क्षण आज उसकी अपनी ही लगाई हुई आग में जलते हुए उसकी जलन में वृद्धि ही कर रहे हैं।

सहकार के सूत्र में अतीत से बंधे हुए भारत पर ही यदि दृष्टिपात करें, तो क्या यह स्पष्ट नहीं होगा कि ज्यों-ज्यों सब ओर विषमता पसरती जा रही है, त्यों-त्यों सहकार की कड़ियाँ ही नहीं टूट रही हैं बल्कि मानवीय सद्‌गुणों का शनैः शनैः ह्रास भी होता चला जा रहा है। विषमता के वशीभूत होकर क्या आज सामान्यतया भारतीय जन हृदयहीन, गुणहीन और कर्त्तव्यहीन नहीं होता जा रहा है?

जहाँ विभिन्न राष्ट्र विषमता के जाल में ग्रस्त होकर अपने स्वार्थों को अन्तर्राष्ट्रीय हित से ऊपर उठाते जा रहे हैं, तो उसका स्वाभाविक परिणाम सबके सामने है। वियतनाम-युद्ध, जो अभी-अभी समाप्त हुआ है, क्या मानव सभ्यता के भाल पर सदैव कलंक के रूप में नहीं बना रहेगा, जहाँ व्यक्तियों और राष्ट्रों की पशुता ने नंगा नृत्य किया था। युद्ध और विनाश—यह विश्व-गत विषमता का खुला परिणाम होता है। और नित प्रति प्रकट होने वाले परिणामों से स्पष्ट रूप से माना जा सकता है कि व्यक्ति से लेकर विश्व तक समूचे रूप से प्रायः यह विषमता फैली हुई है। इसने विश्व के कोने-कोने में आत्मीयता का मरण-घण्टा बजा दिया है।

बहुरूपी विषमता

जितने क्षेत्र—उससे कई गुनी भेद की दीवारें—इस विषमता के कितने रूप हैं—यह जानना भी आसान नहीं है।

राजनीति के क्षेत्र में नजर फैलावें, तो लगता है कि सैकड़ों वर्षों के कठिन संघर्ष के बाद मनुष्य ने लोकतंत्र के रूप में समानता के कुछ सूत्र बटोरे, किन्तु विषमता के पुजारियों ने मत जैसे समानाधिकार के पवित्र प्रतीक को भी ऐसे व्यवसाय का साधन बना दिया है कि प्राप्त राजनीतिक समानता भी जैसे निरर्थक होती जा रही है। वैसे मत का समानाधिकार साधारण उपलब्धि नहीं है, इससे स्वस्थ परिवर्तन का चक्र घुमाया जा सकता है। किन्तु देश में यही चक्र किस दिशा में घुमाया गया और किस तरह घूम रहा है—यह सर्वविदित है।

विषमता के पंक में से राजनीति का उद्धार तो नहीं हुआ सो न सही, किन्तु वह तो जब इस दलदल में गहरी डूबती जा रही है, तब आर्थिक क्षेत्र में समता लाने के सशक्त प्रयास किये जा सकें—यह और भी अधिक कठिन हो गया है। राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में आर्थिक प्रगति के सारे दावों के बावजूद इस क्षेत्र की विषमता बेहद बढ़ी है। एक ओर भव्य भवनों में ऐश्वर्य तथा विलास के झूलों में झूलते इठलाते हुए अति अल्पसंख्यक नागरिक तो दूसरी ओर जीवन के आधार-भूत आवश्यक पदार्थों—साधारण भोजन, वस्त्र एवं निवास से भी वंचित, कठिनाइयों एवं कष्टों में जर्जर बने करोड़ों नर-कंकालों का विवश और असहाय समूह। यह कैसी दर्दनाक विषमता है?

विज्ञान का विकास और विषमता

यह कहना सर्वथा उचित ही होगा कि अनियंत्रित विज्ञान के विकास ने मानव-जीवन को असन्तुलित बना दिया है और यह असन्तुलन नित प्रति विषमता को बढ़ाता जा रहा है। विज्ञान जहाँ वास्तव में निर्माण का साधन बनना चाहिये, वहाँ वह उसके दुरुपयोग से विनाश और महाविनाश का साधन बनता जा रहा है।

विज्ञान तो विशेष ज्ञान का नाम है और भला स्वयं ज्ञान और विज्ञान विनाशकारी कैसे बन सकता है? उसे विनाशकारी बनाने वाला है उसका अनियंत्रण अथवा उसका दुष्प्रवृत्तियों के बीच संरक्षण। उस्तरे से हजामत बनाई जाती है, मगर वही अगर बन्दर के हाथ में पड़ जाये तो वह उससे किसी का भी गला काट सकता है।

विषमताजन्य समाज में विज्ञान का जितना विकास हुआ है, वह बराबर बन्दर स्वभावी लोगों के हाथ में पड़ता रहा है। आखिर विज्ञान एक शक्ति है, इसके नये-नये अन्वेषण और अनुसंधान शक्ति के नये-नये स्रोतों को प्रगट करते हैं। ये ही स्रोत अगर सदाशयी और त्यागी लोगों के नियंत्रण में आ जायें, तो उनसे समता की ओर गति की जाकर सामूहिक कल्याण की साधना की जा सकती है। परन्तु आज तो यह शक्ति स्वार्थ और भोग के पंडों के हाथों में है, जिसका परिणाम है कि तत्त्व अधिक-से-अधिक शक्तिशाली होकर इस शक्ति का अपनी सत्ता और अपना वर्चस्व बढ़ाने में प्रयोग कर रहे हैं।

शक्ति स्रोतों का असन्तुलन

वैज्ञानिक शक्तियों का यह दुरुपयोग, सभी क्षेत्रों में निरन्तर विषमता में वृद्धि करता जा रहा है। हमारी संस्कृति का जो मूलाधार गुण और कर्म पर टिकाया गया था, वह इस असन्तुलित वातावरण के बीच उखड़ता जा रहा है। शक्ति-स्रोतों के इस असन्तुलन का सीधा प्रभाव यह दिखाई दे रहा है कि योग्य को योग्य नहीं मिलता और अयोग्य सारा योग्य हड़प जाता है। योग्य हताश होकर निष्क्रिय होता जा रहा है और अयोग्य अपनी अयोग्यता का तांडव नृत्य कर रहा है।

विलास और विनाश की विषमता

संसार की बाह्य परिस्थितियों में विलास और विनाश की विषमता आज पतन के दो अलग-अलग कगारों पर खड़ी हुई है। विलास की कगार पर खड़ा इन्सान अट्टहास कर रहा है तो विनाश की कगार पर खड़ा इन्सान इतना व्यथाग्रस्त है कि दोनों को यह भान नहीं है कि वे किसी भी क्षण पतन की खाई में गिर सकते हैं।

एक विहंगावलोकन करें इस विषम दृश्य पर कि स्वार्थ और भोग की लिप्सा के पीछे पागलपन किस सीमा तक बढ़ता जा रहा है। भारतीय दर्शन-शास्त्रों ने तृष्णा को वैतरणी नदी कहा है, ऐसी नदी जिसका कहीं अन्त नहीं।

तैरते जाइये, तैरते—न कूल, न किनारा। एक पश्चिमी दार्शनिक ने भी इसी दृष्टि से मनुष्य को उसकी स्वार्थ वृत्ति के कारण भेड़िया कहा है। यह वृत्ति जितनी अनियंत्रित होती है, उतनी ही यह विनाश रूपी होती हुई अधिकाधिक भयावह होती जाती है।

वर्तमान युग में सन्तोष की सीमाएँ टूट गई हैं और वितृष्णा व्यापक हो रही है। जिसके पास कुछ नहीं है—वह आवश्यकता के मारे कुछ पाना चाहता

बहुरूपी विषमता

जितने क्षेत्र—उससे कई गुनी भेद की दीवारें—इस विषमता के कितने रूप हैं—यह जानना भी आसान नहीं है।

राजनीति के क्षेत्र में नजर फैलावें, तो लगता है कि सैकड़ों वर्षों के कठिन संघर्ष के बाद मनुष्य ने लोकतंत्र के रूप में समानता के कुछ सूत्र बटोरे, किन्तु विषमता के पुजारियों ने मत जैसे समानाधिकार के पवित्र प्रतीक को भी ऐसे व्यवसाय का साधन बना दिया है कि प्राप्त राजनीतिक समानता भी जैसे निरर्थक होती जा रही है। वैसे मत का समानाधिकार साधारण उपलब्धि नहीं है, इससे स्वस्थ परिवर्तन का चक्र घुमाया जा सकता है। किन्तु देश में यही चक्र किस दिशा में घुमाया गया और किस तरह घूम रहा है—यह सर्वविदित है।

विषमता के पंक में से राजनीति का उद्धार तो नहीं हुआ सो न सही, किन्तु वह तो जब इस दलदल में गहरी डूबती जा रही है, तब आर्थिक क्षेत्र में समता लाने के सशक्त प्रयास किये जा सकें—यह और भी अधिक कठिन हो गया है। राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में आर्थिक प्रगति के सारे दावों के बावजूद इस क्षेत्र की विषमता बेहद बढ़ी है। एक ओर भव्य भवनों में ऐश्वर्य तथा विलास के झूलों में झूलते इठलाते हुए अति अल्पसंख्यक नागरिक तो दूसरी ओर जीवन के आधार-भूत आवश्यक पदार्थों—साधारण भोजन, वस्त्र एवं निवास से भी वंचित, कठिनाइयों एवं कष्टों में जर्जर बने करोड़ों नर-कंकालों का विवश और असहाय समूह। यह कैसी दर्दनाक विषमता है ?

विज्ञान का विकास और विषमता

यह कहना सर्वथा उचित ही होगा कि अनियंत्रित विज्ञान के विकास ने मानव-जीवन को असन्तुलित बना दिया है और यह असन्तुलन नित प्रति विषमता को बढ़ाता जा रहा है। विज्ञान जहाँ वास्तव में निर्माण का साधन बनना चाहिये, वहाँ वह उसके दुरुपयोग से विनाश और महाविनाश का साधन बनता जा रहा है।

विज्ञान तो विशेष ज्ञान का नाम है और भला स्वयं ज्ञान और विज्ञान विनाशकारी कैसे बन सकता है ? उसे विनाशकारी बनाने वाला है उसका अनियंत्रण अथवा उसका दुष्प्रवृत्तियों के बीच संरक्षण। उस्तरे से हजामत बनाई जाती है, मगर वही अगर बन्दर के हाथ में पड़ जाये तो वह उससे किसी का भी गला काट सकता है।

विषमताजन्य समाज में विज्ञान का जितना विकास हुआ है, वह बराबर बन्दर स्वभावी लोगों के हाथ में पड़ता रहा है। आखिर विज्ञान एक शक्ति है, इसके नये-नये अन्वेषण और अनुसंधान शक्ति के नये-नये स्रोतों को प्रगट करते हैं। ये ही स्रोत अगर सदाशयी और त्यागी लोगों के नियंत्रण में आ जायें, तो उनसे समता की ओर गति की जाकर सामूहिक कल्याण की साधना की जा सकती है। परन्तु आज तो यह शक्ति स्वार्थ और भोग के पंडों के हाथों में है, जिसका परिणाम है कि तत्त्व अधिक-से-अधिक शक्तिशाली होकर इस शक्ति का अपनी सत्ता और अपना वर्चस्व बढ़ाने में प्रयोग कर रहे हैं।

शक्ति स्रोतों का असन्तुलन

वैज्ञानिक शक्तियों का यह दुरुपयोग, सभी क्षेत्रों में निरन्तर विषमता में वृद्धि करता जा रहा है। हमारी संस्कृति का जो मूलाधार गुण और कर्म पर टिकाया गया था, वह इस असन्तुलित वातावरण के बीच उखड़ता जा रहा है। शक्ति-स्रोतों के इस असन्तुलन का सीधा प्रभाव यह दिखाई दे रहा है कि योग्य को योग्य नहीं मिलता और अयोग्य सारा योग्य हड़प जाता है। योग्य हताश होकर निष्क्रिय होता जा रहा है और अयोग्य अपनी अयोग्यता का तांडव नृत्य कर रहा है।

विलास और विनाश की विषमता

संसार की बाह्य परिस्थितियों में विलास और विनाश की विषमता आज पतन के दो अलग-अलग कगारों पर खड़ी हुई है। विलास की कगार पर खड़ा इन्सान अट्टहास कर रहा है तो विनाश की कगार पर खड़ा इन्सान इतना व्यथाग्रस्त है कि दोनों को यह भान नहीं है कि वे किसी भी क्षण पतन की खाई में गिर सकते हैं।

एक विहंगावलोकन करें इस विषम दृश्य पर कि स्वार्थ और भोग की लिप्सा के पीछे पागलपन किस सीमा तक बढ़ता जा रहा है। भारतीय दर्शन-शास्त्रों ने तृष्णा को वैतरणी नदी कहा है, ऐसी नदी जिसका कहीं अन्त नहीं।

तैरते जाइये, तैरते—न कूल, न किनारा। एक पश्चिमी दार्शनिक ने भी इसी दृष्टि से मनुष्य को उसकी स्वार्थ वृत्ति के कारण भेड़िया कहा है। यह वृत्ति जितनी अनियंत्रित होती है, उतनी ही यह विनाश रूपी होती हुई अधिकाधिक भयावह होती जाती है।

वर्तमान युग में सन्तोष की सीमाएँ टूट गई हैं और वितृष्णा व्यापक हो रही है। जिसके पास कुछ नहीं है—वह आवश्यकता के मारे कुछ पाना चाहता

है, लेकिन जिसके पास काफी कुछ है, वह भी और अधिक पा लेने के लिये और पाते रहने के लिये पागल बना हुआ है। जितना वह पाता है, उसकी तृष्णा उससे कई गुनी अधिक बढ़ती जाती है और फिर सारे कर्त्तव्यों को भूलकर वह और अधिक पाना चाहता है। सिर्फ स्वयं के लिये वह पाता रहता है, या यों कहें कि वह लूटता रहता है तो एक शक्तिशाली की लूट का असर हजारों के अभावों में फूटता है। विषमता की दूरियाँ इसी तरह आज तीखी बनती जा रही हैं।

आज आदमी धन की लिप्सा में पागल है, सत्ता की लिप्सा में मत्त बन रहा है, तो यश और झूठे यश की लिप्सा में अपने अन्तर को कालिमामय बनाता जा रहा है। सभी जगह सिर्फ अपने लिये वह लेना ही लेना सीख गया है। भोग उसका प्रधान धर्म बन गया है, त्याग से उसकी निष्ठा उठती जा रही है और यही सारी विषमता का मूल है। आज का व्यापार और व्यवसाय इसी कारण नैतिकता की लीक से हटकर शोषण एवं उत्पीड़न का साधन बनता जा रहा है। धन कम हाथों में अधिक और अधिक हाथों में कम-से-कम होता जा रहा है। इसका नतीजा है कि कुछ सम्पन्न लोग विलास की कगार पर इठलाते हैं, तो अधिक-संख्य जन अपनी प्रतिभा, अपनी गुणशीलता और अपने सामान्य विकास की बलि चढ़ाकर विनाश की कगार पर खड़े हैं।

धन-लिप्सा, सत्ता-लिप्सा में बदल कर और अधिक आक्रामक बन रही है। आँखें मूँदकर सत्ता-लिप्सा अपना अणुबम इस तरह गिराती है कि वहाँ दोषी और निर्दोष के विनाश में भी कोई भेद नहीं है। सत्तालिप्सु एक तरह से राक्षस हो जाता है कि उसे अपनी कुर्सी से मतलब—फिर दूसरों का कितना अहित होता है, यह सब उसके लिये बेमतलब रह जाता है। यश-लिप्सा इस परिप्रेक्ष्य में और अधिक भयानक हो जाती है। ये लिप्सायें ही बड़ा-से-बड़ा रूप धारण करती हुई आज संसार को विषमतम बनाए हुए हैं।

विषमता का मूल कहाँ ?

सारभूत एक वाक्य में कहा जाय तो इस सर्वव्यापिनी पिशाचनी विषमता का मूल मनुष्य की मनोवृत्ति में है। जैसे हजारों गज भूमि पर फैले एक वट वृक्ष का बीज राई जितना ही होता है, उसी प्रकार इस विषमता का बीज भी छोटा ही है, किन्तु है कठिन अवश्य। मनुष्य की मनोवृत्ति में जन्मा और पनपा यह बीज बाह्य और आन्तरिक जगत् में वट वृक्ष की तरह प्रस्फुटित होकर फैलता है और हर क्षेत्र में अपनी विषमता की शाखाएँ एवं उपशाखाएँ विस्तारित करता है।

'समता-दर्शन और व्यवहार' पुस्तक के उपर्युक्त कुछ उद्धरणों से समता-

दर्शन का उद्देश्य सुस्पष्ट प्रकाशित हो जाता है। किन्तु किसी भी सिद्धान्त के उद्देश्य प्रतिपादन से ही समस्याओं का समाधान नहीं हो जाता है, चाहे वे उद्देश्य कितने ही सुन्दर क्यों न हों। अतः उद्देश्य के साथ विधेय एवं उसके क्रियात्मक पक्ष को उजागर करना भी सिद्धान्त की मौलिक प्रतिपादना के लिये आवश्यक है।

प्रस्तुत है आचार्य देव के भावों में ही उपर्युक्त विषमता का स्थायी एवं रचनात्मक समाधान।

एक जटिल प्रश्न ?

"वर्तमान विषमता की विभीषिका में इसलिये यह जटिल प्रश्न पैदा होता है कि क्या व्यक्ति और समाज के जीवन को इस विषमता के चहुँमुखी नागपाश से मुक्त बनाया जा सकता है ? क्या समग्र जीवन को न सिर्फ अन्तर्जगत में, बल्कि बाहर की दुनिया में भी समता, सहयोगिता और सदाशयता पर खड़ा किया जा सकता है ? और क्या उल्लास, उत्साह और उन्नति के द्वार सभी के लिये समान रूप से खोले जा सकते हैं ?

प्रश्न उत्तर मांगता है

"प्रश्न गहरा है—जटिल भी है, किन्तु प्रबुद्ध वर्ग के सद् विवेक पर चोट करने वाला है—काश, कि इसे वैसी ही गहरी अनुभूति से समझने और अपनी कार्य-शक्ति को कर्मठ बनाने का यत्न किया जाये।

यह प्रश्न उत्तर मांगता है—समाधान चाहता है। यह मांग गूँजती है—उत्तर दीजिये, समाधान कीजिये अथवा अपने और अपने समस्त संगठनों के भविष्य को खतरे में डालने के लिये तैयार हो जाइये।

इस गूँज को सुनिये और उत्तर तथा समाधान खोजिये। प्रश्न विषमता का है—उत्तर समता में निहित है।

समतामय जीवन

समता शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न रूपों में लिया जाता है। वैसे मूल शब्द सम है, जिसका अर्थ समान होता है। अब यह समानता जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में किस-किस रूप में हो—इसका विविध विश्लेषण किया जा सकता है।

सबसे पहले आध्यात्मिक क्षेत्र की समानता पर सोचें तो अपने मूल स्वरूप की दृष्टि में सारी आत्माएँ समान होती हैं—चाहे वह एकेन्द्रिय याने अविकसित

प्राणी की आत्मा हो या सिद्ध भगवान् की पूर्ण विकसित आत्मा। दोनों में वर्तमान समय की जो विषमता है, वह कर्मजन्य है। कुविचारों एवं कुप्रवृत्तियों का मैला अविकसित अवस्था में आत्मा के साथ संलग्न होने से उसका स्वरूप भी मैला हो जाता है और जैसे मैले दर्पण में प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई देता, उसी तरह मैली आत्मा भी श्रीहीन बनी रहती है। तो आध्यात्मिक समता यह है कि इस मैल को दूर करके आत्मा को अपने मूल निर्मल स्वरूप में पहुँचाया जाय।

एक-एक आत्मा इस तरह समता की ओर मुड़े तो दूसरी ओर परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व में भी ऐसा समतामय वातावरण बनाया जाय जिसके प्रभाव से समूहगत समता भी सशक्त बनकर समग्र जीवन को समतामुखी बना दे। राजनीति में समानता, अर्थनीति में समानता और समाजनीति में समानता के जब पग उठाये जायेंगे और उसे अधिक-से-अधिक वास्तविक रूप दिया जायेगा, तो समता की द्विधारा बहेगी—भीतर से बाहर और बाहर से भीतर। तब भौतिकता और आध्यात्मिकता संघर्षशील न रहकर एक दूसरे की पूरक बन जायेगी जिसका समन्वित रूप जीवन के बाह्य और अन्तर को समतामय बना देगा।

यह परिवर्तन समाजवाद या साम्यवाद से आवे अथवा अन्य विचार के क्रियान्वयन से—किन्तु लक्ष्य हमारे सामने स्पष्ट होना चाहिये कि मानवीय गुणों की अभिवृद्धि के साथ सांसारिक व्यवस्था में अधिकाधिक समता का प्रवेश होना और ऐसी समता का जो मानव-जीवन के आभ्यन्तर को न सिर्फ सन्तुलित रखे, बल्कि उसे संयम-पथ पर चलने के लिये प्रेरित भी करे। धरातल जब समतल और साफ होता है तो कमजोर आदमी भी उस पर ठीक व तेज चाल से चल सकता है, किन्तु इसके विपरीत अगर धरातल ऊबड़खाबड़ और कँटीला-पथरीला हो तो मजबूत आदमी को भी उस पर भारी मुश्किलों का सामना करना पड़ेगा।

व्यक्ति की सक्षमता का तालमेल यदि सामाजिक विकास के साथ बैठ जाता है तो व्यक्ति की क्षमता भी कई गुनी बढ़ जाती है।

व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध

यों देखा जाय तो समाज कुछ भी नहीं है। व्यक्ति-व्यक्ति मिलकर ही तो समाज की रचना करते हैं, फिर व्यक्ति से विलग समाज का अस्तित्व कहाँ है? किन्तु सभी के अनुभव में आता होगा कि व्यक्ति की शक्ति प्रत्यक्ष दीखती है, फिर भी समूह की शक्ति उससे ऊपर होती है, जो व्यक्ति की शक्ति को नियंत्रित भी करती है। एक व्यक्ति एक संगठन की स्थापना करता है—उसके

नियमोपनियम बनाता है तथा उनके अनुपालन के लिये दण्ड-व्यवस्था भी कायम करता है। एक तरह से संगठन का वह जनक है, फिर भी क्या वह स्वयं ही नियम-भंग करके दण्ड से बच सकता है ? यही शक्ति समाज की शक्ति कहलाती है। जिसे व्यक्ति स्वेच्छा से वरण करता है। राष्ट्रीय सरकारों के संविधानों में यही परिपाटी होती है।

जब-जब व्यक्ति स्वस्थ धारा से अलग हटकर निरंकुश होने लगता है— शक्ति के मद में झूमकर अनीति पर उतारू होता है, तब-तब यही सामाजिक शक्ति उस पर अंकुश लगाती है। प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता होगा कि कई बार वह कुकर्म करने का निश्चय करके भी इसी विचार से रुक जाता है कि लोग क्या कहेंगे : ये लोग चाहे परिवार के हों—पड़ौस के हों, मोहल्ले, गाँव, नगर या देश-विदेश के हों, इन्हें ही समाज मान लीजिये।

व्यक्ति स्वयं से नियंत्रित हो—व्यक्ति समाज से नियंत्रित हो, ये दोनों परिपाटियाँ समता लाने के लिये सक्रिय बनी रहनी चाहिये। यही व्यक्ति एवं समाज के सम्बन्धों की सार्थकता होगी कि विषमता को मिटाने के लिये दोनों ही नियंत्रण सुदृढ़ बनें।

समता मानव मन के मूल में है

प्रत्येक मानव अपने जीवन को सुखी बनाना चाहता है और उसके लिये प्रयास करता है, किन्तु आज की दुविधा यह है कि सभी तरह की विषमताओं के बीच सम्पन्न भी सुखी नहीं है, विपन्न भी सुखी नहीं और शान्ति-लाभ तो जैसे एक दुष्कर स्थिति बन गई है। इसका कारण यह है कि मानव अपने साध्य को समझने के बाद भी उसके प्रतिकूल साधनों का आश्रय लेकर जब आगे बढ़ता है तो बबूल उगाने से आम कहाँ से फलेगा ?

समता मानव मन के मूल में है—उसे भुलाकर जब वह विपरीत दिशा में चलता है तभी दुर्दशा आरम्भ होती है।

एक दृष्टान्त से इस मूल प्रवृत्ति को समझिये। चार व्यक्तियों को एक साथ खाने पर बिठाया गया। पहले की थाली में हलुवा, दूसरे की थाली में लप्सी, तीसरे की थाली में सिर्फ गेहूँ की रोटी तो चौथे की थाली में बाजरे की रोटी परोसी गई, तो क्या चारों साथ बैठकर शान्तिपूर्वक खाना खा सकेंगे ? ऊपरवाला नीचे वाले के साथ घमंड से ऐंठेगा तो नीचे वाला भेदभाव के दर्द से कराहेगा। इसके विरुद्ध सभी की थालियों में केवल बाजरे की रोटी ही हो तो सभी प्रेम से खाना खा लेंगे। इसलिये गहरे जाकर देखें, तो पदार्थ मनुष्य के सुख और शान्ति के कारण नहीं होते, बल्कि उसके मन की विचारणा ही अधिक

सशक्त कारण होती है। समता का व्यवहार करें—ऐसी जागृति होना भी अनिवार्य है।

समता का मूल्यांकन

समता या समानता का कोई यह अर्थ ले कि सभी लोग एक ही विचार के या एक से शरीर के बन जावें अथवा बिल्कुल एक-सी ही स्थिति में रखे जावें तो यह न संभव है और न ही व्यावहारिक। एक ही विचार हो तो बिना आदान-प्रदान, चिन्तन और संघर्ष के विचार का विकासशील प्रवाह ही रुक जायगा। इसी तरह आकृति, शरीर अथवा संस्कारों में भी समानपने की सृष्टि संभव नहीं।

समता का अर्थ है कि पहले समतामय दृष्टि बने तो यही दृष्टि सौम्यता पूर्वक कृति में उतरेगी। इस तरह समता समानता की वाहक बन सकती है। आप ऐसे परिवार को लीजिये, जिसमें पुत्र अर्थ या प्रभाव की दृष्टि से विभिन्न स्थितियों में हो सकते हैं, किन्तु सब पर पिता की जो दृष्टि होगी, वह समतामय होगी। एक अच्छा पिता ऐसा ही करता है। उस समता से समानता भी आ सकेगी।

समता कारण रूप है, तो समानता कार्यरूप : क्योंकि समता मन के धरातल पर जन्म लेकर मनुष्य को भावुक बनाती है तो वही भावुकता फिर मनुष्य के कार्यों पर असर डाल कर उसे समान स्थितियों के निर्माण में सक्रिय सहायता देती है। जीवन में जब समता आती है तो सारे प्राणियों के प्रति सम-भाव का निर्माण होता है। तब अनुभूति यह होती है कि बाहर का सुख हो या दु:ख, दोनों अवस्थाओं में समभाव रहे—यह स्वयं के साथ-के-साथ की स्थिति। अन्य सभी प्राणियों को आत्म-तुल्य मानकर उनके सुख-दु:ख में सहयोगी बने—यह दूसरों के साथ व्यवहार करने की स्थिति। ये दोनों स्थितियाँ जब पुष्ट बनती हैं, तो यह मानना चाहिये कि जीवन समतामय बना रहेगा। कारण कि सही पुष्ट भावना आचरण में उतरकर व्यक्ति से समाज और समाज से व्यक्ति की दो राहों पर विषमता को नष्ट करती हुई समता की सृष्टि करती है।

समता का आविर्भाव कब ?

समता का श्रीगणेश चूँकि मन से होना चाहिये, इसलिये मन की दो वृत्तियाँ प्रमुख होती हैं—राग और द्वेष। ये दोनों विरोधी वृत्तियाँ हैं। जिसे आप चाहते हैं उसके प्रति राग होता है। राग से मोह और पक्षपात जन्म लेता है। जिसे आप नहीं चाहते उसके प्रति द्वेष आता है। द्वेष से कलुष, प्रतिशोध और हिंसा पैदा होती है। ये दोनों वृत्तियाँ मन को चंचल बनाती रहती हैं तथा मनुष्य को स्थिरचित्ती एवं स्थिरधर्मी बनने से रोकती हैं। चंचलता से

वेषमता बनती और बढ़ती है । मन विषम, तो दृष्टि विषम होगी और उसकी कृति भी विषम होगी ।

समता का आविर्भाव तभी संभव होगा, जब राग और द्वेष को घटाया जाय । जितनी निरपेक्ष वृत्ति पनपती है, समता संगठित और संस्कारित बनती है । निरपेक्ष दृष्टि में पक्षपात नहीं रहता और जब पक्षपात नहीं है तो वहाँ उचित के प्रति निर्णायक वृत्ति पनपती है तथा गुण और कर्म की दृष्टि से समता अभिवृद्ध होती है । अगर एक पिता के मन में एक पुत्र के प्रति राग और दूसरे के प्रति द्वेष हो, तो वह स्थिति समता-जीवन की द्योतक नहीं है । मैं सबकी आँखों में प्रफुल्लता देखना चाहूँ—मैं किसी की आँख में आँसू नहीं देखना चाहूँ—ऐसी वृत्ति जब सचेष्ट बनती है तो मानना चाहिये कि उसके मन में समता का आविर्भाव हो रहा है ।

बाह्य समानता के लिये प्रयास करने के पूर्व अन्तर की विषमता नहीं मिटाई और कल्पना कर लें कि बाहर की विषमता किसी भी बल-प्रयोग से एक बार मिटा भी दी गई हो, तो भी विषमतामय अन्तर के रहते वह समानता स्थायी नहीं रह सकेगी । एक ध्वजा, जो उच्च गगन में वायु मण्डल में लहराती है—उसकी कोई दिशा नहीं होती । जिस दिशा का वायु वेग होता है, वह उधर ही मुड़ जाती है, किन्तु ध्वजा का जो दण्ड या स्तूप होता है वह सदा स्थिर रहता है । तो समता के विकास के लिये दण्ड या स्तूप बनने का प्रयास करें, जो स्थिर और अटल हो । फिर समता का सूक्ष्मतम विकास होता चला जायगा ।

अन्तर्दृष्टि और बाह्य दृष्टि

समता के दो रूप हैं—दर्शन और व्यवहार । अन्तर के नेत्रों की प्रकाशमय दृष्टि से देखकर जीवन में गति करना समता दर्शन का मुख्य भाव है और यह जो गति है उससे समता के व्यवहार का स्वरूप स्पष्ट होता है । अतः अन्तर और बाह्य दोनों दृष्टियों से समतापूर्ण जीवन का संचालन करने से सार्थक जीवन की उपलब्धि हो सकती है । दर्शन की गति व्यापक नहीं हो, तो व्यवहार में भी एकरूपता नहीं आती है । इसके लिये अन्तर्दृष्टि और बाह्य दृष्टि में सम्यक् समन्वय होना चाहिये ।

आप एक मकान को देखते हैं । उसमें कहीं पत्थर होता है, कहीं चूना, सीमेंट, लोहा, लकड़ी आदि । साथ ही उसमें रहने या बैठने वालों की स्थिति भी एक-सी नहीं होती है- अलग-अलग आकृतियाँ, वेषभूषा, आदि । फिर भी यदि अन्तर्दृष्टि में सबके समता आ जाय तो इन विभिन्नताओं के बावजूद सारा

समूह एकरूपता की अनुभूति ले सकता है। बाह्य दृष्टि की विषमता इसी भाव एवं विचार-समता के दृढ़ आधार पर समाप्त की जा सकती है।

समता दर्शन का व्यावहारिक रूप

अधिकांश में दार्शनिक सिद्धांत विचारों तक सीमित रह जाते हैं, किन्तु विचार जब तक आचरण में ढलें नहीं, तब तक उनकी उपयोगिता संदिग्ध ही बनी रहती है। हम देखते हैं दर्शन-क्षेत्र जितना विचारों में परिष्कृत हुआ, उतना आचार में नहीं। इसीलिये उसकी उपयोगिता आज उपेक्षा का कारण बनी हुई है। आचार्य देव ने इस दृष्टि पर अत्यन्त गम्भीर मनन एवं मन्थन किया और पाया कि समता-दर्शन भी यदि विचारों का एक कोष अथवा हवाई महल ही बना रहा, तो उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जायगी। किसी भी सिद्धान्त की व्यावहारिक कसौटी यही है कि सामान्य जन-जीवन तथा उसकी सामयिक समस्याओं पर उसका क्या और कैसा प्रभाव पड़ता है, साथ ही उन दार्शनिक सिद्धान्तों का सामान्य जन-चेतना अपने आचरणों के द्वारा किस रूप में अनुसरण कर सकती है।

इसी दृष्टिकोण से समता-दर्शन के सैद्धान्तिक पक्ष के साथ उसके रचनात्मक रूप अर्थात् क्रिया (आचरण) पक्ष पर भी आचार्य श्री ने पर्याप्त प्रकाश डाला है।

समता दर्शन अपने नवीन परिप्रेक्ष्य में

समता, साम्य या समानता मानव जीवन एवं मानव समाज का शाश्वत दर्शन है। आध्यात्मिक या धार्मिक क्षेत्र हो अथवा आर्थिक, राजनीतिक या सामाजिक—सभी का लक्ष्य समता है, क्योंकि समता मानवमन के मूल में है। इसी कारण कृत्रिम विषमता की समाप्ति और समता की अवाप्ति सभी को अभीष्ट होती है। जिस प्रकार आत्माएँ मूल में समान होती हैं, किन्तु कर्मों का मैल उनमें विभेद पैदा करता है, वैसे ही मानव-सम्बन्धों में भी विषमता एवं विकार उत्पन्न होते हैं। इन्हें संयम और नियम द्वारा समान बनाया जा सकता है। उसी प्रकार समग्र मानव समाज में भी स्वस्थ नियम-प्रणाली एवं सुदृढ़ संयम की सहायता से समाजगत समता का प्रसारण किया जा सकता है।

आज जितनी अधिक विषमता है, समता की माँग भी उतनी ही अधिक गहरी है। काश, कि हम उसे सुन और महसूस कर सकें तथा समता-दर्शन के विचार को व्यापक व्यवहार में ढाल सकें। विचार पहले और बाद में उस पर व्यवहार—यही क्रम सुव्यवस्था का परिचायक होता है। वर्तमान विषमता के मूल में सत्ता व सम्पत्ति पर व्यक्तिगत या पार्टीगत लिप्सा की प्रबलता ही विशेष

रूप से कारणभूत है और यही कारण सच्ची मानवता के विकास में बाधक है। समता ही इसका स्थायी व सर्वजन हितकारी निराकरण है।

समता दर्शन का लक्ष्य है कि समता, विचार में हो, दृष्टि और वाणी में हो तथा समता आचरण के प्रत्येक चरण में हो। वह समता जीवन के अवसरों की प्राप्ति में होगी, सत्ता और सम्पत्ति के अधिकार में होगी, वह व्यवहार के समूचे दृष्टिकोण में होगी। समता मनुष्य के मन में, तो समता समाज के जीवन में। समता भावना की गहराइयों में तो, समता साधना की ऊँचाइयों में। प्रगति के ऐसे उत्कट स्तरों पर फिर समता के सुप्रभाव से मनुष्यत्व को क्या-ईश्वरत्व को भी उपलब्ध और स्थापित किया जा सकता है।

समता दर्शन का नवीन परिप्रेक्ष्य

युग बदलता है, तो परिस्थितियाँ बदलती हैं, व्यक्तियों के सहजीवन की प्रणालियाँ बदलती हैं, तो उनके विचार और आचार के तौर-तरीके में तदनुसार परिवर्तन आता है। यह सही है कि शाश्वत तत्त्व में एवं मूल व्रतों में परिवर्तन नहीं होता। सत्य ग्राह्य है, तो वह हमेशा ग्राह्य ही रहेगा। किन्तु सत्य प्रकाशन के रूपों में युगानुकूल परिवर्तन होना स्वाभाविक है। मानव-समाज स्थगित नहीं रहता, बल्कि निरन्तर गति करता रहता है। गति का अर्थ होता है एक स्थान पर टिके नहीं रहना और एक स्थान पर टिके नहीं रहे तो परिस्थितियों का परिवर्तन अवश्यंभावी है।

मनुष्य एक चिन्तनशील और विवेकशील प्राणी है। वह प्रगति भी करता है, तो विगति भी। किन्तु यह सत्य है कि वह गति अवश्य करता है। इसी गति-चक्र में परिप्रेक्ष्य भी बदलते रहते हैं। जिस दृष्टि से एक तत्त्व या पदार्थ को कल देखा था—शायद समय, स्थिति आदि के परिवर्तन से वही दृष्टि आज उसे कुछ भिन्न रूप में पायेगी। कोण भी तो देश, काल और भाव की अपेक्षा से बदलते रहते हैं। अतः स्वस्थ दृष्टिकोण यह होगा कि परिवर्तन के प्रवाह को भी समझा जाय तथा परिवर्तन के प्रवाह में शाश्वतता तथा मूल व्रतों को कदापि विस्मृत न होने दिया जाय। दोनों का समन्वित रूप ही श्रेयस्कर होता है।

इसी दृष्टिकोण से समता-दर्शन को भी आज हमें उसके नवीन परिप्रेक्ष्य में देखने एवं उसके आधार पर अपनी आचरण-विधि निर्धारित करने में अवश्य ही जिज्ञासा रखनी चाहिये। इस अध्याय में आगे इस जिज्ञासा से विचार किया जा रहा है।

समता के समरस स्वर

वर्तमान विषमता की कर्कश ध्वनियों के बीच आज साहस करके समता के समरस स्वरों को सभी दिशाओं में गुंजित करने की आवश्यकता है। सम्पूर्ण

मानव-समाज ही नहीं, समूचा -प्राणी-समाज भी इन स्वरों में आह्लादित हो उठेगा। जीवन के सभी क्षेत्रों में फैली विषमता के विरुद्ध मनुष्य को संघर्ष करना ही होगा, क्योंकि मनुष्यता का इस विषम वातावरण में निरन्तर ह्रास होता जा रहा है।

यह ध्रुव सत्य है कि मनुष्य गिरता, उठता और बदलता रहेगा, किन्तु समूचे तौर पर मनुष्यता कभी समाप्त नहीं हो सकेगी और आज भी मनुष्यता का अस्तित्व डूबेगा नहीं। वह सो सकती है, मर नहीं सकती और अब समय आ गया है, जब मनुष्यता की सजीवता लेकर मनुष्य को उठना होगा, जागना होगा और क्रान्ति की पताका को उठाकर परिवर्तन का चक्र घुमाना होगा। क्रान्ति यही कि वर्तमान विषमता जन्य सामाजिक मूल्यों को हटाकर समता के नये मानवीय मूल्यों की स्थापना की जाय। इसके लिये प्रबुद्ध एवं युवा वर्ग को विशेष रूप से आगे आना होगा और व्यापक जागरण का शंख फूंकना होगा जिससे समता के समरस स्वर उद्भूत हो सकें।

जीवन-दर्शन की क्रियाशील प्रेरणा

क्रियाहीन ज्ञान पंगु होता है, तो ज्ञानहीन क्रिया निरर्थक। जानना, मानना और करना का सतत क्रम ही जीवन को सार्थक बनाता है। जानने को वास्तविकता का ज्ञान करलें और उस जाने हुए को चिन्तन की कसौटी पर कसकर खरा भी पहचान लें और उसके बाद करने के नाम पर निष्क्रियता धार लें, तो उससे तो कुछ बनने वाला नहीं है। यह दूसरी बात है कि सही जानने और मानने के बाद करने की सबल प्रेरणा जागती ही है। सम्यक् ज्ञान और सयम्क् दर्शन का बल सम्यक् चरित्र का अनुप्रेरक अवश्य ही बनता है, फिर भी कर्मठता का तीव्र अनुभाव उत्पन्न होना ही चाहिये।

सिद्धान्त भी वही प्रेरणोत्पादक कहलाता है, जो तदनुकूल कार्य-क्षमता को जागृत करता है। जीवन-निर्माण का यही मूल मंत्र होता है। ज्ञान और क्रिया की संयुक्त शक्ति ही मनुष्य को बन्धनों से मुक्त करती है। चाहे वे बन्धन कैसे भी हों, विषमता या तज्जन्य विकारों के ही क्यों न हों, इस शक्ति के सामने वे कभी भी टिके नहीं रह सकते हैं।

दृढ़ एवं अटल संकल्प के साथ जब इस शक्ति का पग आगे बढ़ता है, तो विषमता से मुक्ति भी सहज बन जाती है। व्यक्ति का अटल संकल्प अपने क्रम में परिवार, समाज, राष्ट्र एवं समूचे विश्व की संकल्प शक्ति को प्राणवान बनाता है और यही सामूहिक प्राण शक्ति समाजगत प्रभाव लेकर ज्ञान एवं क्रियाहीन व्यक्तियों को सावधान बनाती है। व्यक्ति के जागने से विकास का

विशिष्ट स्तर बनता है, तो समाज के जागने से सभी व्यक्तियों में विकास का सामान्य स्तर निर्मित होता है ।

समतामय आचरण के २१ सूत्र

समतामय आचरण के अनेकानेक पहलू एवं रूप हो सकते हैं, किन्तु सारे तत्त्वों एवं परिस्थितियों को समन्वित करके उसके निचोड़ में इन २१ सूत्रों की रचना इस उद्देश्य से की गई है कि आचरण के पथ पर इन्हें पकड़ कर समता की गहन साधना आरम्भ की जा सकती है । इन २१ सूत्रों का समायोजन इस भाँति किया गया है कि वे मानव के अन्तर्बाह्य को समुज्ज्वलित करने के साथ ही जगत् की आन्तरिक एवं बाह्य पीड़ाओं का निराकरण कर सकें । इनको आधार बनाकर चलने से जहाँ व्यष्टि को आत्म-साक्षात्कार तक पहुँचाया जा सकता है, वहीं समष्टिगत जीवन में शान्ति, सद्भाव एवं समत्व की स्थापना हो सकती है । यह समझना चाहिये कि यदि समुच्चय रूप से एक समता-साधक इन २१ सूत्रों को आधार मानकर सक्रिय बनता है, तो वह साधना के उच्चतर स्तरों पर सफलता प्राप्त कर सकता है । ये २१ सूत्र इस प्रकार हैं :—

(१) ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि की सुव्यवस्था अर्थात् तत्सम्बन्धी सामाजिक (नैतिक) नियमों का पालन करना । उसमें कोई कुव्यवस्था पैदा नहीं करना एवं कुव्यवस्था पैदा करने वालों का सहयोगी नहीं बनना ।

(२) अनावश्यक हिंसा का परित्याग करना तथा आवश्यक हिंसा की अवस्था में भी भावना तो व्यक्ति, परिवार, समाज व राष्ट्र आदि की रक्षा की रखना तथा विवशता से होने वाली हिंसा में लाचारी अनुभव करना, न कि प्रसन्नता ।

(३) झूठी साक्षी नहीं देना । स्त्री, पुरुष, पशु, भूमि, धन आदि के लिये झूठ नहीं बोलना ।

(४) वस्तु में मिलावट करके धोखे से नहीं बेचना ।

(५) ताला तोड़कर, चाबी लगाकर तथा सेंध लगाकर वस्तु नहीं चुराना । किसी की अमानत को हजम नहीं करना ।

(६) परस्त्री का त्याग करना, स्व-स्त्री के साथ भी अधिक-से-अधिक ब्रह्मचर्य का पालन करना ।

(७) व्यक्ति, समाज व राष्ट्र आदि के प्रति दायित्व-निर्वाह के आवश्यक अनुपात से अतिरिक्त धन-धान्य पर अधिकार नहीं

रखना। आवश्यकता से अधिक धन-धान्य हो तो ट्रस्टी बनकर उसके यथा-आवश्यक सम-वितरण की भावना रखना।

(८) लेन-देन और व्यवसाय आदि की सीमा एवं मात्रा का अपनी सामर्थ्य के अनुसार मर्यादा रखना।

(९) स्वयं के, परिवार के, समाज के एवं राष्ट्र के चरित्र में कलंक लगाने वाला कोई भी कार्य नहीं करना।

(१०) आध्यात्मिक जीवन के निर्माणार्थ नैतिक संचेतना एवं तदनुरूप सत्य प्रवृत्ति का ध्यान रखना।

(११) मानव जाति में गुणकर्म के अनुसार वर्गीकरण पर श्रद्धा (विश्वास) रखते हुए किसी भी व्यक्ति से घृणा व द्वेष नहीं रखना।

(१२) संयम की मर्यादाओं का पालन करना एवं अनुशासन को भंग करने वालों को अहिंसक-असहयोग के तरीके से सुधारना, परन्तु द्वेष की भावना न लाना।

(१३) प्राप्त अधिकारों का दुरुपयोग नहीं करना।

(१४) कर्त्तव्य-पालन का पूरा ध्यान रखना, लेकिन प्राप्त सत्ता में आसक्त (लोलुप) नहीं होना।

(१५) सत्ता और सम्पत्ति को मानव-सेवा का साधन मानना न कि साध्य।

(१६) सामाजिक व राष्ट्रीय चरित्र-पूर्वक भावात्मक एकता को महत्त्व देना।

(१७) जनतंत्र का दुरुपयोग नहीं करना।

(१८) दहेज, बींटी, तिलक, टीका आदि की मांगनी, सौदेबाजी तथा प्रदर्शन नहीं करना।

(१९) सादगी में विश्वास रखना और बुरे रीति-रिवाजों का परित्याग करना।

(२०) चरित्र-निर्माण पूर्वक धार्मिक शिक्षण पर बल देना एवं नित्य प्रति कम-से-कम एक घण्टा धार्मिक क्रियापूर्वक स्वाध्याय, चिंतन, मनन करना।

(२१) समता दर्शन के आधार पर सुसमाज-व्यवस्था में विश्वास रखना।

उपर्युक्त २१ सूत्रों पर गम्भीर चिन्तनपूर्ण हृदयस्पर्शी विस्तृत विवेचना श्रद्धेय आचार्यश्री के पावन प्रवचनों में उपलब्ध होती है। ग्रन्थ-विस्तार के भय से उसे यहाँ प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है।

समता दर्शन : सामाजिक परिप्रेक्ष्य में

इस प्रकार समता-दर्शन के सैद्धान्तिक एवं क्रियात्मक पहलू को स्पष्ट करने के पश्चात् उसके सामाजिक रूप को भी एक सुनियोजित क्रम से प्रस्तुत किया गया है—समता-समाज-रचना के रूप में।

प्रश्न है कि समाज का प्रत्येक घटक समता-दर्शन को अपने आचरण के आधार पर जीवन में किस प्रकार आत्मसात् कर सकता है तथा तद्द्वारा समता-समाज का निर्माण किस रूप में हो सकता है। प्रारम्भ में समता साधकों की योग्यता एवं शक्ति के अनुसार उन्हें तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है, तदनन्तर उसके सामाजिक संगठनात्मक रूप को प्रस्तुत किया गया है। समता-दर्शन के इस सामाजिक पहलू को आचार्यश्री के भावों में ही समझाने का यहाँ विनम्र प्रयास है।

आचरण की आराधना के तीन चरण

साधुत्व से पूर्व स्थिति में समता-साधक की साधना के तीन चरणों या सोपानों का इस हेतु निर्धारण किया जा रहा है, जिससे साधक को स्वयं प्रतीति हो तथा समाज में उसकी पहचान हो कि समता की साधना में वह किस स्तर पर चल रहा है। इस प्रतीति और पहचान से साधक के मन में उन्नति की आकांक्षा तीव्र बनी रहेगी। ये तीन चरण निम्न हैं—

(१) समतावादी।
(२) समताधारी।
(३) समतादर्शी।

समतावादी की पहली श्रेणी

पहली एवं प्रारम्भिक श्रेणी उन समता-साधकों की है, जो समता-दर्शन में गहरी आस्था, शोध की जिज्ञासा एवं अपनी परिस्थितियों की सुविधा से समता के व्यवहार में सचेष्ट होने की इच्छा रखते हों। पहली श्रेणी वालों को समतावादी इस कारण कहा है कि वे समता के दर्शन एवं व्यवहार-पक्षों का

सर्वत्र समर्थन करने वाले एवं सबके समक्ष २१ सूत्रों एवं तीन चरणों की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने वाले होंगे। स्वयं भी आचरण की दिशा में आगे बढ़ने के संकल्प की तैयारी कर रहे होंगे और किन्हीं अंशों में आचरण का श्रीगणेश कर चुके होंगे। ऐसे साधकों के लिये निम्न प्रारम्भिक नियम आचरणीय हो सकते हैं—

(१) विश्व में रहने वाले समस्त प्राणियों में समता की मूल स्थिति को स्वीकार करना एवं गुण तथा कर्म के अनुसार ही उनका वर्गीकरण मानना। अन्य सभी विभेदों को अस्वीकार करना और गुण-कर्म के विकास से व्यापक समतापूर्ण स्थिति बनाने का संकल्प लेना।

(२) समस्त प्राणिवर्ग का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकारना तथा अन्य प्राणियों के कष्ट-क्लेश को स्व-कष्ट मानना।

(३) पद को महत्त्व देने के स्थान पर सदा कर्त्तव्यों को महत्त्व देने की प्रतिज्ञा करना।

(४) सप्त कुव्यसनों को धीरे-धीरे ही सही पर त्यागते रहने की दिशा में आगे बढ़ना।

(५) प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व कम-से-कम एक घण्टा समय नियमित रूप से समता-दर्शन के स्वाध्याय, चिन्तन एवं समालोचन में व्यतीत करना।

(६) कदापि आत्मघात न करने एवं प्राणि-रक्षा करने का संकल्प लेना।

(७) सामाजिक कुरीतियों को त्याग कर विषमता जन्य वातावरण मिटाना तथा समतामयी नई परम्पराएँ ढालना।

सक्रिय, सो समताधारी

समता के दार्शनिक एवं व्यावहारिक धरातल पर जो दृढ़ चरणों से चलना शुरू कर दे, उसे समताधारी की दूसरी उच्चतर श्रेणी में लिया जाय। समताधारी दर्शन के चारों सोपानों को हृदयंगम करके २१ सूत्रों पर व्यवहार करने में सक्रिय बन जाता है। आशय है कि समतामय आचरण की सर्वांगीणता एवं सम्पूर्णता की ओर जब साधक गति करने लगे तो उसे समताधारी कहा जाय। समताधारी निम्न अग्रगामी नियमों का अनुपालन करे—

संगठित साधकों का सुप्रभाव समूचे समाज पर इस रूप से पड़ेगा कि लोग इस दिशा में अधिकाधिक आकर्षित होने लगेंगे।

एक प्रकार से समता के दर्शन एवं व्यवहार पक्षों का मूर्त रूप ऐसा समता-समाज होना चाहिये जो समता-मार्ग पर सुस्थिर गति से अग्रसर हो और उस आदर्श की ओर सारे संसार को प्रभावित करे।

समता-समाज क्यों ?

सारे मानव-समाज को यदि भिन्न-भिन्न भागों में विभाजित करें, तो विविध विचारधाराओं, मान्यताओं एवं सम्बन्धों पर आधारित कई वर्ग निकल आवेंगे। सम्पूर्ण मानव-समाज विभिन्न समाजों का एक समाज ही है। प्रश्न है समता-समाज के नाम से एक और समाज की वृद्धि क्यों ?

मानव-समाज इतना विशाल समाज है कि एक ही बार में एक मानव उसे समग्र रूप से आन्दोलित करना चाहे, तो एक दुस्साध्य-सा कार्य होगा। कार्य एक साथ नहीं साधा जाता, क्रमवद्ध रूप से ही आगे बढ़ते हुए उसे साधना सरल एवं सुविधाजनक होता है। सारे संसार में याने कि सभी विभिन्न क्षेत्रों में समतामय जीवन की प्रणाली की स्थापना एक साथ सरल नहीं हो सकती। अपने नवीन परिप्रेक्ष्य में समता के विचार-बिन्दु को हृदयंगम कराना तथा उसके आचरण को जीवन में उतारना एक क्रमबद्ध कार्यक्रम ही हो सकता है। समता-समाज इस क्रमबद्ध कार्यक्रम को सफल बनाते हुए समता के निरन्तर विस्तार का ही एक संगठन कहा जा सकता है। संगठन की शक्ति उसके सदस्यों पर आधारित होती है तथा समता-समाज भी कितना शक्तिशाली बन सकेगा, यह इसके साधक सदस्यों पर निर्भर करेगा।

समता समाज के नाम से कायम होने वाला यह संगठन एक जीवन्त संगठन होना चाहिये, जो बिना किसी भेदभाव के सिर्फ मानवीय धारणाओं को लेकर मात्र मानवता के धरातल पर मानवीय समता की उपलब्धि हेतु कार्य करे एवं विभिन्न क्षेत्रों में विषमता भरे वातावरण को हटाकर समतामय परि-स्थितियों के निर्माण में योग दे।

समता-समाज का कार्यक्षेत्र

समता-समाज का कार्य क्षेत्र किसी भौगोलिक सीमा में आवद्ध नहीं होगा। जहाँ-जहाँ विषमता है और जहाँ-जहाँ समता के साधक खड़े होते जायेंगे, वहाँ-वहाँ समता समाज के कार्य क्षेत्र खुलते जायेंगे। प्रारम्भ में किसी भी एक बिन्दु से इस समाज का कार्यारम्भ किया जा सकता है। फिर उस केन्द्र से ऐसा यत्न किया जाय कि देश में चारों ओर इस समाज के ऐसे सदस्य बनाये जायें, जो

निष्ठापूर्वक चार सोपानों, इक्कीस सूत्रों एवं तीन चरणों में आस्था रखें तथा व्यावहारिक रूप से अपने जीवन में समता तत्त्व को यथाशक्ति समाहित करें। यदि प्रारम्भिक प्रयास सफल बने तथा देश में समता-समाज का स्वागत हो और समता-समाज के सदस्य चाहें, तो कोई कठिन नहीं कि इस अभियान को विदेशों में भी लोकप्रिय बनाया जा सके। समाज के उद्देश्य सबको छूने एवं सब में समाने वाले हों।

समाज के उन्नायक उद्देश्य

जो अब तक विश्लेषण किया गया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति एवं समाज के आन्तरिक एवं बाह्य जीवन में समता रम जाय एवं चिरस्थायी रूप ग्रहण करले—यह समता-समाज को अभीष्ट है। कहा नहीं जा सकता कि इस अभियान को सफल बनाने में कितना समय लग जायेगा, किन्तु कोई भी अभियान कभी भी सफलता तभी प्राप्त कर सकेगा, जब उसके उद्देश्य स्पष्ट हों एवं उसमें जनकल्याण की व्यापक भावना झलकती हो।

समाज के उन्नायक उद्देश्यों को संक्षेप में निम्न रूप से गिनाया जा सकता है—

१— व्यक्तिगत रूप से समता-साधक को समतावादी, समताधारी एवं समतादर्शी की श्रेणियों में साधनारत बनाते हुए अपने व्यक्तित्व को विकेन्द्रित करने की ओर अग्रसर बनाना।

२— मन की विषमता से लेकर विश्व के विभिन्न क्षेत्रों की विषमताओं से संघर्ष करना एवं सर्वत्र समता की भावना का प्रसार करना।

३— व्यक्ति और समाज के हितों में इस भांति तालमेल बिठाना, जिससे दोनों समतामय स्थिति लाने में पूरक शक्तियाँ बनें। समाज व्यक्ति को धरातल दे तो व्यक्ति उस पर समता-सदन का निर्माण करे।

४— स्वार्थ, परिग्रह की ममता एवं वितृष्णा को सर्वत्र घटाने का अभियान छोड़कर स्वार्थों एवं विचारों के टकराव को रोकना तथा सामाजिक न्याय एवं सत्य को सर्वोपरि रखना।

५— स्थान-स्थान पर समता-साधकों को संगठित करके समाज की शाखाओं-उपशाखाओं की स्थापना करना, साधारणजन को समता का महत्त्व समझाने हेतु विविध संयत प्रवृत्तियों का संचालन करना एवं सम्पूर्ण समतामय परिवर्तन के लिए सचेष्ट रहना।

समता-समाज किनका ?

यह समाज किसी देश-प्रदेश, जाति-सम्प्रदाय, वर्ण-वर्ग या दल विशेष का

नहीं होगा। प्रारम्भ में समाज का आकार छोटा हो सकता है, किन्तु इसका प्रकार कभी छोटा नहीं होगा। जो अपने आपको सीधे और सच्चे रूप में मनुष्य नाम से जानता है और मनुष्यता के सर्वोपरि विकास में रुचि रखता है, वह इस समाज का सदस्य बन सकता है। समता समाज सम्पूर्ण मानव जाति का समाज होगा और इसकी सदस्यता का मूल आधार गुण और कर्म होगा, क्योंकि इसकी साधना-श्रेणियों का निर्माण भी गुण एवं कर्म के आधार से ही बनाया गया है।

दूसरे शब्दों में यों कहें कि समता-समाज उन लोगों का संगठन होगा, जो समाज के उद्देश्यों में विश्वास रखते होंगे, इसके २१ सूत्रों तथा ३ चरणों को अपनाने के लिए आतुर होंगे एवं अपने प्रत्येक आचरण में समता के आदर्श की झलक दिखायेंगे। समाज अपने सदस्यों की कर्मठता का केन्द्र होगा, तो अन्य सभी के लिए प्रेरणा का स्रोत भी, क्योंकि अन्ततोगत्वा समाज का लक्ष्य राजनीतिक, आर्थिक एवं अन्य सभी क्षेत्रों में मानवीय समता स्थापित करके आध्यात्मिक क्षेत्र में समता के महान् आदर्श को प्रकाशमान बनाना है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि समता समाज २१ सूत्रों के पालक एवं ३ चरणों में साधनारत साधकों का संगठन होगा, जो गृहस्थ धर्म में रहते हुए भी उज्ज्वल नक्षत्रों के रूप में संसार के विविध क्षेत्रों में समता के सुखद सन्देश को न केवल फैलावेंगे, बल्कि उसे क्रियान्वित कराने के काम में सर्वदा एवं सर्वत्र निरत रहेंगे।

विषमता से संघर्ष : मन को हर्ष

आपके सामने पग-पग पर विषमताओं के जाले बुने हुए हैं, जिनमें उलझ-उलझ कर अपने कई साथियों को हीं गिरते हुए आप नहीं देखते, बल्कि जानते-अजानते खुद भी उनमें उलझ-उलझकर गिरते रहते हैं। इन्हीं जालों को काटते जाना जीवन का उद्देश्य बन जाना चाहिये और यही समता की साधना का मार्ग है, क्योंकि जहाँ-जहाँ अन्धेरा मिटेगा वहाँ-वहाँ प्रकाश का फैलते जाना अनिवार्य है। विषमताओं को काटने का अर्थ ही होगा कि वहाँ-वहाँ आत्मीय समता का प्रसार सुगम होता जायेगा।

समता-समाज के सदस्यों को अपने जीवन-क्रम में इसी उद्देश्य को सर्वोपरि रखना होगा। वे एक क्षण के लिये भी न भूलें कि वे अपने मन, वचन या कर्म से किसी भी रूप में विषमता पैदा करने वाले न बनें। उन्हें तो स्वयं सम बनकर प्रत्येक स्थान से विषमता को नष्ट करना है और समता की दृष्टि पनपानी है। विषमता से संघर्ष उनकी भावना, वाणी और कृति का शृङ्गार बन जाना चाहिये।

व्यक्ति और समाज का समन्वित स्वर

यह आन्दोलन, यह संघर्ष, व्यक्ति और समाज के समन्वित स्वर से उठना और चलना चाहिये । व्यक्ति समाज की ओर उन्मुख हो तथा समाज एक-एक व्यक्ति को गले लगावे—तब ऐसे सहज समन्वय का स्वर मुखर हो सकेगा । व्यक्ति और समाज इस आन्दोलन के साथ एक-दूसरे की प्रगति के अनुपूरक बनते रहेंगे और समता की ऊँचाइयों पर चढ़ते रहेंगे । व्यक्ति-व्यक्ति से समाज बनता है और समाज व्यक्ति से अलग नहीं है, फिर भी दोनों शक्तियाँ एक दूसरे की सहायक होकर चलेंगी तभी अन्दर-बाहर की सच्ची समता भी प्रकट हो सकेगी । जितनी विषमता है, वह व्यक्ति के स्वार्थ के गर्भ से जन्म लेती है । जितने अंशों में स्वस्थ रीति से इस स्वार्थ का सफल समाजीकरण कर दिया जायगा उतने ही अंशों में विषमता की मात्रा घटेगी और व्यक्ति एवं समाज का समन्वय बढ़ेगा । यह स्वाभाविक प्रक्रिया है ।

समता-समाज इस लक्ष्य की ओर अग्रसर बने कि व्यक्ति का सत्ता और सम्पत्ति के स्वार्थों पर अधिक-से-अधिक स्वैच्छिक नियंत्रण किया जाय । यह नियंत्रण भावात्मक होना चाहिये एवं जहाँ आवश्यकता हो, वहाँ सामाजिक नियंत्रण-प्रणाली द्वारा व्यक्ति के स्वार्थ के भूत को फैलने से रोका जाना चाहिये । अपने ही सदस्यों के माध्यम से यदि समता-समाज इस लक्ष्य को पकड़ सका, तो यह सन्देहरहित भविष्यवाणी की जा सकती है कि समता समाज की सर्वोच्च उन्नति होकर रहेगी ।

क्रान्ति का चक्र और कल्याण

कल्पना करें कि किसी भी टिकट-खिड़की के बाहर अगर लोग पूरे अव्यवस्थित रूप से टिकट लेने के लिये टूट पड़ेंगे तो कितने और कौन लोग टिकट ले पायेंगे ? वे ही जो शरीर से, बल से या किसी तरह ताकतवर होंगे—कमजोर तो बेचारा भीड़ में पिस ही जायगा । आज के विषम समाज की ऐसी अव्यवस्था से तुलना की जा सकती है जहाँ सत्ता और सम्पत्ति को लूटने की मारामारी मची हुई है । जो न्याय से नहीं, नीति से नहीं, बल्कि अन्याय और अनीति से लूट जारी है । इस दुर्व्यवस्था में दुर्जन आगे बढ़कर लूट का सरदार बन जाता है, तो हजारों सज्जन नीति और न्याय के पुजारी होकर भी विवश खड़े देखते रह जाते हैं ।

टिकट-खिड़की के बाहर ऊपर उचकने वालों को समझा-बुझा कर उनकी बाँहें पकड़कर एक क्यू में खड़ा कर देने का जो प्रयास है, उसी को समाज के क्षेत्र में क्रान्ति का नाम दे दिया जाता है । सारी भीड़ उमड़े नहीं, अपनी-अपनी

(१) अपने विषमताजन्य विचारों, संस्कारों एवं आचारों को समझना तथा विवेकपूर्वक उन्हें दूर करना। अपने आचरण से किसी को भी क्लेश न पहुँचाना य सबसे सहानुभूति रखना।

(२) द्रव्य, सम्पत्ति तथा सत्ता-प्रधान व्यवस्था के स्थान पर समता-पूर्ण चेतना एवं कर्त्तव्यनिष्ठा को मुख्यता देना।

(३) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह एवं अनेकान्तवाद के स्थूल नियमों का पालन करना, उनकी मर्यादाओं में उच्चता प्राप्त करना एवं भावना की सूक्ष्मता तक पैठने का विचारपूर्वक प्रयास करते रहना।

(४) समस्त जीवनोपयोगी पदार्थों के सम-वितरण में आस्था रखना तथा व्यक्तिगत रूप से इन पदार्थों का यथाविकास, यथायोग्य जन-कल्याणार्थ परित्याग करना।

(५) परिवार की सदस्यता से लेकर ग्राम, नगर, राष्ट्र एवं विश्व की सदस्यता को निष्ठापूर्वक आत्मीय दृष्टि एवं सहयोगपूर्ण आचरण से अपने उत्तरदायित्वों के साथ निभाना।

(६) जीवन में जिस किसी पद पर या कार्यक्षेत्र में रत हों, उसमें भ्रष्टाचार से मुक्त होकर समताभरी नैतिकता एवं प्रामाणिकता के साथ कुशलता से कार्य करना।

(७) स्व-जीवन में संयम को तो सामाजिक जीवन में सर्वदा नियम को प्राथमिकता देना एवं अनुशासित बनना।

साधक की सर्वोच्च सीढ़ी—समतादर्शी

समतादर्शी की श्रेणी में साधक का प्रवेश तब माना जाय, जब वह समता के लिये बोलने और धारने से आगे बढ़कर संसार को समतापूर्ण बनाने व देखने की दृष्टि और कृति प्राप्त करता है। तब वह साधक व्यक्ति के व्यक्तित्व से ऊपर उठकर एक समाज और संस्था का रूप ले लेता है। उसका लक्ष्य परि-वर्तित निजत्व को व्यापक परिवर्तन में समाहित कर लेना बन जाता है। ऐसा साधक साधुत्व के सन्निकट पहुँच जाता है, जहाँ वह अपने स्वहित को भी पर-हित में विलीन कर देता है और समाज में सर्वत्र समता लाने के लिये जूझने लग जाता है। वह समता का वाहन बनने की बजाय, समता का वाहक बन जाता है। समतादर्शी निम्न उच्चस्थ नियमों को अपने जीवन में रमा ले—

(१) समस्त प्राणिवर्ग को निजात्मा के तुल्य समझना व आचरना

तथा समग्र आत्मीय शक्तियों के विकास में अपने जीवन के विकास को देखना। अपनी विषमताभरी दुष्प्रवृत्तियों को त्याग करके आदर्श की स्थापना करना एवं सबमें समतापूर्ण प्रवृत्तियों के विकास को बल देना।

(२) आत्म-विश्वास की मात्रा को इतनी सशक्त बना लेना कि अन्य प्राणियों के साथ अथवा स्वयं के साथ जाने या अनजाने भी विश्वासघात सम्भव न रहे।

(३) जीवन-क्रम के चौबीसों घण्टों में समतामय भावना एवं आचरण का विवेकपूर्ण अभ्यास एवं आलोचन करना।

(४) प्रत्येक प्राणी के प्रति सौहार्द, सहानुभूति एवं सहयोग रखते हुए दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझना—आत्मवत् सर्व भूतेषु।

(५) सामाजिक न्याय का लक्ष्य ध्यान में रखकर, चाहे राजनीति के क्षेत्र में हो अथवा आर्थिक या अन्य क्षेत्र में, आत्मबल के आधार पर अन्याय शक्तियों से संघर्ष करना तथा समता के समस्त अवरोधों पर विजय प्राप्त करना।

(६) चेतन व जड़ तत्त्वों के विभेद को समझ कर पर से ममता हटाना, जड़ की सर्वत्र प्रधानता हटाने में योग देना तथा चेतन को स्वधर्मी मान उसकी विकासपूर्ण समता में अपने जीवन को नियोजित कर देना।

(७) अपने जीवन में और बाहर के वातावरण में राग और द्वेष दोनों को संयमित करते हुए सर्व प्राणियों में समदर्शिता का अविचल भाव ग्रहण करना, वरण करना तथा अपनी चिन्तन-धारा में उसे स्थायित्व देना। समदर्शिता को जीवन का सार बना लेना।

साधुत्व तक पहुँचाने वाली ये तीन श्रेणियाँ

इन तीनों श्रेणियों में यदि एक समता-साधक अपना समुचित विकास करता जाय तथा समदर्शी श्रेणी में अपनी हार्दिकता एवं कर्मठता को रमाले, तो उसके लिये यह कहा जा सकता है कि वह साधक भावना की दृष्टि से साधुत्व के सन्निकट पहुँच गया है। तीसरी श्रेणी को गृहस्थ-धर्म का सर्वोच्च विकास माना जायगा।

तीनों श्रेणियों के जो नियम बताये गये हैं, इनके अनुरूप एक से दूसरी व दूसरी से तीसरी श्रेणी में अग्रसर होने की दृष्टि से प्रत्येक साधक को अपना आचरण, विचार एवं विवेकपूर्ण पृष्ठभूमि के साथ स्वयं को सन्तुलित एवं संयमित करते रहना चाहिये, ताकि समता व्यक्ति के मन में और समाज के जीवन में चिरस्थायी रूप ग्रहण कर सके। यही आत्म-कल्याण एवं विश्व-विकास की सही प्रेरणा है।

समता-साधना के इस क्रम को व्यवस्थित एवं अनुप्रेरक स्वरूप प्रदान करने के उद्देश्य से एक समता-समाज की स्थापना की जाय, उसकी सदस्यता हो, सदस्यों के विकास का सम्पूर्ण लेखा-जोखा रखा जाय एवं अन्य प्रवृत्तियाँ चलाई जाय—इसके लिए यहाँ एक संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है।

आचरण शुद्धि का पहला पग :
सप्त कुव्यसन का त्याग

समता-मार्ग के साधक को प्राथमिक शुद्धि रूप सप्त कुव्यसनों का त्याग तो करना ही चाहिये। ये कुव्यसन जीवन को पतन के गर्त में डुबोने वाले तो होते ही हैं, समाज में भी इनका बुरा असर पड़ता है और पतन की संभावनाओं को स्थायी भाव मिलता है। इन सात कुव्यसनों के सम्बन्ध में निम्न जानकारी जरूरी है—

(१) **मांस-भक्षण** : समता के संसार में प्रत्येक जीव को दूसरे जीव की रक्षा में आस्था रखनी चाहिये—"जीवो जीवस्य रक्षणम्।" फिर मांस खाने का मूल अभिप्राय इस वृत्ति के विपरीत बन जाता है। अपने लिए जीव को मारें और मांस-भक्षण करें—यह तो विषमता को पूजना हुआ। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी आज पश्चिमी संसार में शाकाहार की आवाज उठ रही है और मांस-भक्षण को हानिकारक बताया जाता है। यह तामसिक भोजन विकारों को भी पैदा करता है। अतः इसको छोड़ना अनिवार्य समझा जाना चाहिये।

(२) **मदिरा-पान** : देश भर में आज शराबबन्दी के बारे में उग्र आन्दोलन चल रहा है। सरकार आय का लोभ नहीं छोड़ पा रही है, वरना शराब की बुराई को तो त्याज्य मानती है। इससे ही शराब के कुप्रभाव का अनुमान कर लेना चाहिये। शराब को समस्त बुराइयों की जड़ कह दें तो भी कोई अत्युक्ति नहीं होगी। गांजा, भांग, धतूरा और आज की एल० एस० डी० की गोलियाँ आदि के सारे नशों का त्याग मदिरा-त्याग के साथ ही आवश्यक समझा जाना चाहिये।

(३) **जुआ** : जहाँ भी बिना परिश्रम के अनर्थ तरीकों से धन आने का स्रोत हो, उसे जुए की ही श्रेणी में लेना चाहिये। इस नजर से सट्टा व तस्कर

व्यापार भी त्याज्य है। बिना श्रम का धन व्यसनों की वढ़ोतरी में ही खर्च होता है।

(४) **चोरी :** चोरी की व्याख्या को भी सूक्ष्म रीति से समझने की जरूरत है। दूसरे के परिश्रम की आय को व्यक्त या अव्यक्त रूप से स्वयं ले लेना भी चोरी है। यही आज के आर्थिक शोषण का रूप है। टैक्स चोरी भी इसका दूसरा रूप है। चोरी सदा सत्य का हनन करती है, अतः त्याज्य होनी चाहिये।

(५) **शिकार :** सर्वजीव रक्षण की भावना में अपने मनोविनोद के लिए जीव हरण सर्वदा निन्दनीय है।

(६) **परस्त्री गमन :** समाज में सैक्स की स्वस्थता को वनाये रखने के उद्देश्य से ही विवाह-संस्था का प्रारम्भ हुआ था। काम का विकार अतिप्रबल होता है और उसे नियमित एवं संयमित करने के लिये संसारी मनुष्य के लिये स्वस्त्री सन्तोष का व्रत बताया गया है। यदि काम के अन्धेपन को छूट दे दी जाय, तो वह कितने अनर्थों एवं अपराधों की लड़ी बाँध देगा—इसका कोई हिसाब नहीं। परस्त्री गमन तो इस कारण भी जघन्य अपराध माना जाना चाहिये कि ऐसा दुष्ट पुरुष दो या अनेक परिवारों के सदाचरण को नष्ट करता है।

(७) **वेश्या गमन :** यह कुव्यसन सारे समाज के लिये घातक है, जो नारी जैसे पवित्र जीवन को मोरी के कीड़ों की तरह पतित बनाता है। आज राज्य और समाज इसके विरोधी बन चुके हैं तथा वेश्याओं के धन्धे को समाप्त किया जा रहा है। फिर भी व्यक्ति का संयम इसे समाप्त करने में विशेष सहायक बन सकेगा।

इन सातों कुव्यसनों के वैयक्तित्व एवं सामाजिक कुप्रभावों को ध्यान में रखते हुए इनके त्वरित परित्याग की ओर कदम आगे बढ़ने ही चाहिये।

समता-समाज की संक्षिप्त रूपरेखा

अन्तर में जो कुछ श्रेष्ठ है, वह गूढ़ हो सकता है, किन्तु जब तक उसे सहज रूप में बाहर प्रकट नहीं करें उसकी विशेषताओं का व्यापक रूप से प्रसार नहीं हो सकता है। समता-दर्शन के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि यदि इसके भी बाह्य प्रतीक निर्मित किये जायँ, तो इसके प्रचार-प्रसार में सुविधा होगी। कोई समता-दर्शन का अध्ययन करे तथा उसके व्यवहार पर भी सक्रिय हो, किन्तु यदि ऐसे साधकों को एक सूत्र में आबद्ध रहने हेतु किसी संगठन की रचना की जाय तो साधकों को यह सुविधा होगी कि वे पारस्परिक सम्पर्क से अपनी साधना को अधिक सुगठित एवं सुचारु बना सकेंगे और साधारण रूप से

बारी से हर एक को टिकट मिल जाये, यह किसी क्रान्तिपूर्ण व्यवस्था का ही फल हो सकता है। मानव समाज में अपराधवृत्ति मिटे, विषमता कटे और सभी मानव न्याय और नीति का फल प्राप्त करें—यही क्रान्ति का उद्देश्य हो सकता है।

क्रान्ति का चक्र यदि योजनाबद्ध नीति से घुमाया जाय तो निस्सन्देह वह विषमता को भी काटेगा और समता की रक्षा भी करेगा। इस चक्र को जन-कल्याण का चक्र कहा जा सकता है। समता-समाज का यही प्रयास होना चाहिये कि वह अपनी सशक्त गति से क्रान्ति के चक्र को पूरे वेग से घुमावे ताकि नये समाज की नई धारणाएं और परम्पराएं जन्म लें तथा उनका निर्वहन करने-कराने वाली नई पीढ़ी का निर्माण किया जा सके।

सर्वव्यापी समता

सर्वरूपी समता सर्वव्यापी भी बननी चाहिये। जीवन के सभी रूपों में समता ढले, किन्तु अगर वह सभी जीवनों में नहीं ढले तो समता का सामूहिक चित्र साकार नहीं हो पायेगा और इसके बिना समता का सर्वव्यापी बन पाना भी संभव नहीं होगा। सर्वव्यापी समता को जीवन के स्थूल स्थानों से लेकर सूक्ष्म स्थानों तक प्रवेश करना होगा। अन्तर्मन यदि समता के मूल्यों को गहराई से धारण करले, तो राजनीति, अर्थ या समाज के क्षेत्र में भी समता की प्रतिष्ठा करने में अधिक कठिनाई नहीं आवेगी। किन्तु अगर मनुष्य का अन्तर्मन ही स्वार्थ और विकार में डूबा हो, तो समता के स्थूल क्षेत्रों में परिवर्तन काफी टेढ़ा और कठिन होगा।

यही कारण है कि पहले आन्तरिक विषमता को मिटाने का निर्देश किया जाता है। किसी भी सामहिक कार्य का सफल श्रीगणेश भी इसी अवस्था में किया जा सकता है, जब कुछ ऐसे लोग तैयार होते हैं, जो अपने अन्तर की विषमता को घटाकर समता का सन्देश लेकर आगे बढ़ते हैं। साथ में यह भी सत्य है कि ऐसे लोग किसी भी संगठन अथवा आन्दोलन के जरिये जिस वातावरण का निर्माण करते हैं, वह भी अन्य व्यक्तियों की जागृति का कारण बनता है। कुछ लोगों की आन्तरिक समता बाह्य समता की स्थापना में योग देती है; तो वह स्थापित बाह्य समता भी अन्य व्यक्तियों की आन्तरिक समता को जगाती और प्रेरित करती है। सर्वव्यापी समता की पारस्परिक प्रक्रिया ऐसी ही होती है।

समता-समाज को यह बिन्दु ध्यान में रखते हुए अपने कार्यक्रमों में आन्तरिक विषमता को घटाने व मिटाने के अभियान को प्राथमिकता देनी चाहिये ताकि आन्तरिक समताधारियों की एक सशक्त अहिंसक सेना तैयार की जा सके

और उसका वह जूझना न सिर्फ बाह्य समता की स्थापना को यत्र-तत्र और सर्वत्र साकार रूप दे, बल्कि बहुसंख्यक लोगों की आन्तरिक समता को भी प्राणवान् बनावे।

समता-साधक का जीवन धन्य होगा ही

अन्त में यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि जो समता की साधना करेगा, उसका स्वयं का जीवन तो धन्य होगा ही, वह समाज के जीवन को भी धन्य बनायेगा।

समता-समाज के साधकों के लिये यह ऊँचा लक्ष्य प्रकाशस्तंभ का काम दे और वे जीवन के सभी अन्दर-बाहर के क्षेत्रों में समता का प्रसार करे, यह वांछनीय है। क्रान्ति की मशाल को जो अपने मजबूत हाथों में पकड़ते हैं, वे उस मशाल से विकृति को जलाते हैं साथ ही प्रगति की दिशा भी प्रकाशित करते हैं। समता की मंजिल इसी मशाल की रोशनी में मिलेगी।

आचार्य देव के समतादर्शन रूपी चिन्तन-सागर से कुछ ही मुक्ताकरण यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं। ये समता दर्शन के लिये दिग्बोध का काम करते हैं।

वास्तव में समता को आचार्य श्री ने पूर्णतः आत्मसात् किया है, उसे सम्पूर्ण रूप से जिया है। अनुभूति के उन क्षणों को शब्द-बद्ध कर पाना शक्य नहीं है। यह जो कुछ दिग्दर्शन है, वह केवल आचार्य श्री के अनुभूतिमूलक चिन्तन से निःसृत विचारों का एक सन्दोह मात्र है इससे आचार्य श्री के दार्शनिक एवं सामाजिक विचार-जगत् का सामान्य परिबोध हो सकता है। यह परिबोध आचार्य श्री के जीवन-दर्शन की जाज्वल्यता का प्रथम परिचायक हो सकता है।

अन्त में यह कहते हुए किन्चित् मात्र भी संकोच नहीं करूँगा कि वह दिन भारत के लिये क्रान्तिकारी एवं सौभाग्य का होगा जब विश्व-मानव समता-दर्शन की पुनीत छाया में जाति, भाषा और वर्ण, आदि के कृत्रिम भेदों को भूलकर विश्व मानवता के आदर्श को अपनायेगा।

"नाना" निर्देशित समता का—
समुद्घोष यदि विश्व सुने,
दूर हो जन-जन व्याप्त विषमता,
सत् "शान्ति" साम्राज्य बने।

• • •

समीक्षण ध्यान

समीक्षण ध्यान

अन्तर्दर्शन

अधिक श्रेष्ठ होगा, एक छोटी-सी कहानी से मैं अपनी बात प्रारम्भ करूँ। बड़ा सुहावना-मनभावन मौसम, आकाश कहीं-कहीं छितरे किन्तु काले कजरारे मेघों की चादर ओढ़े हुए था। कभी-कभी किसी दिशा में बिजली कौंध जाती और हल्की सी गर्जना भी हो जाती। मौसम की अनुकूलता देख कुछ मछुआरे निकल पड़े अपनी टोकनियाँ लेकर–किसी झील के किनारे पहुँचे और अपने जाल झील में फैला दिये। सहसा छितरे बादल सघन हो गये। काली घटा घिर आई। देखते-देखते गर्जन-तर्जन के साथ मूसलाधार पानी बरसने लगा। शीघ्रता से अपनी जालें समेट कर सभी भागे, कहीं आश्रय पाने।

कुछ ही दूरी पर एक रमणीय उद्यान था। किन्तु वहाँ पहुँचते-पहुँचते वे सभी पूरे भीग चुके थे। बागवान से अनुनय किया—"हम ठिठुर रहे हैं, हमें कोई आश्रय दो।" बागवान सहृदय था, अपनी कोठरी के द्वार खोल दिये। बिखरे हुए फूलों को एकत्र किया और उनके सोने योग्य स्थान बना दिया। अपनी टोकनियों को कोठरी के बाहर पटक, वे सभी अन्दर जाकर सो गये।

सर्दी तो कुछ कम हुई किन्तु उन्हें नींद नहीं आ रही थी। सभी परेशान थे। रात्रि के बारह बजे करीब बागवान को आवाज दी—"भाई, हमें नींद नहीं आ रही है, बड़ी दुर्गन्ध आती है यहाँ तो, इस दुर्गन्ध में हम सो नहीं सकेंगे। क्या बिखरा है, यहाँ चारों ओर ?"

बागवान कुछ चतुर था, कहा—"भाई, यहाँ तो सुगन्धित पुष्प बिखरे हैं। चारों ओर सुवासित पुष्पों की पौध है। इसके अतिरिक्त तो यहाँ कुछ भी नहीं है।"

"भाई, इस सुगन्धि को जाने दो, हमें तो और कोई स्थान बताओ। हम इस दुर्गन्ध में नहीं सो सकेंगे।"

बागवान बुद्धिमान था, समझ गया कि इन्हें फूलों में दुर्गन्ध आती है। इनका स्वभाव मछलियों की टोकनियों में रहने का है। वही इन्हें सुगन्धित

लगती हैं। वह उठा, बाहर से उन सभी की मछली पकड़ने की टोकनियाँ उठा लाया और उन्हें देते हुए कहा—"लो, इन्हें अपने मुँह पर ढक लो, देखो अभी निद्रा आती है।" और सच में उन्हें कुछ ही क्षणों में नींद ने आ घेरा।

कहानी कितनी सच है, कहा नहीं जा सकता। किन्तु आज के जन-जीवन पर यह पूर्णतः घटित होती है। वैभाविक परिणतियों एवं भौतिक उपादानों के बाह्य परिवेश में जीता हुआ आम जन-मानस बाहर की इस यात्रा का इतना अभ्यस्त हो गया है कि अन्तर्यात्रा ही उसे दुर्गन्धमय लगने लगी है। बाहर के सभी-साधन संयोग, जो वास्तव में क्षणिक सुखदायी हैं, अतः दुर्गन्धमय ही हैं, तथापि वे ही सब कुछ माने जाने लगे हैं। अन्तर्यात्रा की न उसे प्यास है और न इसके लिये उसके पास अवकाश ही। बल्कि भौतिक उपादानों के एकत्रिकरण की प्यास ही तीव्र से तीव्रमय होती जा रही है। परिणाम भी हमारे सामने हैं—मानसिक तनाव, वायु प्रदूषण के द्वारा स्नायविक विकार एवं अनेक विकृतियों से परिवेष्टित जिन्दगी का भार।

यह वैपरीत्याभास इतना तीव्र हो चला है कि सत्-असत् और असत्-सत् भासित होने लगा है। अविनाशी विनश्वर और विनाशी अविनश्वर लगने लगा है। हेय में उपादेयता का और उपादेय में हेयता का बोध उत्पन्न हो गया है। और यह सब हो रहा है एक लम्बे अभ्यास के कारण।

तथापि यह हर्ष का विषय है कि इस अति ने अब हल्की सी करवट ली है। बुद्धिवादियों एवं विचारकों ने इस ज्वलन्त समस्या का अनुभव किया है। वैज्ञानिक स्वयं भी अपने तथाकथित विकास की अति से हत-प्रभ हो, चिन्ता मग्न हुए हैं। तकनीकी विकास और उसके परिणामस्वरूप वायु प्रदूषण के द्वारा होने वाले मानसिक एवं शारीरिक रोगों की बेमाप वृद्धि ने इनकी विकास में संलग्न प्रज्ञा को झकझोरा है। अब उच्चतम बौद्धिकों को यह अनुभव होने लगा है कि हमारी विकास की दौड़ विपथगामी थी। हम पूर्व की बजाय पश्चिम में धावमान थे। हमारी यात्रा की दिशा ही गलत हो गई थी। हम अन्तर में नहीं, बाहर में ही सब कुछ ढूँढ़ रहे थे।

और इस चिन्तन ने पुनः आम आदमी का ध्यान अध्यात्म की ओर खींचा। तनाव की चरम सीमा ने अध्यात्म शक्ति की ओर उन्मुख होने को बाध्य कर दिया और साधना के विभिन्न आयाम उपस्थित हुए। विपश्यना, सक्रिय ध्यान एवं प्रेक्षा ध्यान जैसे विभिन्न मनोरंजक, सागर की सतह पर तैरने के समान कुछ उथले प्रयोग चले। कुछ लोगों को सामयिक शान्ति मिली, एक आकर्षण बढ़ा, किन्तु इन सभी प्रयासों में देह एवं श्वास-प्रश्वास पर ही अधिक बल दिया गया। आत्म शक्ति को प्रायः ओझल ही रखा गया। परिणामतः क्षणिक स्नायविक विश्रान्ति के अतिरिक्त इससे अधिक लाभ नहीं मिल सका।

उदयपुर के कुछ बुद्धिजीवियों ने भी इस समस्या का अनुभव किया और उसे अपने आराध्य, समता साधना के ज्वलन्त प्रतीक, समता-विभूति आचार्य प्रवर श्री नानालालजी म० सा० के चरणों में प्रस्तुत किया। उसी के प्रतिफलन के रूप में समीक्षण ध्यान का प्रगटीकरण हुआ है।

आचार्य प्रवर स्वयं एक ध्यानयोगी साधक हैं। ध्यान की तलस्पर्शी अनुभूतियों का सन्दोह है उनके पास। अतः वे इसके वैधानिक अधिकारी हैं। उन्होंने अपनी इस साधना पद्धति को 'समीक्षण ध्यान' की संज्ञा प्रदान की। समीक्षण का अर्थ है—'सम्यग्+ईक्षण' सम्यग्प्रकार से अथवा समतापूर्वक देखना। विपश्यना एवं प्रेक्षा ध्यान प्रणालियों में केवल 'ईक्षण'—देखने को महत्त्व प्रदान किया गया है जबकि देखना उभयमुखी होता है। सम्यग् भी और मिथ्या भी। अतः समीक्षण ध्यान की महत्ता इस अर्थ में और बढ़ जाती है कि वह वीतराग सम्मत सम्यग्दर्शन में अन्तर्गभित होकर मोक्ष मार्ग के त्रिअंगों में स्थान प्राप्त कर लेता है। विपश्यना, प्रेक्षा अथवा सक्रिय ध्यान की पद्धतिया में वह अर्थवत्ता ध्वनित नहीं होती जो समीक्षण शब्द में होती है, क्योंकि इसे "पण्णा समिक्खए धम्मं" वाला आगमिक आधार भी प्राप्त है।

प्रस्तुत विधि के उद्भव की एक सामान्य सी भूमिका है। उदयपुर वर्षावास समाप्ति पर था, प्रबुद्ध वर्ग में कुछ जिज्ञासा बढ़ी कि हम प्रतिदिन प्रवचन सुनकर भी कोरे के कोरे हैं। साधना की दिशा में हमने कोई रचनात्मक कदम नहीं बढ़ाए........। और एक दिवस कुछ बन्धुओं ने पूज्य चरणों में निवेदन किया—"आचार्य देव, आप अपने प्रवचनों में समीक्षण-ध्यान की बहुत चर्चा किया करते हैं। हम उसका प्रेक्टिकल (रचनात्मक) दिग्बोध चाहते हैं।"

आचार्य प्रवर ने मधुर स्मिति के साथ कहा—"बड़ा हर्ष का विषय है, आप में ध्यान के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न हुई है। साधना की रूपरेखा मेरे मानस में स्फुरित हुई। मैं लम्बे समय से उसे प्रयोग के पथ पर आत्मसात् करता रहा तथा उसके कुछ सामान्य संकेत भी प्रवचन के माध्यम से देता रहा। किन्तु समाज की वैसी भूमिका की प्रतीक्षा में था। आज वह भी आप लोगों के माध्यम से समक्ष प्रस्तुत है।"........और आचार्य प्रवर की आत्मस्पर्शी अनुभूतियाँ अभि-व्यञ्जित होने लगीं।

'समीक्षण ध्यान के अनुसन्धान' के रूप में आचार्य प्रवर ने जो उद्बोधन दिया, वह उदयपुर वर्षावास की सर्वतो महत् उपलब्धि है, जो कि आचार्य प्रवर के वैचारिक परिवेश एवं उनकी ध्यान साधनागत स्थिति को स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रदान करती है, अतः आचार्य प्रवर के वैचारिक परिवेश का सम्यग्बोध प्राप्त करने हेतु इसका प्रस्तुतिकरण मैं अनिवार्य मानता हूँ और मेरा विश्वास है कि

ध्यान की इस नूतन विधा से आचार्य प्रवर के व्यक्तित्व को तो सम्यक् अभिव्यक्ति मिलेगी ही, किन्तु इससे मुमुक्षु ध्यान साधकों को एक अभिनव प्रयोगात्मक दिशा भी प्राप्त होगी, अस्तु ।

प्रयोग-विधि प्रवेश

वर्तमान युग विभिन्न झंझाओं से आक्रान्त है। वायु प्रदूषण के समान मन:प्रदूषण भी अपनी चरम सीमा का स्पर्श कर रहा है। विज्ञान के नित नूतन आविष्कारों ने जहाँ सुविधाओं के अम्बार लगाए हैं, वहाँ उद्दाम लालसाओं के द्वारा मानसिक तनावों में भी वृद्धि की है। आज का आम व्यक्ति एक मशीन-सी जिन्दगी जी रहा है, जिसे न अपने परिवेश का सम्यग्बोध है और न अपने परिपार्श्व का। इन्सान खोया-खोया-सा जिन्दगी का भार ढो रहा है। उसे अपने ओर का पता है न छोर का।

इस सब के उपरान्त भी अध्यात्मवादियों के हर्ष का विषय यह है कि भौतिक विज्ञान के अथक विकास ने इन्सान को अध्यात्म की ओर उन्मुख होने की परोक्ष प्रेरणा भी प्रदान की है। जब सुविधावाद ने अपना जाल फैलाया और अनेक भौतिकविदों को फँसाने का प्रयास किया तो अपनी चरम परिणति में वह स्वयं भी उसका शिकार बन गया। परिणामत: चिन्तन ने स्वस्थ मोड़ लिया और अध्यात्म साधना पर आम व्यक्ति का दृष्टिकोण सक्रिय होने लगा। तनाव-मुक्ति की जिज्ञासाओं ने समाधान की अपेक्षा का अनुभव किया। फलस्वरूप साधना के परिदृष्ट आयामों पर ध्यान केन्द्रित हुआ। जिज्ञासाओं के बाहुल्य ने समाधानों के भी अम्बार लगाए। यह अलग बात है कि अधिकांश समाधान भी असफल होकर रह गए।

चूंकि जिज्ञासा तनाव-मुक्ति की है, अत: समाधान के सन्दर्भ भी वे ही अपेक्षित हैं। तनाव आभ्यन्तरिक सन्दर्भों से अनुवेष्टित है, अत: समाधान भी आभ्यन्तरिक ही होने चाहिये। और वे होंगे मन:साधना के सन्दर्भ।

मन:साधना के अगणित प्रयोग प्रचलित हुए हैं। हठयोग, भक्तियोग, लययोग, कर्मयोग, सहजयोग आदि। किन्तु सहजयोग के अतिरिक्त प्राय: सभी प्रयोग एक सीमा तक जाकर अपनी उपयोगिता को अवरुद्ध कर लेते हैं। अत: महावीर-दर्शन ने सहजयोग की साधना को ही अधिक सम्पुष्टि प्रदान की है। सहजयोग की साधना के द्वारा ही तनाव-मुक्ति एवं उसकी फलश्रुति के रूप में अमाप शान्ति का साक्षात्कार किया जा सकता है। सहजयोग की साधना "आत्मानं विद्धि" अर्थात् आत्म-दर्शन की साधना है। इसकी प्रारम्भिक भूमिका है—मन:साधना।

मनस्साधना में चित्त वृत्तियों के नियंत्रण-संशोधन का प्रमुख प्रावधान है। यहीं आकर "योगश्चित वृत्ति संशोध:" वाली परिभाषा सार्थक होती है। किन्तु चित्त वृत्तियों की विशुद्धि सहज साध्य नहीं है। अनन्त-अनन्त काल से विपथ पर धावमान चित्त को नियंत्रित बना लेना सहज हो भी कैसे सकता है? इस पर संख्यातीत साधकों ने अगणित प्रयोग किये और अपनी अनुभूति को अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया। भटकते साधकों को सामयिक समाधान मिले। साध्य की दिशा में गति बढ़ी। किन्तु स्थायी समाधान स्वानुभूति की अपेक्षा रखता है। अनुभूति बोध से गुजरे बिना साधना की उपयोगिता सदा संदिग्ध ही बनी रहती है तथापि अनुभूतियों के निर्देशन अथवा अभिव्यञ्जन की शृंखला में एक कड़ी के संयोजन का विनम्र-सुगम किन्तु सशक्त प्रयास यहाँ प्रस्तुत है, जिसे प्रारम्भिक ध्यान साधक अथवा मनस्साधक के लिए अतीव उपयोगी माना जा सकता है।

भूमिका-शुद्धि

साधना का अर्थ है—बाहर से सिमट कर अन्तरंग में प्रवेश करना। विशृंखलित चित्तवृत्तियों को विशोधन पूर्वक नियंत्रित करना। अनादि अनन्त काल से चित्तवृत्तियाँ बहिर्मुखी बनी हुई हैं, उनमें अस्थैर्यपूर्ण भटकाव है। उन्हें सुनियोजित करने के लिए एक विशेष प्रकार की भूमिका ही अपेक्षित है। बीज वपन के पूर्व कृषक क्षेत्र पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। चित्र-निर्माण के पूर्व कलाकार फलक-चित्रपट की विशुद्धि एवं उसके उचित अनुमाप को अवश्य देख लेता है। ठीक इसी प्रकार, विकेन्द्रित वृत्तियों के नियंत्रण के पूर्व स्थान एवं वातावरण की विशुद्धि के साथ तीव्रतम संकल्प शक्ति की अपेक्षा भी अनिवार्य है।

संकल्प

सर्व प्रथम मनस्साधना के प्रति तीव्रतम संकल्प की आवश्यकता है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि हमारे संकल्प ही हमारे विकास एवं ह्रास की दिशा का निर्धारण एवं वरण करते हैं। हम जितने संकल्प से किसी भी आचरण के प्रति सक्रिय होते हैं, उतनी ही मात्रा में हम सफल भी होते हैं। अत: साधना के क्षणों में उपस्थित होने से पूर्व हमारा मनस् संकल्प से भर जाए। तीव्रतम संकल्प हो कि आज मैं निश्चित रूप से साध्य के प्रति अधिक गतिशील बनूँगा। और यह स्मरण रहे कि हमारा वह संकल्प सकर्म बन कर ही विश्रान्ति ले।

स्थान एवं वातावरण

तीव्र संकल्प के साथ क्षेत्र एवं वातावरण का प्रभाव भी साधक-चित्त को

उद्वेलित करता है। साधना के लिए सर्वोत्तम उपयोगी स्थान एकान्त, नीरव एवं सभी प्रकार के इन्द्रियाकर्षणों से रहित होना चाहिये। पुन: पुन: उठने वाला जनरव प्रारम्भिक ध्यान साधक को विचलित करता रहता है। परिणामत: सफलता में समय की दूरी बढ़ जाती है, अत: द्रव्य एवं भाव उभय मुखी शुद्धि वाला स्थान ही साधना की उचित भूमिका का निर्वहन कर सकता है।

इसी प्रकार ध्यान साधक को परिपार्श्विक वातावरण पर भी दृष्टि केन्द्रित करनी होती है। भौतिक ऐश्वर्य एवं बाह्य आकर्षणों से घिरा हुआ साधक अन्त:प्रवेश की साधना में शीघ्र सफल नहीं हो सकता। अन्त:प्रवेश के लिए सहजता अनिवार्य है और वह सहज सरल परिधान एवं पर्यावरण के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। साधक के वेश-विन्यास एवं रहन-सहन में जितनी सात्विकता-सादगी होगी, चित्त उतना ही शीघ्र साधना के प्रति समर्पित होगा। यह अनावश्यक है कि साधना में बैठने के पूर्व साधक अपने बाह्य परिवेश को भी सहजता प्रदान करे। 'सादा जीवन उच्च-विचार' यह सामान्य सूक्त साधक जीवन का अभिन्न अंग बन जाए। क्योंकि परिवेश के साथ विचारों का गहरा सम्बन्ध है। सीधी-सादी पोशाक विचारों की ऋजुता में निमित्त बनती है तो तड़क-भड़कपूर्ण परिवेश विचारों की वक्रता में सहयोगी बनता है। अत: परि-पार्श्विक वातावरण की सहजता को भी साधना की भूमिका के रूप में स्वीकार किया जाय।

समय की नियमितता

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से समय के साथ भी मन के कुछ तादात्म्य स्थापित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए—तीन बजे चाय पीने की आदत मन को तत्काल प्रभावित करती है। तीन बजते ही मन सहजतया चाय की स्मृति में खो जाता है। ठीक यही स्थिति साधना की भी बनती है। साधना हेतु जिस भी औचित्यपूर्ण समय का निर्धारण किया जाता है, उसी समय मन उन पवित्र विचारों का वाहक बन जाता है। अत: समय की नियमितता भी साधना का एक अंग बन जाती है। अर्थात् यदि साधक को चार बजकर दस मिनिट पर साधना के लिए प्रस्तुत होना है तो प्रतिदिन उसी समय उसे साधना में उपस्थित हो जाना चाहिये। न एक मिनिट आगे, न पीछे। समय की यह नियमितता साधक चित्त को अधिक सक्रियता प्रदान करेगी और मनोनियमन में भी शीघ्र सफलता प्राप्त होगी। यहाँ यह चिन्तन आवश्यक है कि दैनिक चर्या में उसी उपयुक्ततम समय का निर्धारण हो, जिसमें शारीरिक, पारिवारिक अथवा सामाजिक किसी प्रकार के व्यवधान उपस्थित न हों। और वह सर्वोत्तम समय होगा अपर रात्रि-ब्रह्म मुहूर्त।

विधि-क्रम

पूर्व निर्देशनों के औचित्य-निर्धारण के साथ यदि साधनाकाल अपर रात्रि निर्धारित होता है, तो साधना-काल के आधा घंटा पूर्व निद्रा भंग एवं आसन-बिछौना परित्याग आवश्यक है। उस तीस मिनिट के काल में यदि आवश्यक हो तो दैहिक चिन्ताओं से निवृत्त हो, निश्चित किन्तु उपयुक्त स्थान पर प्रमार्जनिका से स्थान प्रमार्जन कर सामान्य पतले आसन पर साधना-सामग्री—माला, मुख वस्त्रिका आदि लेकर बैठा जाय। सामायिक सुविधा को दृष्टिगत रखते हुए सामायिक अथवा संवर के प्रत्याख्यान किये जाएं। प्रमाद-निवारण एवं सजगता साधने हेतु सामायिक प्रत्याख्यान के पूर्व पूर्वाभिमुख ग्यारह बार पंचाग-नमन-वन्दन 'तिक्खुतो' के पाठ के उच्चारण के साथ किया जाना आवश्यक है। विधिपूर्वक वन्दन से आलस्य तो टूटेगा ही साथ ही विनय भाव की भी अभिवृद्धि होगी, जो कि साधना का मूल सेतु है। विनय-अभिवृद्धि का सीधा अर्थ है—अहंकार पर चोट। अहंकार पर चोट का प्रतिफल होगा लाघवता एवं चेतना का ऊर्ध्वारोहण। अतः साधक-चित्त के निर्माण के लिए विनय अनिवार्य है और वह प्राप्त होगा वन्दन-नमन के द्वारा।

विधिपूर्वक वन्दन का दूसरा लाभ और होगा—सहजरूप से योगासन की साधना। विधि के अनुसार तीन आवर्तनपूर्वक ऊठ-बैठकर पंचांग नमन होता है। आवर्तनों के द्वारा सीने के कोष्ठकों (माँस-पेशियों) में हरकत होती है, उनमें अधिक सक्रियत्तापूर्वक रक्त-संचार होता है, फलस्वरूप सीने (वक्षस्थल) का व्यायाम हो जाता है। साथ ही प्राण-वायु (ऑक्सीजन) की मात्रा अधिक प्राप्त होने से जीवन-शक्ति का भी विकास होता है। इस प्रकार वन्दन की इस सामान्य-सी प्रक्रिया में अहंकार विसर्जन के द्वारा आध्यात्मिक एवं व्यायाम तथा प्राण-वायु संवर्द्धन के द्वारा शारीरिक, उभयमुखी लाभ प्राप्त होता है। विधि एवं विवेकपूर्वक सामायिक अथवा संवर ग्रहण करने के पश्चात् पद्मासन अथवा अन्य किसी सुखासन (जिसमें किसी प्रकार का तनाव न हो) से बैठा जाए। स्मरण रहे आसन अथवा बैठक इस प्रकार हो कि उसमें मेरु-दण्ड (रीढ़ की हड्डी) सीधा-सरल हो ताकि प्राणों के संचार में किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित न हो।

अन्तर्यात्रा

उपर्युक्त विधि-क्रिया के उपरान्त हमारी अन्तर्यात्रा प्रारम्भ होती है। प्रायः सम्पूर्ण जीवन बाहर की यात्रा में गतिशील है। चौबीसों घंटों इन्सान बहिर्दर्शन की ओर दौड़ रहा है। अन्तर्दर्शन की न तीव्र प्यास है और न अभिरुचि। बाहर की प्रतिस्पर्धात्मक दौड़ में उसे अवकाश भी नहीं कि वह अन्तर्यात्रा के सम्बन्ध में भी कुछ चिन्तन कर सके। किन्तु जब साधक-चित्त का सृजन हो

जाता है, तो अन्त:प्रवेश की प्यास जागृत होती है, अभिरुचि में सामान्य-सा मोड़ आता है, साधना के लिए समुचित मनोभूमि का निर्माण होता है, और ऐसी स्थिति में चित्त वृत्तियों को सम्यग् दिशा प्रदान करने में विशेष कठिनाई नहीं होती है।

संकल्प की दृढ़ता, परिवेश की शुद्धता, वातावरण की पवित्रता तथा विनय-विवेक के साथ त्याग-भावना की ओजस्विता के द्वारा साधना के लिये उपयोगी भूमिका का निर्माण हो जाता है। अब आवश्यकता है मन को सुझाव व निर्देशन देने की। सर्वप्रथम मन के लिए यह निर्देश अपेक्षित है कि वह कम से कम साधना काल तक अर्थात् पचास अथवा न्यूनाधिक मिनिट तक आपके निर्देशों का अनुगामी बने। उसकी समस्त बहिर्गामी दौड़ रुक जाए। वह आपके इशारों का अनुसरण करे। यह निर्विवाद है कि जितने तीव्र संकल्प के साथ मन को सजेशन (निर्देश) दिये जाएंगे, निर्देशों का अनुपालन उतनी ही अधिक सक्रियता के साथ होगा। अत: निर्देशों के साथ संकल्प का संयुक्तीकरण अनिवार्य है। साधक इतने अधिक ऊर्जस्विल संकल्प का सहयोग ले कि मन की समस्त वृत्तियाँ अपने केन्द्र का अतिक्रमण नहीं कर सके। किसी भी प्रकार की झंझाएँ उसे डोला न सकें और कोई भी रागात्मक अथवा द्वेषात्मक वृत्ति उसे आकर्षित नहीं कर सके। तीव्रतम संकल्प के बल पर निश्चित अवधि तक इन्द्रियों पर सम्यग् नियन्त्रण साधने का प्रयास भी अनिवार्य है।

परमोच्च भावना के साथ परमात्म भाव की साक्षी से यह संकल्प किया जाय कि मैं इस (५० मिनिट की) अवधि में किसी भी प्रकार के दृश्य-श्रव्य आदि विषयों के आकर्षण-विकर्षण में नहीं उलझूंगा। कोई भी पापजनक असत्यप्रवृत्ति मेरे द्वारा नहीं होगी। रस, गंध एवं स्पर्श के लुभावनेपन पर भी नियंत्रित रहते हुए सभी इन्द्रियों को अप्रशस्त से हटाकर प्रशस्त सम्बल प्रदान करूँगा। साथ ही पानी, अग्नि आदि एकेन्द्रिय प्राणियों की भी रक्षा करता हुआ विश्व मैत्री की उच्च भावना का सृजन करूँगा।

मन एक बालक

इन सब संकल्पों की सम्पूर्ति हेतु यह आवश्यक है कि मन को शृङ्खलाबद्ध कार्यक्रम में नियुक्त कर दिया जाय। एक अंग्रेजी लोकोक्ति है कि "वेकेन्ट माइण्ड इज डेविल'स् वर्कशाप" अर्थात् खाली दिमाग शैतान का घर होता है। अस्तु मन को विपथगामिता से उपराम पाने के लिए उसे सम्यग् दिशा प्रदान करना आवश्यक है। यहाँ मुझे एक छोटी-सी घटना का स्मरण आ रहा है। एक बालक के हाथ में कुल्हाड़ी आ गई। बस, वह किवाड़, फर्नीचर आदि पर प्रहार करने लगा। माँ परेशान हो गई। बालक चंचल था, समझाने के सभी प्रयास निष्फल हो रहे थे। सहसा एक विचारक उस मार्ग से निकल रहे थे। उन्होंने माता की

परेशानी को समझा। बालक को निकट बुलवाया, उसके सिर पर स्नेह से हाथ फिराते हुए कहा—"बेटे, तुम काम करने में बहुत चतुर हो, तुम कितनी शीघ्रता से काम सम्पन्न कर देते हो।" जलाऊ लकड़ी (ईन्धन) की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा—"देखो बेटा, वे लकड़ियाँ पड़ी हैं, उनके जलाने लायक छोटे-छोटे टुकड़े करना है। देखें, कितनी जल्दी करते हो।"

बस किशोर को काम मिल गया। उसकी कुल्हाड़ी ध्वंस के बजाय सृजन में लग गई। माता की समस्या समाहित हो गई और उसका एक अधूरा पड़ा कार्य भी सम्पन्न हो गया।

हमारा मन भी उस बालक के समान है। जब तक उसे व्यवस्थित दिशा नहीं मिल जाती, किसी भी सत्प्रवृत्ति का आधार नहीं मिल जाता, वह उछल-कूद करता रहता है। विध्वंस के ताने-बाने बुनता रहता है। क्योंकि मन का स्वभाव ही मनन करना है, गतिशीलता है। उसकी गति तो होगी ही, उसे मनन से रोका नहीं जा सकता है। मन:साधना का अर्थ इतना ही है कि मन की दिशा को बदल दिया जाय। उसे असत् से हटाकर सत्प्रवृत्ति में संयोजित कर दिया जाय। विभाव से मोड़कर स्वभाव का प्रशस्त मार्ग दिया जाय।

हमारी चेतना अनन्त अनादि से कर्म बन्धन से सम्पृक्त है। कर्म की कालिख उसकी विशुद्ध अवस्था को आवृत्त कर मलिन बनाए हुए है। वही कालुष्य मनोवृत्तियों को भी विकृत बनाता रहता है। तात्पर्य यह है कि अनादि-कालीन कर्मजनित काम, क्रोधादि की वासना मन के केन्द्र को विकृत करती रहती है। यही वासना समस्त विषमताओं, विद्वेषों एवं विरूपताओं की जननी है। चूँकि यह अनादिकालीन है, अत: इस पर त्वरित विजय नहीं हो पाती है। मनोवैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण इस विजय में सहयोगी बन सकता है। यहाँ यह विशेष रूप से समझ लेना चाहिये कि मनोवृत्तियों का अवरुन्धन साधना का उद्देश्य नहीं है, साधना का उद्देश्य है—वृत्तियों का संशोधन, उदात्तीकरण अथवा रूपान्तरण और वह संशोधन, उदात्तीकरण अथवा रूपान्तरण होगा समीक्षण ध्यान-साधना के द्वारा।

समीक्षण–अर्थ–सन्दर्भ

समीक्षण शब्द का अर्थ है—सम्यक् प्रकार से अथवा समतापूर्वक देखना निरीक्षण करना। 'सम+ईक्षण' इन दो शब्दों के मेल से 'समीक्षण' शब्द बना है। 'सम' का अर्थ है—समता अथवा सम्यक् और 'ईक्षण' का अर्थ है—देखना। अत: समीक्षण का तात्पर्य हुआ अपनी ही वृत्तियों को सम्यग्रीत्या समभाव पूर्वक निश्चित रूप से देखना। इस अर्थ में चित्त वृत्तियों के सम्यग्निरीक्षण को भी साधना का अनिवार्य अंग माना गया है। किसी वस्त्र की धुलाई के पूर्व यह

जान लेना आवश्यक होता है कि उस पर कितने और किस-किस प्रकार के दाग लग रहे हैं, कितना प्रयास अपेक्षित होगा इन दागों को छुड़ाने-मिटाने में। ये दाग तेल घृतादि चिकने पदार्थों के तो नहीं हैं ? इस जानकारी के उपरान्त ही वस्त्र का सम्यक् प्रक्षालन प्रारम्भ किया जाता है। ठीक इसी प्रकार से समीक्षरण ध्यान-साधना के द्वारा चित्तवृत्तियों का सम्यग् अवलोकन होना आवश्यक है। मन पर किस प्रकार की अप्रशस्त वृत्तियाँ हावी हो रही हैं ? कौन-कौन से चिकने दाग मन की चादर को कलुषित बना रहे हैं ? तथा कितनी साधना के द्वारा उस कालुष्य से मुक्ति प्राप्त हो सकती है ? आदि। यद्यपि समीक्षरण ध्यान की उपयोगिता यहीं तक सीमित नहीं है, उसकी उपयोगिता आत्म-दर्शन की पराकाष्ठा पर जाकर निःसीमता में रूपान्तरित हो जाती है। तथापि यहाँ उसकी प्रारम्भिक उपयोगिता का निर्देशन मात्र किया गया है।

समीक्षरण ध्यान एक अन्तःप्रज्ञा चक्षु है, जिसके द्वारा अन्तरंग को देखा जाता है जहाँ बाहर के चर्म चक्षु अपनी स्थूल रूप बोध की परिधि में अवरुद्ध हो जाते हैं, उससे ऊपर अन्तरचक्षु के रूप में समीक्षरण ध्यान का कार्यक्षेत्र प्रारम्भ होता है। यह ईक्षण-देखना मनोवृत्तियों का होगा। उस पर लगे कालुष्य दाग का होगा। किन्तु वह होगा समत्वपूर्वक। क्योंकि समत्वपूर्वक किया जाने वाला निरीक्षण ही पक्षपात से रहित होगा और निरपेक्ष भाव से मनःशुद्धि के कार्यक्षेत्र में सक्षम होगा। यदि ध्यान के उन क्षणों में भी निरपेक्षता नहीं आएगी तो मन पुनः भौतिक आकर्षणों में उलझ जाएगा। लुभावने प्रलोभनों का शिकार हो जाएगा। अस्तु, समीक्षण ध्यान की प्रारम्भिक भूमिका में केवल चित्तवृत्तियों के सम्यग्निरीक्षण का कार्य होगा और वह इतना ही कि मन किन-किन अशुभ प्रवृत्तियों में गतिशील होता है ? उसकी राग-द्वेषात्मक एवं वैकारिक वृत्तियाँ कितनी तीव्र हैं ? उन वृत्तियों के उद्दीपन में कौन-कौन से निमित्त कारण हैं ? उनकी निवृत्ति के लिए कौन से प्रयास सफल हो सकते हैं ? इस प्रकार का अनुचिन्तन पूर्ण निरीक्षण समीक्षण ध्यान की भूमिका का कार्य करेगा।

व्यवहार-दर्शन

समर्पण की इस प्रक्रिया के उपरान्त पुनः व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित स्थूल चिन्तन पर आ जाना श्रेष्ठ होगा। चूँकि मानव सामाजिकता से अनुबन्धित होता है, अतः उसे समाज एवं परिवार से सम्बद्ध अनेक प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होना पड़ता है। और यह उसके व्यावहारिक जीवन की अनिवार्यता भी है। किन्तु साधक-चित्त मानव के लिए यह चिन्तन अपेक्षित है कि पारिवारिक दायित्वों के निर्वहन हेतु जिन किन्हीं विवशताओं से गुजर कर असत्य आदि अशुभ प्रवृत्तियों में संलग्न होना पड़ा हो, उन्हें आत्मिक दुर्बलता जन्य विवशता ही माना जाय। अशुद्ध को अशुद्ध के रूप में सहजता पूर्वक स्वीकार किया जाय।

व्यवसाय आदि में भी जहाँ कहीं असत्य आदि अनैतिक आचरणों का सहारा लेना पड़ रहा हो, उसे भी अपनी मानसिक दुर्बलता मानकर उसके प्रति हार्दिक पश्चात्ताप किया जाय और यह चिन्तन भी किया जाय कि वह दिवस मेरे लिये परम सौभाग्य का होगा जबकि मैं इन दुर्बलताओं एवं विवशताओं से ऊपर उठ कर समस्त असत् प्रवृत्तियों से मुख-मोड़ कर आत्म-दर्शन के लक्ष्य के प्रति समर्पित बनूँगा।

विवशताजनित असत्प्रवृत्तियों के प्रति पश्चात्ताप के साथ ही असावधानी, प्रमाद एवं आलस्यवश विगत २४ घन्टों में हुई त्रुटियों के लिए भी सघन पश्चात्ताप करते हुए कोई सशक्त प्रायश्चित्त रखना आवश्यक है। प्रायश्चित्त से पूर्व यह निर्धारण अनिवार्य होगा कि उन प्रमादजनित अशुभ प्रवृत्तियों का अनुगणन किया जाय। दिन भर में किस प्रमत्त भाव में कौनसी असत्प्रवृत्ति हुई ? कितनी मात्रा में मलिन विचारों ने अपना प्रभाव दिखाया ? ताकि प्रायश्चित्त की मात्रा का निर्धारण भी सम्यक् प्रकारेण हो सके। प्रायश्चित्त इस प्रकार का हो कि उसका मन पर गहरा प्रभाव अंकित हो सके और इसके लिए सुगम उपाय यह है कि मन की अत्यन्त प्रिय वस्तु उसे नहीं दी जाए। अर्थात् कोई खाद्य-पदार्थ, जिस पर मन की अत्यधिक आसक्ति हो, छोड़ दिया जाए। इस प्रक्रिया का प्रभाव तो मन पर होगा ही, साथ ही मन को कुछ सशक्त निर्देश भी प्राप्त होंगे कि वह पुनः वैसी त्रुटि के प्रति प्रवृत्त न हो। इस निर्देश के सत्परिणाम कुछ दीर्घकालावधि अवश्य चाहेंगे, किन्तु वे होंगे प्रभावशील।

मन को दिये जाने वाले निर्देशनों में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि विवशताओं एवं प्रमत्तताओं से होने वाली भूलों को उसी क्रम से उसी सक्रिय सशक्तता के साथ परिमार्जित किया जाय ताकि समीक्षण की क्रिया भी वैधानिक रूप ले सके।

यह निश्चित है कि सभी त्रुटियों का समीक्षण, निरीक्षण अथवा परिमार्जन एक साथ नहीं हो सकेगा तथापि स्थूल प्रवृत्तियों से उपराम पाते हुए सूक्ष्म दोषों को भी परिमार्जित किया जा सकेगा।

आत्मावलोकन अथवा व्यवहार दर्शन की इस प्रक्रिया में तब तक संलग्न रहना चाहिये जब तक चित्त में उत्साह-उमंग हो, मन की क्षुधा बनी रहे—मन चाहे कि अभी कुछ समय और यही चिन्तन किया जाय। इस प्यासपूर्ण स्थिति में ही—ऊब के पूर्व साधना के आयाम में कुछ परिवर्तन कर देना अधिक श्रेष्ठ होगा। क्योंकि प्रारम्भ में ही मन को ऊबा देने से पुनः उसी साधना-क्रम में गति लाना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

परमोच्च आदर्श—द्वितीय चरण

जीवन के व्यावहारिक परिवेश में मनोवृत्तियों के समायोजन के उपरान्त

पुनः साधना के द्वितीय चरण आत्म-लक्ष्य में प्रवेश अपेक्षित है। वह चरण होगा आदर्श-स्थैर्य का। किसी उच्च आदर्श की स्थिरता के अभाव में साधना में निराबाध गति नहीं हो सकती है। साधना ही नहीं किसी भी कार्य के प्रति समर्पित होने के पूर्व किसी आदर्श की परिकल्पना अनिवार्य मानी गई है। एक व्यवसायी व्यवसाय-क्षेत्र में उतरने के पूर्व किसी समर्थ व्यवसायी को आदर्श मानकर अपने क्षेत्र में गति करता है। ठीक इसी प्रकार से साधना के क्षेत्र में चरण गतिशील हों, इसके पूर्व किसी आदर्श की अनिवार्यता अपरिहार्य है। हाँ, वह आदर्श हो परमोच्च एवं परम श्रेष्ठ। आदर्श जितना उच्चतम होगा, साधना की गति उतनी ही ऊर्ध्व होगी। अतः आदर्श के निर्धारण में सजग वृत्ति की नितान्त आवश्यकता है। आदर्श वह होना चाहिये जो लक्ष्य का सर्वोत्तम प्रतिमान हो और साधना के क्षेत्र में वह होगा आत्मा का सर्व विशुद्ध रूप सिद्धावस्था का। आदर्श के अनुचिन्तन में साधक का प्रथम चिन्तन होगा मेरा जीवन केवल वर्तमान परिवेश-मानव पर्याय तक ही सीमित नहीं है। अनादि अनन्त के संसरण में मैं अनेक योनियों में मनुष्य, तिर्यञ्च एवं नरक की पर्यायों में भ्रमण कर चुका हूँ। अनन्त पुण्य के शुभ संयोग का परिणाम है, यह मानव का तन। उससे भी अधिक पुण्य का प्रतिफल है आर्य क्षेत्र एवं सुकुलोत्पत्ति। और अधिक प्रवल पुण्य का प्रभाव है—अध्यात्म के अनुकूल वातावरण का प्राप्त होना।

इस सब संयोग की उपलब्धि के उपरान्त भी यदि मैं आत्म कल्याण के लक्ष्य से विचलित रहा, पुण्यमय संयोगों का सम्यगुपयोग नहीं किया, भौतिक पदार्थों के अर्जन-सर्जन में ही अमूल्य उपलब्धि एवं बहुमूल्य समय को समर्पित करता रहा तो क्या अर्थ होगा इस सब उपलब्धि का ? क्या मैं दृढ़ विश्वास के साथ आत्म साक्षी से कह सकता हूँ कि मुझे पुनः आगामी जन्म में ये संयोग सुलभ हो जाएँगे ? यदि यह आत्म विश्वास सुदृढ़ नहीं है तो मुझे किस प्रकार के प्रयासों के प्रति संलग्न होना चाहिए। केवल भौतिक उपादानों की उपलब्धि का मार्ग अन्धकाराच्छन्न मार्ग है। अन्धकार की ओर गतिशील होना मेरा लक्ष्य नहीं है। इन्द्रियों के आकर्षण भी चेतन सत्ता को अन्धकार की ओर ही ले जाते हैं। समस्त दृश्य, श्रव्य एवं आस्वाद्य पदार्थ मुझे अपने आदर्शभूत लक्ष्य से विचलित करने वाले हैं। मुझे इन सब से ऊपर उठकर परम चेतना के साक्षात्कार के आदर्श को स्वीकार करना है जहाँ अन्धकार की एक रेखा भी न हो। प्रकाश-प्रकाश केवल प्रकाश ही शेष बचे। किन्तु वह प्रकाश भी रवि-शशि-तारों का अथवा दीपक का नहीं, इन सबसे भिन्न आत्म-ज्ञान का प्रकाश, जिसे सूर्य से भी उपमित नहीं किया जा सकता है। क्योंकि सूर्य के प्रकाश में भास्वरता के साथ संतप्तता भी है जबकि आत्म प्रकाश में अनन्त भास्वरता के साथ परम शान्ति का आलोक होता है। इसीलिए 'लोगस्स' के पाठ में सिद्ध स्वरूप के वर्णन में कहा गया है—"आइच्चेसु अहियं पयासयरा" अर्थात् अनन्त सूर्यों से भी

अधिक प्रकाश करने वाले । आचार्य मानतुंग ने अपने 'भक्तामर स्तोत्र' में कहा—
"सूर्यातिशायि महिमासि..........।"

अनन्त सूर्यों से भी अधिक महिमा वाले ।

तो हमारा आदर्श यह भौतिक पदार्थों से अनुबन्धित आलोक भी नहीं होगा । हमारा आदर्श होगा, अनन्त सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमान चेतना की सर्वोच्च सत्ता का, जहाँ केवल परम आनन्द ही शेष बचता है । शान्ति ही शान्ति का अजस्र स्रोत प्रवाहित होता रहता है । जिसकी चरम परिणति होगी सत्-चित्त आनन्दमयता ।

इस परमोच्च आदर्श को समक्ष रख कर ही साधक साधना में चरण बढ़ा सकता है और तद् द्वारा उद्देश्य प्रपूर्ति तक पहुँच सकता है । इस सर्वोत्तम आदर्श को विस्मृत कर केवल वर्तमान जीवन और तत्सम्बन्धी उपलब्धियों को ही सब कुछ मान बैठने वाला साधक अपनी अनन्त सामर्थ्य-सत्ता को भी विस्मृत कर जाता है । परिणामत: इस शरीर की क्षुद्र परिधि के संकुचित घेरे में ही अपनी अनन्त शक्ति को अवरुद्ध कर लेता है और उसके लिए विकास के समस्त द्वार ही बन्द हो जाते हैं ।

अत: साधना के द्वितीय चरण में साधक सजगवृत्या अपने आदर्श के निर्धारण, उसके प्रति समर्पण एवं उसमें होने वाली त्रुटियों के प्रति पश्चात्ताप पूर्ण चिन्तन में अपनी सम्पूर्ण चिन्तना शक्ति को नियोजित करता है । जहाँ भी विवशता आती है, साधक-चित्त पश्चात्ताप से भर जाना चाहिए । क्योंकि पश्चात्ताप भविष्य के प्रति सजगता का संकेत करता है । फलस्वरूप साधक की साधना में अधिक निखार आता है ।

साधना के इसी चरण में यह चिन्तन भी आवश्यक है कि संसार की समस्त गतियों, समस्त योनियों में एक मानव तन की पर्याय ही साधना में सम्बल प्रदान कर सकती है । अतीत काल में अनन्त सिद्ध भगवन्तों ने इस मानव तन के द्वारा ही उस परम चैतन्य रूप आत्मसत्ता का साक्षात्कार किया है । बिना मानवीय तन के मोक्ष मार्ग की—आत्म ज्योति के साक्षात्कार की साधना नहीं हो सकती है । अत: इस क्षण-भंगुर, किन्तु महत्त्वपूर्ण तन के महत्त्व को समझकर तथा सिद्ध-स्वरूप के परम आदर्श को समक्ष रखकर दृढ़ संकल्प के साथ मुझे जीवन की अर्थवत्ता को सार्थक करना है । क्षण भर के लिए भी मुझे अपने आदर्श-लक्ष्य को विस्मृत नहीं करना है । मेरा उपयोग सतत साधना के उच्चतम लक्ष्य के प्रति समर्पित हो..........।

यहाँ यह स्मरणीय है कि प्रारम्भ में साधक को आदर्श का अनुचिन्तन अनिर्वचनीय एवं काल्पनिक उड़ान ही लगेगा । क्योंकि उतनी उच्च स्थिति का

साक्षात्कार उसकी सामर्थ्य-सीमा से बाहर होगा। किन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि साधक स्वयं भी अनन्त सत्ता का धारक होता है। अपनी शक्ति का अनवरत स्मरण उसे अपने आदर्श के स्वरूप बोध में अवश्य सहयोगी बनेगा। उसकी दृढ़ संकल्पनात्मक साधना उसे निश्चित लक्ष्य तक पहुँचाएगी। इस जन्म में नहीं तो आगामी जन्म में और आगामी जन्म में वह अवश्य ध्येय का साक्षात्कर्ता बनेगा।

तीसरा आयाम—भविष्य का निर्धारण

आदर्श के निर्धारण एवं लक्ष्य के संस्मरण के द्वारा आत्म-लक्ष्यी अन्तराव-लोकन कर साधक पुनः अपने व्यावहारिक जीवन में लौट आता है। यहीं से साधना का तृतीय चरण अथवा तीसरा आयाम प्रारम्भ होता है।

साधक की यात्रा बाहर से भीतर की ओर हुई। व्यवहार से अध्यात्म की ओर हुई। देह से चैतन्य की ओर हुई। किन्तु चेतना की ओर होने वाली यह यात्रा सामयिक थी, अतः निश्चित अवधि के उपरान्त उसे पुनः अपने व्याव-हारिक जीवन में लौटना पड़ता है। हाँ, वह लौटना भी अध्यात्म साधना का सम्पूरक ही होगा। उसी को गति देने वाला होगा।

पुनः व्यावहारिक जीवन में लौटने की प्रक्रिया स्वरूप इस तृतीय चरण में संकल्प की बलवत् शक्ति का सम्बल अपेक्षित होगा। बाहर लौटने की इस क्रिया में सर्वप्रथम प्रबलतम संकल्प के साथ सामयिक निश्चितता, समय की पाबन्दी पर बल दिया जाना आवश्यक है और उसी के आधार पर साधनावधि के उपरान्त आगामी चौबीस घन्टों के कार्यक्रम का निर्धारण होना चाहिये। साधना से उठते ही जिस कार्य के प्रति संलग्न होना है, उसका समय निश्चित कर लिया जाय कि इतने बजकर इतने मिनिट पर मुझे इस कार्य से निवृत्त होकर इससे अगले कार्य के प्रति इतने बजे संलग्न हो जाना है। इसी प्रकार समस्त दैनिक कार्यक्रमों का सामयिक विभाजन दृढ़ संकल्प के साथ किया जाय। उदाहरण के लिए, साधना से उठते ही देह चिन्ता-निवारण अथवा शारीरिक अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति में संलग्न होना है तो उनकी कालावधि निश्चित कर ली जाय। इस निश्चिति में भी मन को सशक्त सुझाव दिये जाएँ कि उसे उस समय उसी क्रिया के प्रति समर्पित होना है, जो समय जिस के लिए नियुक्त है। उससे किंचित्-मात्र भी इधर-उधर नहीं होना है।

सहज योग

इस समय-निर्धारण के साथ साधक चित्त की दृष्टि से यह भी आवश्यक है कि जिस कार्य में साधक संलग्न हो, उसकी समग्र वृत्तियाँ उसी के प्रति सम-र्पित हों, उसका सम्पूर्ण उपयोग-अवधान उसी के प्रति हो। जिस समय वाचन

कर रहा है तो उसका ध्यान वाचन के प्रति ही हो। उसकी चित्तवृत्तियाँ उसी में उपयुक्त हों। उस समय वह भोजन को अपनी स्मृति-पथ पर नहीं आने दे। और जब भोजन अथवा अन्य कार्यों के प्रति समर्पित हो, स्नान अथवा अन्य अपर कार्य का स्मरण नहीं होना चाहिए।

कार्य के प्रति एकावधानता की यह साधना ही सहज योग की साधना कहलाती है। अस्तु, साधना के तृतीय चरण में कार्य के प्रति पूर्णतया समर्पण के संकल्प बनें। संकल्प की दृढ़ता यहाँ तक हो कि मैं आज भोजन करते समय उसकी एक-एक क्रिया पर सजगता की साधना करूँगा। कौर तोड़ते हुए, ग्रास मुखार्पित करते हुए, उसका चर्वण (चबाना) करते हुए सभी क्रियाओं में मेरा उपयोग सजग रहेगा। प्रत्येक क्रिया का सूक्ष्मतापूर्वक अवलोकन करूँगा। उसके प्रत्येक एक्शन के प्रति सजगता का अभ्यास करूँगा। एक भी कौर-ग्रास बिना सजगता के अन्दर नहीं जाएगा।

भोजन के समय की जाने वाली इस जागृति-साधना के द्वारा सहज योग की साधना तो होगी ही साथ ही पाचन-प्रक्रिया पर भी इसका प्रभाव होगा। सतत जागृति के कारण खाद्य-पदार्थ ठीक प्रकार से चबाया जाएगा। उसमें पाचक रस का सम्मिश्रण समुचित मात्रा में होगा, परिणामतः वह सुपाच्य हो जाएगा। यह स्मरणीय है कि भोज्य पदार्थ जितना सात्विक होगा, उतना ही सुपाच्य होगा और पाचन प्रक्रिया का सुव्यवस्थित होना, प्राण-शक्ति के संवर्धन में आवश्यक है और प्राण-शक्ति का संवर्धन साधना के लिए आवश्यक है। इस प्रकार भोजन करते समय जागरुकता का होना शारीरिक दृष्टि से भी एवं साधना की दृष्टि से भी लाभप्रद होता है।

भोजन ग्रहण के समान ही प्रत्येक दैनन्दित क्रिया में सतत सावधानता की साधना का संकल्प साधना के तृतीय चरण में किया जाना आवश्यक है।

साधना का त्रिचरणात्मक अथवा तीन आयाम रूप यह क्रम, जिसमें अतीत २४ घन्टों का संस्मरण, आगामी २४ घन्टों की रूप-रेखा का निर्धारण एवं इन दोनों के मध्य आदर्श लक्ष्य का एकावधान अनुचिन्तन हो, नियमित रूप से प्रतिदिन किया जाय। जहाँ कहीं मनोवृत्तियों में स्खलन हो, पुनः उसे सावधानी का सम्बल प्रदान किया जाय। इस साधना के क्षणों में मन को अपना अनुचर बने रहने का संकल्प दोहराना और उसे वैसा बने रहने को बाध्य करना अधिक श्रेष्ठ होगा। क्योंकि मन को अनुचरवत अनुशासित किये बिना संकल्प सशक्त नहीं बन पाते हैं। और उनके अभाव में लक्ष्य सिद्धि असम्भव ही है। अस्तु, लक्ष्य के प्रति प्रतिपल जागरण के साथ मनोवृत्तियों का समीक्षीकरण अनिवार्य माना जाना चाहिये।

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि हमारा लक्ष्य सिद्ध-स्वरूप का साक्षात्कार है—परम चैतन्य-सत्ता की अवाप्ति एवं अविचल शान्ति में सदा-सदा के लिए विश्रान्ति, यही हमने साधना के उच्चतम लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया है। अतः उपर्युक्त त्रिआयामी साधना मनःस्थिति को सुदृढ़-एकावधानी बनाने की भूमिका मात्र है। इसे ही साधना का सर्वोत्तम आदर्श या सर्वोच्च लक्ष्य नहीं मान लेना चाहिये।

यहाँ यह स्मरणीय है कि साधना की पूर्व भूमिका स्वरूप इन तीन आयामों में भी प्रतिदिन प्रखरता के साथ सूक्ष्मता में अवगाहन अपेक्षित है। कुछ घिसी-पिटी बातों का ही प्रतिदिन चिन्तन साधना नहीं होगी। विषय वे ही हों किन्तु उन्हीं विषयों का सूक्ष्म चिन्तन हो और वह सूक्ष्मता-तलस्पर्शिता प्रतिदिन बढ़ती ही जाय। जितनी गहराई में पहुँचा जा सके, चिन्तन को उतनी ही गहराई में ले जाना चाहिये। "जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ" वाली सूक्ति को सदा स्मरण रखना चाहिये। हाँ, यह ध्यान अवश्य रहे कि चिन्तन की गम्भीरता वहीं तक हो कि मस्तिष्क में किसी भी प्रकार का तनाव उत्पन्न न हो। चिन्तन के प्रति उत्साह-उमंग कुछ शेष रहे उसके पूर्व ही चिन्तन को विषयान्तर में ले जाना चाहिये। यह सावधानी तो साधना के प्रत्येक चरण में आवश्यक है। जहाँ भी मस्तिष्क में हल्का सा भी तनाव अनुभव हो, तुरन्त उस चरण का स्थगन और कुछ विश्रान्ति के पश्चात् नवीन चरण का प्रारम्भ हो जाय।

आदर्श के अनुस्मरण रूप द्वितीय आयाम में भी यह जागरण आवश्यक है कि साधक अपने आपको तदनुरूप ढलता हुआ अनुभव करे। उसके सुदृढ़-संकल्प हों कि मेरी अन्तश्चेतना में अनन्त सूर्यों से भी अधिक प्रकाश है, मेरे चित्ताकाश में उस प्रकाश की लौ जल रही है। आलोक का एक व्यापक विस्फोट मेरी आत्मा में हो रहा है। मेरी आत्मा में अनेक शक्तिस्रोत प्रवाहित हो रहे हैं। अनेक शक्तियों की अभिव्यक्ति का मैं अनुभव कर रहा हूँ।

यह निश्चित है कि साधना का यह क्रम कुछ अधिक कालावधि की अपेक्षा रखता है। कारण स्पष्ट है कि सुदीर्घकाल से विशृंखलित चित्तवृत्तियों पर सहसा विजय नहीं पाई जा सकती है तथा सर्वोच्च सिद्धि के लिए सर्वोत्कृष्ट प्रयत्न भी तो अपेक्षित होता है। व्यवहार में हम देखते हैं कि बीज-वपन के साथ ही फल की प्राप्ति नहीं हो जाती है। कुछ फलों में महीनों की तो कुछ आम्रादि फलों में वर्षों की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। जब भौतिक फलों की प्राप्ति में हम प्रतीक्षा कर सकते हैं, उसमें अविश्वास भी नहीं करते हैं तो अध्यात्म साधना में त्वरित फल कामना के साथ धैर्य कैसे छोड़ सकते हैं? निश्चित विश्वास एवं अगाध धैर्य के साथ साधना में गतिशील रहते हुए

निश्चित साध्य का साक्षात्कार हो सकता है। यह अवश्य है कि अध्यात्म का विषय इन्द्रियों और मन से भी परे का विषय है। वहाँ समस्त दृश्य पदार्थों से परे हटकर अदृश्य सत्ता-आत्म ज्योति पर ध्यान केन्द्रित करना होता है। वह केन्द्रीकरण की साधना एक जन्म में ही नहीं, कई बार अनेक जन्मों में सिद्ध हो पाती है। अनेकानेक महान् योगी एवं धुरन्धर साधक भी उस साधना में सहसा सफल नहीं हो पाते हैं। अतः साधक को सदा यह स्मरण रहे कि मुझे निरन्तर एक निष्ठा एवं सत्कार के साथ दृढ़ संकल्प का सम्बल लेकर अचल विश्वास के साथ प्रगति-पथ पर बढ़ते ही जाना है। साधना में आने वाली हल्की सी थकान अथवा सुस्ती उसके व्यवस्थित क्रम को ही अस्त-व्यस्त कर देती है और क्रम का टूट जाना साधक के विश्वास को भी विचलित कर देता है। जिसका परिणाम होता है– साधना के प्रति अरुचि का उत्पन्न हो जाना। अतः यह आवश्यक है कि दृढ़ निश्चय, अगाध धैर्य के साथ विधिपूर्वक साधना के प्रति समर्पित हुआ जाय तथा ऊब अथवा थकान को कभी अवकाश नहीं दिया जाय।

सावधानी

इस साधना-क्रम में सबसे अधिक जागृति की आवश्यकता तब पड़ती है जबकि अपना प्रायः स्थायी आसन जमाई हुई दूषित वृत्तियाँ कुछ तूफान मचाने लगती हैं। साधना के द्वारा जब सुषुप्त शक्तियों का जागरण होता है—चारों दिशाओं से पवित्रता का वायुमण्डल बनता है तो उन कलुषित वृत्तियों का आसन हिलने लगता है। वे अपने आसन को छोड़ना क्यों चाहेंगी? परिणामतः संघर्ष छिड़ता है। यदि साधना का संकल्प सशक्त हुआ तो असत्वृत्तियों को अपना आसन छोड़ना पड़ेगा। साधक को विजयश्री प्राप्त हो जाएगी। अन्यथा वे अनादिकालीन दूषित विचार साधना को छिन्न-भिन्न कर देंगे और साधक हतोत्साहित होकर लक्ष्य से भटक जाएगा। अस्तु, यहाँ यह सावधानी नितान्त आवश्यक है कि ज्योंही वैकारिक दूषित वृत्तियाँ अपना प्रभाव दिखाने लगें, आत्म-शक्ति के सम्बल से उन्हें परास्त कर दिया जाय। उनके आगमन के मार्ग को ही अवरुद्ध कर दिया जाय। तत्काल यही चिन्तन हो कि ये वृत्तियाँ पर हैं—आगन्तुक हैं। मेरी आत्म-शक्ति की दुर्बलता के कारण ही इन्होंने यहाँ अपना आसन जमा लिया था और मेरी चेतना पर हावी हो गई थीं। मेरी असावधानी के कारण ही ये अंकुरित हुईं और फली-फूलीं। अन्त में मेरी आत्म-शक्तियों को दबोच लिया। इन्द्रियजन्य क्षणिक आनन्द ने सत्चित्त रूप शाश्वत आनन्द को आवृत्त कर दिया। किन्तु दोष इन वृत्तियों का नहीं, दोष मेरी असावधानी का है। असावधान मालिक की तरह ये चोर बनकर मेरी आत्मा में घुस गईं और अभी भी मेरी तन्द्रालुता से ही ये सब वृत्तियाँ सक्रिय हैं।

यह मेरी सबसे बड़ी भूल थी कि मैं इन क्षुद्र वृत्तियों में ही आनन्द की

खोज करता रहा। किन्तु मेरी दृष्टि जब आत्म-शक्ति पर केन्द्रित हुई, मैं इनकी क्षुद्रता को समझ गया। मुझे यह ज्ञात हो गया कि मेरा आनन्द क्षणिक क्यों है? अब तक मैं तत्त्व द्रष्टाओं द्वारा वर्णित शाश्वत आनन्द को क्यों नहीं उपलब्ध कर पा रहा था और, अब मेरी आत्म ज्योति प्रज्वलित हो गई है, मेरी शक्ति में जागरण हो चुका है। ज्योति और वह जागरण है—समीक्षण ध्यान।

समीक्षण ध्यान से मैंने आत्म-शक्ति को देखा-परखा। उसकी तह-गहराई तक पहुँचा। समता की आँख से देखा तो मुझे आश्चर्यमिश्रित खेद हुआ। आश्चर्य यह कि कितनी अमाप शक्ति का केन्द्र हूँ मैं। मेरी मूल सत्ता केवल आनन्दमयी ही है और मैं उसे बाहर खोजता रहा। और खेद इस बात का कि मैं कितनी बेहोशी में था, अपने आप से बेभान। अपने आप से अपरिचित! अनन्त शाश्वत आनन्द का असीम कोष होते हुए भी दर-दर ठोकर खाने वाला भिखारी बना—मैं किन बाह्य पदार्थों-इन्द्रियाकर्षणों में आनन्द को खोज रहा था। उन्हें ही जीवन का आदर्श मानकर सम्पूर्ण जीवनी शक्ति को इन्हीं विनश्वर पदार्थों के प्रति समर्पित कर दिया। खेद ही नहीं, महा खेद का विषय है कि अनन्त आलोक स्वरूप होते हुए मैं अन्धकार में ठोकरें खाता-भटकता रहा। सत्चित्त आनन्दघन स्वरूप अनिर्वचनीय अलौकिक आत्म-शक्ति पर इन विकारी वृत्तियों का इतना कुहरा छा गया कि मैं अपने आप से सर्वथा अपरिचित बना रहा। कितना महा अज्ञान, कितनी प्रगाढ़ मोह-निद्रा और किस प्रकार इसने मुझ पर आधिपत्य स्थापित कर लिया!!!

सद्गुरु के मार्ग-दर्शन ने मेरे विवेक-चक्षु उद्घाटित किये और अब मैं समझ पाया हूँ कि मैं स्वयं ही स्वयं का स्रष्टा हूँ। अनन्त शक्ति की अविरल स्रोतस्विनी मेरे भीतर बह रही है। मैं ही तो अनन्त ज्योति पुञ्ज हूँ। मेरी चेतना स्वयं में सर्व तन्त्र, स्वतन्त्र, पूर्णतया निर्विकार, लोकालोक को सम्यग्-रीत्या अवलोकन करने वाली, केवलज्ञान की सत्ता की धारक है। और इस स्वरूप बोध को देने वाली शक्ति है, वीतराग वाणी। अतः उसे ही मैं परिपूर्ण सत्य के रूप में स्वीकार करता हूँ। उसी वाणी का निष्यन्द रूप नवनीत है—समीक्षण ध्यान। अब इसी समीक्षण ध्यान के द्वारा मैं अपने अनन्त स्वरूपी चेतना-बोध के प्रति सक्रिय हूँ। मैं अपने आपको परम धन्य—परम सौभाग्यशाली मानता हूँ कि अनन्त संसृति के संसरण में अब मैंने अपनी दिव्य निधि आत्म-बोध को प्राप्त कर लिया। यह ठीक है कि अभी यह प्राप्ति केवल श्रद्धा स्वरूपा है। किन्तु मुझे अब प्रगाढ़ विश्वास हो गया है कि मेरी यह श्रद्धा अविचल होगी और कार्यान्वित भी। अब दूषित वृत्तियाँ मेरी आत्मा में अपना स्थान नहीं बना सकेंगी। अब संघर्ष में विजय आत्म-शक्ति की ही होगी। यहाँ तक कि ये वृत्तियाँ चाहे इस साधना में सहयोगी शरीर को भी समाप्त करने का

प्रयास करें, मैं अपने ध्येय से विचलित होने वाला नहीं हूँ। इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में सही, मैं लक्ष्य-सिद्धि का वरण करके ही रहूँगा।

ये वृत्तियाँ चैतन्य देव को लाख प्रलोभन दें कि 'हमने तुम्हारा अनन्त जन्मों तक साथ निभाया, तुम्हें सभी प्रकार के इन्द्रियजन्य सुख प्रदान किये हैं, अब तुम हमारी जड़ों को उखाड़ रहे हो, यह तुम्हारे लिए ही अहितकर है।' किन्तु मैं इन प्रलोभनों से भी विचलित होने वाला नहीं हूँ। क्योंकि मैं समझ गया हूँ कि इन वृत्तियों में प्राण-शक्ति का संचार तो मेरे ही द्वारा हो रहा है। अन्यथा तो ये निष्प्राण ही हैं। अतः अब इन निष्प्राण वृत्तियों से ऊपर उठकर शाश्वत आनन्द के द्वार उदघाटित करूँगा।

अहं-विसर्जन

हम सभी साधना के क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं। साधना एक सामान्य शब्द है। वह कई प्रकार की होती है। विविध साधनाओं के अलग-अलग आयाम होते हैं। उन आयामों के माध्यम से साधक अपनी साधना की गति को तीव्र या मंद बनाता हुआ अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचता है। आध्यात्मिक साधना सभी साधनाओं में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। इस साधना से बढ़कर कोई अन्य साधना विश्व में न थी, न है और न होगी। इसी अद्वितीय साधना के परिवेश में साधकों की गति मुड़ती है तब वह सभी परिधियों को पारकर उच्चतम स्वरूप का वरण करती है। वही उच्चतम अवस्था भव्य जनों के लिये गन्तव्य स्थल है। उस अवस्था को पार करने के लिये प्रारम्भिक आयाम पूर्व में बतलाये गये थे। उन आयामों में जिनकी जितनी गति अधिक बन पाती है उतनी ही आन्तरिक प्रवेश की प्रक्रिया तीव्र एवं व्यवस्थित बन पाती है। इन सभी प्रक्रियाओं में अनेक प्रकार के विश्राम-स्थल उपलब्ध होते हैं। स्थूल परिधि के भीतर प्रवेश पाने में चित्त की वृत्तियाँ सन्मुख गतिशीलता के साथ आती हैं। उस स्थूल परिधि के अन्तर्गत परिभ्रमण करने वाली चित्तवृत्तियाँ सामयिक रूप को लेती हुई मानसतंत्र को उद्वेलित करती रहती हैं। मानसतंत्र की उथल-पुथल के बीच में साधक इतना उलझ जाता है, जिससे वह आगे का कोई भी मार्ग प्राप्त नहीं कर पाता है। वह कितना ही मन की वृत्तियों का या मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करे पर उस एकाग्रता में जितनी चाहिये उतनी सफलता उपलब्ध नहीं हो पाती है। उस एकाग्रता के अभाव में साधक थकान महसूस करने लगता है और सोच लेता है कि आगे की कोई गति नहीं बन पायेगी, वह हतोत्साह होकर अन्दर प्रवेश के प्रयत्न को ही छोड़ देता है।

इसके विपरीत कुछ साधकों को साधना की सामान्य स्थिति में ही समाधिस्थ हो जाने का भ्रान्तिपूर्ण आभास होने लगता है। वे उस अवस्था का

साधक कुछ शांति के क्षणों में अनुभव का आस्वादन प्राप्त करता है। वह एक ऐसी अवस्था है जो कि समाधि के स्वरूप का आभास कराने लगती है। जब कभी साधक को यह लगने लगता है कि मेरी साधना परिपूर्णता को प्राप्त होने में अग्रसर बन रही है। तत्काल साधक कुछ भ्रांति की स्थिति में आ जाता है। समय की परिधि के बढ़ने को समाधि की परिधि बढ़ना मान लेता है। इस प्रकार का भ्रम हो जाने से मानसतंत्र के परे के तंत्रों को नियंत्रित करता हुआ अग्रिम परिधि में नहीं पहुँच पाता। क्योंकि स्थूल परिधि में अपेक्षाकृत संतुष्टि एवं समय की वृद्धि को समाधि की वृद्धि मान लेने से आंतरिक यात्रा करने वाले दृढ़ संकल्प की एवं अदम्य उत्साह की जो वृत्तियाँ गन्तव्य स्थान की परिपूर्णता की ओर ले जाने के लिये उत्सुक बनी थीं, उस उत्सुकता में शिथिलता एवं कमजोरी व्याप्त हो जाती है। परिणामस्वरूप यत्किंचित् बाहरी परिधि में होने वाले परिणामों को ही सब कुछ मानने से आगे की गतिशीलता कुंठित सी बन जाती है। अतः साधकों को साधना के क्षेत्र में प्रति समय दृढ़ संकल्पपूर्वक अग्रिम मंजिल को पाने के लिये सदा उत्साहित रहना चाहिये। चिन्तन करना चाहिये कि यह यात्रा का प्रथम पड़ाव है। इस पड़ाव में विश्राम लिया जा रहा है, परन्तु वह विश्राम आगे के आयामों में बैठने के लिये शक्ति संचय का रूप है न कि कोई आखिरी मंजिल ही है। इस प्रकार के चिन्तनपूर्वक आगे के आयामों के लिये अति जिज्ञासु और तीव्र पिपासु बनकर प्रारम्भिक विराम की अपेक्षा से गतिशीलता की गरिमा को विशेष महत्त्व देने पर आगे का पड़ाव सहज सुलभ बनता हुआ परिलक्षित होने लगेगा।

किन्तु स्थूल परिधि में मानसिक तंत्र की जो उलझन है उस उलझन को सुलझाये बिना अग्रिम गति बन नहीं पाती। उसको सुलझाने के लिये बाहरी साधन एवं अन्य तौरतरीके कामयाब नहीं हो सकते। उलझन तभी सुलझ सकती है जबकि उसका सम्यक् रीति से अवलोकन कर लिया जाय। उलझे हुए सूत के धागों को बिना अवलोकन किये कोई भी व्यक्ति सुलझा नहीं सकता। उन जाल के रूप में परिणीत धागों के देखने में अवधानता, मन की एकाग्रता, शरीर की स्थिरता, नेत्र और हाथों के सक्रिय होने पर ही उस सूत के जाल को सुलझाया जा सकता है। सूत के जाल को सुलझाने में हस्त, नेत्र एवं बाह्य प्रकाश आवश्यक है। परन्तु स्थूल अवस्थान के भीतर में सूत के धागों के जाल से भी अधिक जटिल संस्कारित जालों के—संस्कार के धागों का जाल अस्त-व्यस्त रूप से उलझा हुआ है। उसको सुलझाने में बाह्य प्रकार—बाह्य हाथ एवं नेत्र सफल नहीं होते। उनको सुलझाने के लिये समता और एकावधानता रूप हाथ के माध्यम से विवेक आलोक के प्रकाश में समीक्षण ध्यान रूप नेत्रों की आवश्यकता है। समीक्षण ध्यान रूप नेत्रों को जब तक व्यवस्थित नहीं किया जावेगा तब तक मानसतंत्र की स्थूल परिधि में उलझी हुई बिखरती हुई

कड़ियाँ नहीं सुलझ पायेंगी । एकाग्रता एक हाथ है तो समता दूसरा हाथ है । दोनों का संयुक्तिकरण भव्य तरीके से सधने पर ही अन्दर में ये दोनों हाथ कार्य करने में सक्षम बन सकते हैं । विवेकालोक को पाने के लिये स्थूल परिधि का एवं स्थूल परिधि से सम्बन्धित नाड़ी तंत्र, ग्रन्थिमंडल आदि समग्र वृत्तियों का विज्ञान भी अपेक्षित है । उस विवेकालोक में आन्तरिक तंत्र का विज्ञान हो जाने पर समीक्षण ध्यान के माध्यम से उन वृत्तियों को अवलोकन कर व्यवस्थित करता हुआ साधक अन्तरयात्रा की क्षमता अर्जित कर लेता है । दृढ़ संकल्प एवं पूर्ण विश्वास के साथ अन्त:प्रवेश रूप सड़क पर गमन जितना व्यवस्थित बनेगा उतना ही वह स्थूल परिधि से सूक्ष्म परिधि की सीमा में प्रवेश कर पायेगा । उस परिधि में गति की विशेषता होगी, जटिलता उतनी नहीं रहेगी । क्योंकि जितनी भी विचित्र प्रकार की झंझटें, बाधाएँ, रुकावटें स्थूल परिधि में आती हैं, उतनी वहाँ नहीं आ पातीं । इन बाधाओं एवं रुकावटों से जो सकुशल आगे बढ़ जाता है, उसके लिये वह राजमार्ग बन जाता है । उस मार्ग पर परिपूर्ण विश्वास एवं दृढ़ संकल्प के चरणों से चलता हुआ रंग-बिरंगे दृश्यों में प्रवेश पा सकता है । वे रंग-बिरंगे दृश्य ऐसे सूत के धागे की तरह उलझे नहीं होते हैं, परन्तु उनमें विविध प्रकार की रंगयुक्त रोशनियों के प्रकाश की मिलावट के समान एक तरह की सघनता-सी होती है । उस सघनता में सहसा साधक स्तब्ध सा हो जाता है । समीक्षण ध्यान की गति को यदि व्यवस्थित नहीं रखता है तो उस प्रकाश के चाकचक्य में किंकर्तव्यविमूढ़ भी बन जाता है । जैसे कि जंगली जन्तु बीहड़ जंगल की घाटियों, पहाड़ियों, नालियों एवं पथरीले कंटीले रास्तों को पार कर लेता है । अंधेरी रात्रि में भी शिकारी जन्तु जंगल में सकुशल अपने मार्ग की खोज कर लेता है । पर वे ही जन्तु प्रकाश युक्त ग्राम सड़क पर पहुँच जाते हैं और घनी रोशनियों का समूह उनके सामने आ जाता है तब वे चकरा जाते हैं । झाड़ियाँ आदि नहीं होने पर भी उनकी गति उस प्रकाश के चाकचक्य में अवरुद्ध हो जाती है । वही दशा समीक्षण ध्यान की निर्बलता में स्थूल परिधान के परे सूक्ष्म परिवेश में बन सकती है । कभी-कभी तो कुछ साधक उसी को सिद्धि मान बैठते हैं और अपना प्रदर्शन करने हेतु पुनः बाहर आ जाते हैं । वे इतना मार्ग तय करने पर भी बाहरी प्रदर्शन में लग जाने से पुन: स्थूल परिधि के नये जाल की रचना कर अपनी विकसित साधना की अवस्था को समाप्त कर बैठते हैं । वे साधक उस सीमा पर अनेक समस्याओं में उलझ कर गति नहीं कर पाते । उन समस्याओं को सुलझाने की जिज्ञासा वृत्ति जन्म लेने पर भी अहंवृत्ति उस जिज्ञासा को दबा देती है । यह सोचते हैं कि दुनिया में मेरी ही साधना सिद्ध हो चुकी, मैं अब दूसरों को क्यों पूछूँ । पूछने पर मेरा मानदंड कम होगा । अन्य साधक समझेंगे कि मैं पूरा साधक नहीं हूँ । जबकि वास्तव में वह पूरा साधक नहीं है । इस बात को अहंवृत्ति प्रकट नहीं होने देती । वह अहंवृत्ति बाहरी यश को लूटने में अपनी परिपूर्णता का प्रदर्शन

करती है। ऐसी वृत्ति के अधीन हुआ साधक अपने पवित्र साधना क्षेत्र से विलग हो जाता है। आगे की शक्तियों से वंचित रहता हुआ—"कात्या पिंजा कपास एक" करने की स्थिति में बन जाता है। अतः धैर्यवान तीव्र जिज्ञासावश परिपूर्णता को पाने वाले जिज्ञासु साधक को चाहिये कि वह उस सीमा तक भी मजबूती के साथ खड़ा रहे। दृढ़ विश्वास एवं दृढ़ संकल्प रूप चरणों को हिलने न दे। समीक्षण ध्यान की दृष्टि को तेज बनावे। निरन्तर तत्परता के साथ रंग-बिरंगे दृश्यों के चाकचिक्य में वीतराग के राजमार्ग को भलीभाँति अवलोकन करता हुआ, पीछे न हटकर आगे बढ़ने का प्रयास करने वाला साधक एक-न-एक समय अवश्य सफल हो सकता है। अतः साधक के लिये अपनी शक्ति, धैर्य, दृढ़ संकल्प, दृढ़ आस्था को एकाग्रता के साथ और समता की भूमिका के साथ समीक्षण ध्यान के माध्यम से पहले भलीभाँति व्यवस्थित एवं दृढ़ीभूत बना लेना नितान्त आवश्यक है।

एकावधानता

यह स्पष्ट हो चुका है कि मनोनियन्त्रण के रूप में की जाने वाली हमारी यह साधना अन्तर्यात्रा की साधना है। इस यात्रा में एक और शक्ति अपेक्षित है, वह है एकाग्रता की।

एकावधानता के बिना शक्ति-संचय नहीं हो पाता। शक्ति संचय के अभाव में गति का प्रारंभ समीचीन तरीके से नहीं हो सकता है। अतएव एकाग्रता का शरीर में रीढ़ की हड्डी के समान अथवा भूतल पर रेल की पटरी के तुल्य महत्त्व है। अतः एकाग्रता की साधना भी समीक्षण ध्यान साधना का एक अंग है। इस अंगभूत साधना का प्रारंभ अनेक विधियों से किया जा सकता है। किसी मंत्र की ध्वनि के माध्यम से भी एकाग्रता सध सकती है। उन मंत्रों में से नमस्कार महामंत्र का प्रथम पद ही लीजिये। इस प्रथम पद की ध्वनि के आधार पर एकाग्रता की साधना के द्वारा अन्तरप्रवेश के साथ शक्ति केन्द्रों को व्यवस्थित रूप से सक्रिय बनाया जा सकता है। शब्द ध्वनि शब्द से संबंधित तरंगों को उद्वेलित करती है। वे तरंगें जिस दिशा में प्रसृत होती हैं, उस दिशा के इर्द-गिर्द ध्वनि-प्रकंपन बन जाया करता है। इस प्रकार के ध्वनि प्रकंपन से प्रत्येक स्थल पर रहते हुए इस जाति के प्रकंपन सक्रियता के रूप में सहायक बनने लगते हैं। ध्वनि के प्रकंपन बाह्य आकाश मण्डल में यथायोग्य सुदूर तक पहुँचते हैं। प्रकंपनों का संबल साधक के लिये बहुत ही महत्त्वपूर्ण बनता है। वही प्रकंपन-प्रवाह यदि भीतरी अवस्थान की ओर प्रवाहित होता है तो आभ्यन्तर से स्थानों में अनेक केन्द्रों में सुषुप्त शक्तियों के जागरण का कार्य करता है। और एकाग्रता की शक्ति बलवती बनती हुई समीक्षण ध्यान की भूमिका का निर्माण कर देती है। अतः ध्वनि का प्रारंभ पहले उच्च स्वर के रूप में

तदनन्तर मध्यम स्वर, पश्चात् जघन्य स्वर, तदनन्तर मानस स्वर एवं अन्त में भावप्रधान अर्थस्वर की अवस्था में परिणत होने पर भावोर्मियाँ अधिक से अधिक सक्रिय बनती हैं। तार स्वर का रूप—नमो अ·······रि·······हं·······ता·······णं। इस प्रकार तार स्वर का उच्चारण कम से कम ११ बार लयबद्ध चलता रहे और ध्वनि के प्रारंभ से लेकर प्रत्येक ध्वनि की समाप्ति तक एक समान रहे। ११ तार स्वर के पश्चात् ११ मध्यम स्वर का उच्चारण णमो·······अ·······रि·······हं·······ता·······णं एक समान स्वर की पद्धति से गतिशील रहे। उपयोग की अवस्था मध्यम स्वर के प्रारंभ से लेकर प्रत्येक स्वर के अन्त तक बिना स्खलना के बनी रहे। तदनन्तर णमो अरिहंताणं धीरे स्वरों में जघन्य स्वर की अवस्था भी उपयोगपूर्वक पूर्व की ११ ध्वनियों के अनुरूप ११ बार की अवस्था में रहे। पश्चात् ध्वनि का स्वर कर्ण गोचर न होकर मानस स्वर में ही अर्थात् मन ही उच्चारण करे, मन ही श्रवण करे और मन ही लय के साथ जुड़ा रहे। इस मन के स्वर की गति भी अखण्डित रूप से ११ बार (चलती रहे) से परिपूरित हो। पश्चात् भाव प्रधान मंत्र के अर्थ का भावों में ही उच्चारण भाव ही साक्षी के रूप में श्रवण करे। इन्हीं भावों के साथ उपयोग की अवस्था निरन्तर बनी रहे। यह प्रक्रिया भी पूर्ववत् ११ की गिनती के साथ भावात्मक रूप से की जाय। इन विधियों-ध्वनियों में तार स्वर की ध्वनि-तरंगें छहों दिशाओं में न्यूनाधिक रूप में प्रवाहित होने पर भी बाह्य दिशाओं में अधिक प्रसृत होंगी जिससे बाहर ध्वनियाँ सक्रिय बन जाएगी। गौण रूप से यह ध्वनि भीतर के अवयवों को भी छूती हुई अन्य तंत्रों को प्रकंपित करती हुई केन्द्रों तक पहुँचेगी। मंद स्वर की ध्वनि बाहर व भीतर समान मात्रा में प्रवाहित होगी। जघन्य ध्वनि का मुख्य किन्तु सूक्ष्म प्रवाह भीतर की ओर बहेगा बाहर गौण रूप से। मन की ध्वनियाँ मन के धरातल वाले ग्रन्थि तंत्रों के क्रिया केन्द्रों को तथा ज्ञान सेन्टरों को प्रभावित करने लगेगी। भाव ध्वनि के सूक्ष्मतम प्रकंपन स्थूल सेन्टर के मानसतंत्र की सूक्ष्म परिधि के समीप सूक्ष्म एवं विविध रंगी दृश्यों के सेन्टरों को प्रभावित करते हुए सूक्ष्म सेन्टर के अग्रिम मोर्चे तक पहुँचने की शक्ति अर्जित कर लेंगे। उस सूक्ष्म परिधि के सन्मुख यदा-कदा साधक किंकर्तव्य विमूढ़ता की अवस्था में पहुँच जाता है। जो कि एक एक दृष्टि से जड़ीभूत की तरह बनने की स्थिति में रहती है। उस जड़ता को भाव ध्वनि के माध्यम से सक्रिय बनाया जा सकता है। इसी भाव ध्वनि के प्रकंपनों में जहाँ वर्गीकरण का प्रसंग उपस्थित होगा, उस वर्गीकरण में समीक्षण ध्यान की महत्त्वपूर्ण गरिमा अनुभव होने लगेगी। इस विधि से साधक सूक्ष्म परिधि के समीपस्थ होने वाले विविध अवस्थानों का निर्णय करने में सक्षम बन सकता है। यह प्रक्रिया इस एक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भी है तो दूसरी दृष्टि से इसके द्वारा स्वरों के सहारे एकाग्रता की स्थिति सधने में सुगम भी बन सकती है। यदि इसी से साधक अधिक योग्यता प्राप्त कर लेता है तो एकाग्रता सम्बन्धी अन्य उपाय भी सरल बन जाएंगे।

कदाचित् इस विधि से कठिनता अनुभव हो तब दूसरी विधि है श्वास प्रक्रिया की। सहज स्वाभाविक रूप से श्वास की गमनागमन संबंधी प्रक्रिया, उस प्रक्रिया को समीक्षण ध्यान के माध्यम से अवलोकन करने की चेष्टा करें। वीतराग मुद्रा की अवस्था से साधक मस्तिष्क से तनाव को समाप्त कर अवयवों का शिथिलीकरण करलें। शिथिलिकरण के लिये यह प्रयोग अधिक सुगम होगा कि समस्त मानसिक अवधान को नेत्रों के समीप ले जाकर कुछ हल्का सा उच्चारण करें—'जाने दो-जाने दो।' इस प्रकार के उच्चारण के साथ नेत्र के समीप उपयोग रहने से तनाव-मुक्ति एवं शिथिलीकरण में बहुत सहयोग प्राप्त होगा। शिथिलीकरण के अभ्यास के सध जाने पर उपयोगपूर्वक श्वास की गति को समीक्षण ध्यान के माध्यम से देखने लगें। ध्यान रखें कि श्वास नासिका के किस रन्ध्र से आ रहा है एवं जा रहा है। दाँये रन्ध्र से या बाँये रन्ध्र से। दाँये रन्ध्र से श्वास का गमनागमन होता है तो समझना चाहिये 'इड़ा नाड़ी' सक्रिय है। यदि बाँये नाक के छिद्र से श्वास की गति विदित हो तो यह जाना जा सकता है कि पिंगला नाड़ी की गति बन रही है। स्वरविज्ञ बाँये स्वर को 'चन्द्र स्वर' और दाँये स्वर को 'सूर्य स्वर' से संबोधित करते हैं। यह स्वर शास्त्रज्ञ का आपेक्षिक कथन है। योग साधना की दृष्टि से इन दोनों स्वरों से एकाग्रता साधने के साथ-साथ एकाग्रता का केन्द्र—समता धरातल भी ज्ञात हो सकेगा। जब तक एक-एक स्वर चालू है तब तक वह राग एवं द्वेष की परिणति का सूचक है, समता का नहीं। दाहिना स्वर राग का द्योतन करता है और बाँया स्वर द्वेष की गति का प्रतिनिधित्व करता है। जब दोनों स्वर की गति समान रूप की अवस्था में परिलक्षित होने लगे तब 'सुषम्ना' का स्वर सक्रिय बनने की स्थिति में होता है। यह अवस्था राग और द्वेष की परिणति से ऊपर उठकर समता की भूमिका को भरने वाली बन सकती है।

सुषुम्ना के सक्रिय होने पर दोनों स्वरों की गति शांत एवं विरल बनेगी क्योंकि सुषुम्ना का सम्बन्ध सुषुम्ना शीर्ष एवं नाड़ी तन्त्रों से सम्बन्धित होता हुआ शक्ति केन्द्र, आनन्द केन्द्र, शुद्धि केन्द्र, दर्शन केन्द्र एवं ज्ञान केन्द्र को संचालित करने में सहायक होगा। इन केन्द्रों से संबंधित ग्रन्थियें भी समीचीन तरीके से रसों का परिष्पंदन करेंगी एवं केन्द्रस्थ रंगों के साथ स्थान की एकाग्रता, श्वास की स्तब्धता तथा मंत्र की भावात्मक शक्ति से सम्बन्ध जुड़ने पर आन्तरिक शक्तियों का आलोक उद्भासित हो सकता है। ये मनोवृत्तियों की एकावधानता के कुछ विधिक्रम हैं। इनके माध्यम से साधक विशृङ्खलित चित्त वृत्तियों को नियोजित कर एक समस्वरता प्रदान करता है, जो समीक्षण ध्यान की पूर्व भूमिका का कार्य करती है।

एकावधानता की प्रथम विधि
शरीर—तन्त्र—समीक्षण

दृश्य शरीर भी साधक की साधना के लिये एक महत्त्वपूर्ण अवस्थान है।

इस दृश्य शरीर की आन्तरिक संरचना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। जीवन दृश्य शरीर की सीमा तक ही सीमित नहीं है। दृश्य शरीर से परे सूक्ष्म शरीर एवं सूक्ष्मतम शरीर भी है। कम से कम ये तीन शरीर तो इस जीवन की वर्तमान स्थिति के रूप में माने जा सकते हैं। तीनों शरीरों की आन्तरिक व्यवस्था एक दूसरे से सम्बन्धित है। सन्धि स्थान आदि के रूप में प्रत्येक शरीर की अपनी-अपनी सीमा में कार्य परिणति समीचीन रूप से विद्यमान है। साधक जब तक सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतम शरीर की प्रक्रियाओं को नहीं जान पाता तब तक इस शरीर में आवृत्त सच्चिदानन्द का साक्षात्कार कैसे हो सकता है ?

किसी भी किले में प्रवेश पाने के पूर्व किले के प्रकोटों को एवं भीतरी संरचना के अवस्थानों को जानना, निरीक्षण शक्ति के साथ पहिचानना नितान्त आवश्यक है। साधक यदि यह चाहे कि मुझे प्रकोटे एवं किले के भीतर के अवस्थानों को नहीं देखना है, मुझे तो किले के भीतर की अमूल्य निधि को प्राप्त करना है तो वह व्यक्ति निधि को नहीं पा सकता। निधि पर आयी हुई परतों का सावधानीपूर्वक ज्ञान होने पर तथा उन्हें हटाने पर ही निधि का साक्षात्कार संभव है। आध्यात्मिक जीवन साधक भी यह चाहे कि मुझे इन शरीरों से कुछ भी वास्ता नहीं है, इन शरीरों के भीतर की प्रक्रियाओं, विधि-विधानों एवं अनुसन्धानों के बोध की अपेक्षा नहीं है, सिर्फ सत्‌चत्त आनन्दघन रूप चैतन्य की परम निधि को ही मुझे पाना है; अतएव मुझे उसी के लिये पुरुषार्थ करना अभीष्ट है। आध्यात्मिक धरातल के साधक के लिये यह लक्ष्यगत आस्था तो समीचीन है, परन्तु अभीष्ट सिद्धि की प्राप्ति हेतु किन-किन अवस्थानों से कौन-कौन से मार्गों से किन-किन का अवलोकन एवं किन-किन शक्तियों का निर्धारण करते हुए निधि को उपलब्ध किया जा सकता है, यह ज्ञान भी आवश्यक है। इस ज्ञान की कमी के परिणामस्वरूप हजारों हजार अथवा लाखों वर्षों तक ही नहीं, अपितु अनन्तान्त काल की परिक्रमा में कितना ही पुरुषार्थ किया जाय तथापि गन्तव्य स्थान दूर ही रह जाता है। यह सत्य एवं तथ्य युक्त वस्तु स्वरूप का कथन है। परम लक्ष्य पर पहुँचने के लिये साधक को लक्ष्य के आभ्यन्तरवर्ती आयामों-अवस्थानों एवं इनसे सम्बन्धित तन्त्रों आदि का अवलोकन नितान्त आवश्यक है। वह अवलोकन समीक्षण ध्यान की धुरा पर ही संभव हो सकता है। यद्यपि इन सदियों में ऐलोपैथिक विज्ञानविदों (चिकित्साशास्त्रियों) ने स्थूल शरीर संरचना का यत्किंचित् अवबोध प्राप्त किया है और सामान्य जन दृष्टि में दृश्य शरीर का वह विज्ञान बहुत ही महत्त्वपूर्ण लगता है तथा स्थूल शरीर के विज्ञाता चिकित्सकगण भी अपने आप में परिपूर्ण ज्ञाता होने का अहं करते हैं। किन्तु इससे ऊपर या इस स्थूल शरीर से पर के अवस्थान को जानना तो दूर रहा उनमें इसके अस्तित्व की आस्था भी प्रायः नहींवत् सी लगती है। ऐसा होने में अनेक हेतु हैं। उन हेतुओं में एक हेतु है अर्थ-दृष्टि की प्रधानता। मानव ने अर्थदृष्टि को सर्वोपरि माना, उसकी

उपलब्धि के लिये, अन्यान्य साधनों के साथ स्थूल शरीर विज्ञान को भी माना। येन-केन-प्रकारेण तत्संबंधी परीक्षाओं की उत्तीर्णता के साथ इस स्थूल शरीर विज्ञान के माध्यम से अर्थ उपलब्धि में तन्मय हो जाने के कारण उनकी चिन्तन शक्ति में सूक्ष्मतम अवयवों की भीतरी परिधि में कौन-कौन सा रहस्य किस-किस रूप में छिपा हुआ है, आदि विषयक जिज्ञासा ही नहीं रह पायी। अतएव वे स्थूल शरीर के परे के अवयवों का विश्वास ही कैसे कर पाते ? परन्तु जिन वैज्ञानिकों का दृष्टिकोण स्थूल परिधि की चिकित्सा पद्धति तक ही सीमित नहीं रहा, उनकी चिन्तन शक्ति अधिक प्रवण बनी, वे स्थूल शरीर के भीतर में छिपे हुए रहस्यों को भी उद्घाटित करने में संलग्न हैं। उन्होंने कुछ नवीन रहस्यों का विज्ञान प्राप्त करने का प्रयास किया। साथ ही कुछ वैज्ञानिक मनोविज्ञान एवं परा-मनोविज्ञान की खोज के आधार पर स्थूल शरीर के अन्तर्गत अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थियों का विज्ञान प्राप्त कर चुके हैं।

वे प्रणाली युक्त रसवाहिनी एवं प्रणाली विहीन अन्त:स्रावों को स्थूल शरीर में पहुँचाने वाली ग्रन्थियाँ ही ज्ञात हो पायी हैं। इन नये रहस्यों से भी वे वैज्ञानिक अभी सन्तुष्ट नहीं हुए हैं। उनका अन्वेषण अभी गतिशील ही है। इधर आध्यात्मिक विज्ञान के विज्ञाता साधकों में भी कुछ अनुकरणशील साधक पाये जाते हैं। बिरले ही साधक अनुकरणशीलता के साथ-साथ नयी खोजों की महत्त्वपूर्ण मिसाल को लेकर चलते हैं। आध्यात्मिक निधि की उपलब्धि चाहने वाले साधक अपना स्थिर प्राप्य विषय तो सत्चित्त आनंदघन ही मानते हैं। लेकिन वह सत्चित्त आनंदघन स्वरूप जिन आवरणों के भीतर में रहा हुआ है, उन आवरणों के अन्तर में प्रवेश पाने के द्वारों की खोज में भी लग चुके हैं। स्थूल शरीर की परिधि में ऐसे अनेक द्वार हैं। उन सभी द्वारों की अपेक्षा विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण द्वार श्वास प्रणाली का है। श्वास के वाहन पर जिस साधक का आरोहण हो गया, वह साधक इस वाहन की गतिविधि से परिचित होता हुआ आन्तरिक सजातीय विशेष वाहनों की अवस्था को जानता हुआ एक दूसरे सजातीय वाहन का अवलम्बन लेकर विराट आन्तरिक मार्ग में प्रवेश करने में सक्षम बन जाता है। वह भीतर में रहने वाले पाँच प्रकारों के वायु संस्थानों को एवं उनकी समीपता से प्राण वायु का महत्त्व एवं मूल्याँकन करता हुआ प्राण-शक्ति के समीप पहुँच जाता है। इस प्राण-शक्ति के समीप पहुँचने पर सूक्ष्म परिधि की समीपता में रही हुई अनेक रंगों युक्त शक्तियों को पहचानने में अधिक सक्षम बन सकता है। उनकी पहचान के बाद अग्रिम रास्ता उस साधक के लिये अधिक सुगम एवं सुव्यवस्थित बन सकता है।

श्वास-समीक्षा

नासिका से जो श्वास ग्रहण किया जाता है वह ऑक्सीजन की संज्ञा से अभिहित होता है। ऑक्सीजन मुख्यतया वनस्पति आदि तत्त्वों से सुगमता से प्राप्त

होती है। वही ऑक्सीजन वायु फेंफड़े में पहुँचकर रक्त शुद्धि आदि का कार्य सम्पादित करती हुई अशुद्ध तत्त्व को लेकर बाहर आती है। शरीर विज्ञान के विज्ञाताओं की श्वास प्रक्रिया सम्बन्धी सीमा प्रायः यहीं तक सीमित है। पर योग पद्धति आदि की दृष्टि से इस विषयक चिन्तन गहनता की ओर गया है। श्वास के द्वारा संगृहीत ऑक्सीजन में प्राणवायु का भी समावेश रहता है और वह प्राणवायु की प्रक्रिया रक्त शुद्धि में ऑक्सीजन की स्थिति के साथ रहती हुई, शुद्ध रक्त में भी प्राण वायु को प्रवाहित करती है। रक्त का संचार शरीर के छोटे से छोटे सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयव से लेकर बड़े से बड़े स्थूल अवयव तक रहता है। उस रक्त संचार में जितनी अधिक मात्रा में प्राण वायु का प्रभाव होगा, प्राण वायु उतनी ही अधिक शरीर के आंतरिक संस्थानों में प्रमुख संचालन का माध्यम बनेगी। उस प्राण वायु के अतिरिक्त उसी अवस्थान के अन्तर्गत समान वायु भी पायी जाती है। वह समान वायु समान रूप से यथायोग्य यथास्थान पर शरीर की आवश्यकता की संपूर्ति में सहायक होती है। आन्तरिक संस्थानों के हलन-चलन एवं प्रकम्पन आदि अवस्थाओं से अन्य वायु भी निर्मित होती है। उस वायु में से जिस वायु विभाग का प्रवाह ऊर्ध्व दिशा की ओर होता है, उसको ऊर्ध्ववायु से संबोधित किया जाता है। अन्य विभाग शरीर के अधोभाग की ओर प्रवाहित होता है, उसकी अधोवायु की संज्ञा बनती है। ऊर्ध्व और अधोवायु की दिशा से भिन्न, विभिन्न दिशाओं में शरीर के अवयवों से पैदा होने वाली वायु, ब्यान वायु के नाम से अभिहित होती है। इस प्रकार योग पद्धत्ति के अनुसार पाँच प्रकार की वायु शरीर के आन्तरिक अवयवों में व्याप्त होकर रही हुई है। शरीर में जहाँ कहीं भी संपीड़ा का अनुभव होता है, वह अनुभव बहुलता से वायुवेग के अवरुद्धन से बनता है। यह अवरुद्धन व्यक्ति के व्यवस्थित क्रिया-कलापों के अभाव में बनता है। इस वायु संस्थान एवं वायु विभागों को किस प्रकार व्यवस्थित रखना आदि का सही विज्ञान नहीं कर पाने से वायु की व्यवस्था बिगड़ती है एवं अस्त-व्यस्त-सी बन जाती है। अधिक विकृत हो जाने पर सारा शरीर का ढाँचा ही नहीं, अपितु समग्र जीवन की नौका दोलायमान होती हुई प्रकंपित-सी बन जाती है। मानव अन्य प्राणियों की तरह एक दृष्टि से यन्त्रवत पैदा होता है और यन्त्रवत ही जीता रहता है। बाह्य अवयवों को सँवारता शृङ्गारता रहता है। उनको व्यवस्थित एवं सुन्दर बनाने में अधिकांश समय एवं शक्ति का व्यय करता रहता है, परन्तु यह नहीं जान पाता कि इस शरीर के बाह्य अवयवों की सुन्दरता-सुव्यवस्था आदि प्रक्रियाएँ भीतरी वायु संस्थान पर विशेष निर्भर करती हैं। जिस अंग-प्रत्यंग पर इन्सान सुन्दरता का अनुभव करता हुआ, उसी के लिए समग्र जीवन की समर्पणा के साथ-साथ अपने आपको अच्छा मानने में फूला नहीं समाता, उसी अंग की भीतरी संस्थान वाली वायु के प्रकुपित होने पर कुछ ही क्षणों में अंग-प्रत्यंगों की सुन्दरता, भव्यता—बदरूप एवं विकीर्ण-सी होने लगती है। यह बात हर

व्यक्ति के अनुभवगम्य भी बन सकती है, पर कब ? जबकि व्यक्ति का ध्यान उस ओर आकर्षित हो। व्यक्ति तो ऊपरी चाकचक्य एवं रूप-रंग को सजाने के साथ-साथ पुष्ट एवं सुन्दर बनने की तीव्र अभिलाषा से अधिक पदार्थ भी उदरस्थ करने की चेष्टा करता रहता है। इतना भी नहीं सोच पाता है कि इस रसना के अधीन होकर अधिक स्वादिष्ट एवं गरिष्ठ पदार्थों को उदरस्थ कर रहा हूँ, किन्तु इन पदार्थों के पचने में कितना समय लग सकता है ? समय का भी विज्ञान नहीं होने से पूर्व के खाये पदार्थ पूरे पच ही नहीं पाते, कि पुनः अन्य पदार्थों को ग्रहण करने में तन्मय बन जाता है। परिणाम यह होता है कि अन्दर के अवयवों की शक्ति से अधिक भार उदरस्थ हो जाने से अवयवों का संचालन व्यवस्थित नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में वायुवाहक नाड़ियाँ वायु के वेग को बढ़ाने में अधिक सक्रिय बनने की चेष्टा करती हैं और कुछ क्लान्त हो जाती हैं परिणामतः वायु का संतुलन पूरा नहीं रह पाता। उदर में गये हुए पदार्थ सड़ने लगते हैं। उस सड़ान्ध की दुर्गन्ध से समग्र वायु संस्थान में दूषणता व्याप्त हो जाती है। वह दूषित वायु जीवन के प्रत्येक अवयव के लिये अहितकर साबित होती है। बेचैनी बढ़ जाती है। योग साधना तो दूर रही, अन्य व्यावहारिक कार्य में भी उसकी शक्ति नहीं लग पाती। वह शरीर की इस स्थिति से ऊब कर डॉक्टरों एवं वैद्यों की शरण में जाता है। उनमें भी सही मार्गदर्शन प्रदान करने वाले वैद्य एवं डॉक्टर बिरले ही होते हैं। अर्थोपार्जन करने वाले डॉक्टर एवं अन्य चिकित्सक तीक्ष्ण व पॉइजनमय औषधियों का प्रयोग करने लगते हैं। परिणामतः संवेदनशील-ज्ञानतन्तु क्षत-विक्षत एवं अव्यवस्थित हो जाने से दुःख की संवेदना सही तरीके से नहीं हो पाती। पहले की वेदना में अन्तर पड़ जाने से व्यक्ति को भ्रान्ति हो जाती है कि इन औषधियों से मेरा स्वास्थ्य ठीक हो रहा है। वस्तुतः स्वास्थ्य ठीक होने के बजाय विकृति की ओर बढ़ जाता है एवं बिना सोचे समझे अत्यधिक औषधियों के प्रयोग से व्यक्ति जीवन-शक्तियों को भी शनैः शनैः नष्ट कर बैठता है। वर्तमान जीवन की जो सुखद जीवन शक्ति है, उसका भी अनुभव नहीं कर पाता, तो फिर आध्यात्मिक साधना तथा योग सम्बन्धी उपलब्धियों के साथ-साथ होने वाली सुख-शांति की अवस्था समीप ही नहीं आ पाती। यह बहुत बड़ी दुर्व्यवस्था जीवन विज्ञान के अभाव में प्राणी वर्ग में पायी जा रही है। इस दुर्व्यवस्था का सम्यक् समाधान योग पद्धत्ति के माध्यम से भव्य तरीके से बन सकता है। वह भी कब ? जबकि इस जीवन में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सहायक तत्त्व का मूल्यांकन किया जाय और सहायक तत्त्व की प्रणाली को उससे सम्बन्धित जातीय-विजातीय स्वरूप को विधिवत परिमार्जित करता हुआ चले और उस महत्त्वपूर्ण सहायक तत्त्व की सुव्यवस्था एवं अशुद्धिकारक तत्त्वों को प्रविष्ट नहीं होने दे, अपितु उसकी कार्य प्रणाली को व्यवस्थित बनाने के लिये इसी प्रकार की प्रक्रियाएँ दैनिक जीवन में आवे तथा सच्ची क्षुधा लगे तभी अन्न ग्रहण करे। सही प्यास की

स्थिति में पानी व अन्य तत्त्वों का अनुपान करे। अन्दर उत्पन्न होने वाली सड़ान्ध को उपवास आदि व्रतों के माध्यम से अन्दर के अवयवों को ही निष्कासित करने में सहायक बनाया जाय। जिह्वा एवं शरीर की बाह्य आकृति पर आसक्ति की दशा हटाकर उस महत्त्वपूर्ण सहायक तत्त्व को व्यवस्थित एवं शुद्ध रखने से अधिक से अधिक प्राण वायु का संग्रहण एवं उसी प्राण वायु की सवारी पर भीतरी मुख्यतया पञ्च वायुओं का संकेत मिलता है, उन वायुओं को प्राण वायु से प्रक्षालित करते रहने से वायुतन्त्र पर व्यक्ति का आधिपत्य भव्य तरीके से हो सकता है। इस आधिपत्य के साथ प्रत्येक अंग-प्रत्यंग में पहुँचाने वाली प्राण वायु को जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग-प्राणों से साधक संपर्क साधे। जब इस प्रकार की यात्रा से प्राणों के साथ संपर्क सध जाता है तो उस साधक का सूक्ष्म परिधि के समीप पहुँचना संभव हो सकता है। अग्रिम यात्रा के स्थल सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतम अवस्थान तथा इनके अन्तर्गत विविध विचित्र उलझनों के सुगम बन जाने का बहुत बड़ा अवसर प्राप्त हो जाता है।

अन्ततोगत्वा सत्चित् आनन्दघन के समीप उपस्थित होने का अपूर्व अवसर समुपलब्ध होने का अवसर प्राप्त हो सकता है। अतएव शरीर के समग्र अवयवों की अपेक्षा श्वास-प्रश्वास सम्बन्धी जो प्रक्रियाएँ हैं उन प्रक्रियाओं में जो अन्य सहायक अवस्थाएँ हैं उन सभी का ध्यान रखता हुआ साधक श्वास प्रणालिका को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दे और जीवन में इसी का विशेष मूल्यांकन करता हुआ अन्य साधनों के साथ अपनी आध्यात्मिक साधना का पुरुषार्थ प्रबल बनावे, जिससे अगले पड़ावों-आयामों की समीचीन विज्ञप्ति हो सकती है।

श्वासानुसन्धान

श्वास-प्रश्वास आन्तरिक क्रिया तन्त्र का एक कांटा मापकयंत्र (तराजू) है। पैट्रोल की टंकी के कांटे में पैट्रोल की न्यूनाधिक मात्रा का संकेत मिलता है, वैसे ही जीवन से सम्बन्धित समग्र क्रिया-कलापों का संकेत श्वास की गतिविधि से जाना जा सकता है। भीतर के क्रिया-कलाप एक दृष्टि से विशाल कारखाने के क्रिया-कलाप के तुल्य हैं। विशाल कारखाने में आवश्यक छोटे से छोटे तार का अवरुधन होने पर सारी मशीनरी में उसका प्रभाव होता। वैसे ही शरीर अवस्थान में होने वाली सूक्ष्म व स्थूल क्रिया-कलापों के बीच में किसी भी सूक्ष्म नाड़ी के क्रियातन्त्र का अवरोध आने पर उस रुकावट का समग्र शरीर संबंधी क्रिया-कलापों पर प्रभाव पड़ता है। उसकी सूचना श्वास प्रणालिका से मिल सकती है। अतएव श्वास-प्रश्वास के विज्ञान को, भलीभांति जानकर इस प्रणाली के माध्यम से क्रियाओं की गतिविधि को एवं अवरोध के कारणों को जाना जा सकता है तथा उन कारणों को व्यवस्थित करने का ज्ञान भी पाया जा सकता है। क्रिया कलापों का असर जैसे श्वास प्रणालिका के माध्यम से जाना जा

सकता है, वैसे ही मानसतंत्र से सम्बन्धित भावोर्मियों का भी असर श्वास के माध्यम में अभिव्यक्त होता है। किस व्यक्ति के कौन से भाव ज्ञान सेन्टर में होते हुए क्रिया सेन्टर के माध्यम से मानसतंत्र को झंकृत करते हुए शरीर के क्रिया-कलापों को प्रभावित करते हैं, वह प्रभाव भी श्वास विज्ञान की परिधि में आ जाता है। मलिन भावों का प्रभाव शरीर के आन्तरिक अवस्थानों पर व्याप्त हो जाता है। उन भावों ने सभी तन्त्रों पर अपना प्रभाव डाला, इसी प्रभाव से भीतर में घुटन बनने लगी। इस वक्त श्वास विधिज्ञ साधक इस भाव के अभाव को तत्क्षण न्यून करने की कला का प्रयोग करे तो इन भावों का वह प्रभाव नासिका के माध्यम से बाहर फेंका जा सकता है और इस भाव के प्रतिकूल शुभ भाव से सम्बन्धित वायु को भीतर प्रवेश देने पर अशुभ भाव के प्रभाव के स्थान पर शुभ भाव का प्रभाव व्याप्त हो सकता है।

गन्दगी से परिपूर्ण सड़े गले पानी को टूंटी (पम्प, नालिका) के माध्यम से बाहर फेंकने पर टंकी में नये पानी का प्रवेश कराया जा सकता है और उस स्वच्छ पानी से टंकी की गन्दगी को धोकर स्वच्छ पानी की सुगन्ध से सम्पन्न बनाया जा सकता है। इस एक देशीय रूपक से साधक मलिन भावों को श्वास की टूंटी से बाहर करने पर स्वच्छ भाव से भीतरी टंकी को स्वच्छ बनाने का प्रयत्न सावधानीपूर्वक यथासमय करता रहे तो उसकी साधना दिन प्रतिदिन निखरती हुई अभीष्ट लक्ष्य के समीप पहुँच सकती है।

उदाहरण के तौर पर क्रोध के भाव, यदि भीतर में उमड़ रहे हों, तो उस समय साधक क्रोध के भावों में उलझ कर वाणी व शरीर के अन्य अवयवों से बाहर प्रकट न करे। अपितु श्वास विधि के माध्यम से शांत-प्रशांत श्वास वर्गणा के स्कन्धों को भीतर में खींचे, जितना खींचा जा सके, एक-दो सैकंड श्वास का भीतरी कुम्भक करे और फिर लयबद्ध भीतरी श्वास को बाहर फेंकने की चेष्टा करे, ऐसा कुछ वक्त करने पर क्रोध का प्रभाव सफलीभूत न होता हुआ बाहर निकल जायेगा। शांत वर्गणाओं से सम्बन्धित श्वास-प्रश्वास वर्गणा का बार-बार भीतर में प्रवेश पाने से कषाय क्रोध सम्बन्धी दुर्गन्ध समाप्त होती हुई-सी लगने लगेगी। यही प्रक्रिया काम गन्दगी को निष्कासित करने वाली एवं निष्काम वृत्ति के भव्य प्रभाव वाली बन सकती है। यही बात शरीर में व्याप्त गन्दगी को समाप्त करने में सहायक बनती है। क्योंकि शारीरिक गन्दगी का एवं काम-क्रोध की गन्दगी का कभी-कभी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पाया जाता है। भीतर के क्रिया-कलापों के अस्त-व्यस्त होने पर भीतर में दुर्गन्ध व्याप्त होती है। दुर्गन्ध का प्रभाव नियन्त्रण केन्द्र पर पड़ता है। नियन्त्रण केन्द्र जैसे ही शिथिल बना नहीं, कि काम क्रोध का प्रभाव प्रकट होने लगता है और इस प्रभाव के निमित्त भीतरीय सड़ान्ध बढ़ने लगती है। यही क्रम निरन्तर बहुत समय तक चलता रहे तो व्यक्ति का समग्र जीवन दोनों प्रकार की गंदगियों

से ओत-प्रोत बन जाता है। इस प्रकार उभय गन्दगियों की सघनता सिर्फ श्वास-तंत्र से ही समाप्त नहीं की जा सकती, वरन् श्वासतंत्र के साथ-साथ तपश्तंत्र को सक्रिय करना भी अपेक्षित रहता है। यत्किंचित् हठबल के साथ भी तपश्तंत्र को सम्बल देकर निराहार अवस्था की वृत्ति में ढाल देता है तो एक दिवसीय, द्विदिवसीय एवं त्रिदिवसीय उपवासवृत्ति से भीतर की दुर्गन्ध भीतर में समाहित हो जाती है एवं आहारतंत्र को सक्रिय बनाने के साथ ही, अवशेष गन्दगी को बाहर निकालने में निमित्त भूत विरेचक पदार्थ ग्रहण करने पर अवशेष गन्दगी अधोवायु के माध्यम से बाहर निकालने में श्वासतन्त्र आदि आन्तरिक वायु संस्थान सक्रिय बन जाते हैं। प्रारम्भिक विरेचक पदार्थों के अनन्तर सुपाच्य एवं सात्विक पदार्थों का ग्रहण एवं पाचकतंत्र से सम्बन्धित अवयवों का, सुनियोजन करने पर उस गन्दगी के बदले में उसके प्रतिपक्षी वायुमण्डल का भाव भीतर के समस्त क्रियातन्त्रों पर होने लगता है। परिणामतः नियन्त्रण केन्द्र के सबल बन जाने से नये रूप में सेन्टरों में आने वाली गन्दगी सहसा बाहर नहीं आ सकती, उस समय यदि साधक सावधान रहे और सुपाच्य पदार्थों का नियमित एवं सीमित सेवन करे तो विवेक तन्त्र के माध्यम से भीतर के अवस्थानों से उभर कर आने वाली काम क्रोधादि की वृत्ति को रूपान्तरित कर सकता है। इसी प्रकार की प्रक्रिया से सावधानीपूर्वक लम्बे समय तक ध्यान का प्रवाह बना लेने से साधक सूक्ष्म परिधि के समीप से होने वाले महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का सृष्टा-निर्माता के रूप में स्वतन्त्रता साध सकता है।

प्रबलतम शक्ति-संकल्प

इस त्रिआयामी साधना में सबसे प्रबलतम शक्ति है—संकल्प की। संकल्प जितना प्राणवान होगा, साधना भी उतनी ही सप्राण होगी। चूँकि संकल्प का सम्बन्ध स्थूल शरीर से कम, सूक्ष्म शरीर से अधिक है, और वह संस्कारात्मक सूक्ष्म शरीर, जिसमें कि सूक्ष्म वृत्तियों के भी संस्कार हैं, आज से नहीं अनादि अनन्त से चेतना के साथ सम्बन्धित है। अज्ञानता के कारण इसे चेतना ने निज भाव मान लिया। बस, यही भूल अनन्त काल से चेतन सत्ता को परेशान कर रही है। चूँकि भूल अनन्त काल की है, अतः उसका परिमार्जन सहसा कुछ ही क्षणों में अथवा वर्षों में हो जाय, कम सम्भव है। इसके लिए अनेक जन्मों की साधना होमनी पड़ती है। जिन महान् चेतनाओं ने विकारी वृत्तियों पर विजय प्राप्त की, उन्होंने भी अनेक जन्मों की साधना के द्वारा ही। हमें भले ही वह अन्तिम जन्म ही ऐसा लगता है कि इसी जन्म में इस महापुरुष ने आत्म साक्षात्कार कर मुक्ति प्राप्त की है, किन्तु वह होता है अनेक पूर्व जन्मों की साधना के द्वारा ही। हाँ, अपवाद स्वरूप किसी आत्मा की भव स्थिति का परिपाक त्वरित हो जाय तो अलग बात है।

सकता है, वैसे ही मानसतंत्र से सम्बन्धित भावोर्मियों का भी असर श्वास के माध्यम में अभिव्यक्त होता है। किस व्यक्ति के कौन से भाव ज्ञान सेन्टर में होते हुए क्रिया सेन्टर के माध्यम से मानसतंत्र को झंकृत करते हुए शरीर के क्रिया-कलापों को प्रभावित करते हैं, वह प्रभाव भी श्वास विज्ञान की परिधि में आ जाता है। मलिन भावों का प्रभाव शरीर के आन्तरिक अवस्थानों पर व्याप्त हो जाता है। उन भावों ने सभी तन्त्रों पर अपना प्रभाव डाला, इसी प्रभाव से भीतर में घुटन बनने लगी। इस वक्त श्वास विधिज्ञ साधक इस भाव के अभाव को तत्क्षण न्यून करने की कला का प्रयोग करे तो इन भावों का वह प्रभाव नासिका के माध्यम से बाहर फेंका जा सकता है और इस भाव के प्रतिकूल शुभ भाव से सम्बन्धित वायु को भीतर प्रवेश देने पर अशुभ भाव के प्रभाव के स्थान पर शुभ भाव का प्रभाव व्याप्त हो सकता है।

गन्दगी से परिपूर्ण सड़े गले पानी को टूंटी (पम्प, नालिका) के माध्यम से बाहर फेंकने पर टंकी में नये पानी का प्रवेश कराया जा सकता है और उस स्वच्छ पानी से टंकी की गन्दगी को धोकर स्वच्छ पानी की सुगन्ध से सम्पन्न बनाया जा सकता है। इस एक देशीय रूपक से साधक मलिन भावों को श्वास की टूंटी से बाहर करने पर स्वच्छ भाव से भीतरी टंकी को स्वच्छ बनाने का प्रयत्न सावधानीपूर्वक यथासमय करता रहे तो उसकी साधना दिन प्रतिदिन निखरती हुई अभीष्ट लक्ष्य के समीप पहुँच सकती है।

उदाहरण के तौर पर क्रोध के भाव, यदि भीतर में उमड़ रहे हों, तो उस समय साधक क्रोध के भावों में उलझ कर वाणी व शरीर के अन्य अवयवों से बाहर प्रकट न करे। अपितु श्वास विधि के माध्यम से शांत-प्रशांत श्वास वर्गणा के स्कन्धों को भीतर में खींचे, जितना खींचा जा सके, एक-दो सैकंड श्वास का भीतरी कुम्भक करे और फिर लयबद्ध भीतरी श्वास को बाहर फेंकने की चेष्टा करे, ऐसा कुछ वक्त करने पर क्रोध का प्रभाव सफलीभूत न होता हुआ बाहर निकल जायेगा। शांत वर्गणाओं से सम्बन्धित श्वास-प्रश्वास वर्गणा का बार-बार भीतर में प्रवेश पाने से कषाय क्रोध सम्बन्धी दुर्गन्ध समाप्त होती हुई-सी लगने लगेगी। यही प्रक्रिया काम गन्दगी को निष्कासित करने वाली एवं निष्काम वृत्ति के भव्य प्रभाव वाली बन सकती है। यही बात शरीर में व्याप्त गन्दगी को समाप्त करने में सहायक बनती है। क्योंकि शारीरिक गन्दगी का एवं काम-क्रोध की गन्दगी का कभी-कभी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पाया जाता है। भीतर के क्रिया-कलापों के अस्त-व्यस्त होने पर भीतर में दुर्गन्ध व्याप्त होती है। दुर्गन्ध का प्रभाव नियन्त्रण केन्द्र पर पड़ता है। नियन्त्रण केन्द्र जैसे ही शिथिल बना नहीं, कि काम क्रोध का प्रभाव प्रकट होने लगता है और इस प्रभाव के निमित्त भीतरीय सड़ान्ध बढ़ने लगती है। यही क्रम निरन्तर बहुत समय तक चलता रहे तो व्यक्ति का समग्र जीवन दोनों प्रकार की गंदगियों

से ओत-प्रोत बन जाता है। इस प्रकार उभय गन्दगियों की सघनता सिर्फ श्वासतंत्र से ही समाप्त नहीं की जा सकती, वरन् श्वासतंत्र के साथ-साथ तपश्तंत्र को सक्रिय करना भी अपेक्षित रहता है। यत्किंचित् हठबल के साथ भी तपश्तंत्र को सम्बल देकर निराहार अवस्था की वृत्ति में ढाल देता है तो एक दिवसीय, द्विदिवसीय एवं त्रिदिवसीय उपवासवृत्ति से भीतर की दुर्गन्ध भीतर में समाहित हो जाती है एवं आहारतंत्र को सक्रिय बनाने के साथ ही. अवशेष गन्दगी को बाहर निकालने में निमित्त भूत विरेचक पदार्थ ग्रहण करने पर अवशेष गन्दगी अधोवायु के माध्यम से बाहर निकालने में श्वासतन्त्र आदि आन्तरिक वायु संस्थान सक्रिय बन जाते हैं। प्रारम्भिक विरेचक पदार्थों के अनन्तर सुपाच्य एवं सात्विक पदार्थों का ग्रहण एवं पाचकतंत्र से सम्बन्धित अवयवों का, सुनियोजन करने पर उस गन्दगी के बदले में उसके प्रतिपक्षी वायुमण्डल का भाव भीतर के समस्त क्रियातन्त्रों पर होने लगता है। परिणामत: नियन्त्रण केन्द्र के सबल बन जाने से नये रूप में सेन्टरों में आने वाली गन्दगी सहसा बाहर नहीं आ सकती, उस समय यदि साधक सावधान रहे और सुपाच्य पदार्थों का नियमित एवं सीमित सेवन करे तो विवेक तन्त्र के माध्यम से भीतर के अवस्थानों से उभर कर आने वाली काम क्रोधादि की वृत्ति को रूपान्तरित कर सकता है। इसी प्रकार की प्रक्रिया से सावधानीपूर्वक लम्बे समय तक ध्यान का प्रवाह बना लेने से साधक सूक्ष्म परिधि के समीप से होने वाले महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का सृष्टा-निर्माता के रूप में स्वतन्त्रता साध सकता है।

प्रबलतम शक्ति-संकल्प

इस त्रिआयामी साधना में सबसे प्रबलतम शक्ति है—संकल्प की। संकल्प जितना प्राणवान होगा, साधना भी उतनी ही सप्राण होगी। चूँकि संकल्प का सम्बन्ध स्थूल शरीर से कम, सूक्ष्म शरीर से अधिक है, और वह संस्कारात्मक सूक्ष्म शरीर, जिसमें कि सूक्ष्म वृत्तियों के भी संस्कार हैं, आज से नहीं अनादि अनन्त से चेतना के साथ सम्बन्धित है। अज्ञानता के कारण इसे चेतना ने निज भाव मान लिया। बस, यही भूल अनन्त काल से चेतन सत्ता को परेशान कर रही है। चूँकि भूल अनन्त काल की है, अत: उसका परिमार्जन सहसा कुछ ही क्षणों में अथवा वर्षों में हो जाय, कम सम्भव है। इसके लिए अनेक जन्मों की साधना होमनी पड़ती है.। जिन महान् चेतनाओं ने विकारी वृत्तियों पर विजय प्राप्त की, उन्होंने भी अनेक जन्मों की साधना के द्वारा ही। हमें भले ही वह अन्तिम जन्म ही ऐसा लगता है कि इसी जन्म में इस महापुरुष ने आत्म साक्षात्कार कर मुक्ति प्राप्त की है, किन्तु वह होता है अनेक पूर्व जन्मों की साधना के द्वारा ही। हाँ, अपवाद स्वरूप किसी आतमा की भव स्थिति का परिपाक त्वरित हो जाय तो अलग बात है।

अस्तु, यह उत्साहपूर्ण संकल्प सदा बना रहे कि इस जन्म में नहीं तो आगामी जन्म में ही, मैं अपने लक्ष्य को सिद्ध कर लूँगा। यदि संकल्प-सप्राण है तो वह विकारी वृत्तियों को परास्त कर लोकालोक के साक्षात्कर्त्ता सिद्ध-स्वरूप को प्राप्त करके ही दम लेता है।

इतने दृढ़ संकल्पनात्मक संस्कार जब सूक्ष्म शरीर में संयुक्त हो जाते हैं तो वे संस्कार जन्म-जन्मान्तर तक अनुगामी होते हैं। फलस्वरूप उनकी शक्ति आगामी जन्मों में भी अध्यात्म ऊर्जा को सम्बल प्रदान करती है। वह बलवती प्रेरणा एक दिन सूक्ष्मतम शरीर के मूल को ही उखाड़ फेंकती है और परमसिद्धि का द्वार उद्घाटित हो जाता है।

शक्ति का एक और स्रोत–सद्विचार

तीव्रतम संकल्प के साथ इस साधना में एक दूसरी शक्ति और अपेक्षित होगी, वह होगी सद्विचार की। केवल संकल्प तब तक निष्क्रिय होता है जब तक की उसकी सम्पुष्टि का वातावरण नहीं बनाया जाय। सम्पूर्ण जीवन विलासपूर्ण वातावरण से परिवेष्टित हो और हम अध्यात्म के संकल्पों को दोहराते चले जाएँ तो वे संकल्प कभी लक्ष्य-सिद्धि तक नहीं पहुँचाएँगे। अतः संकल्प साधना के साथ सद्विचारों के वायुमण्डल का निर्माण अथवा यों कहें संकल्प नगर की सुरक्षा हेतु पवित्र विचारों की चारदीवारी की नितान्त आवश्यकता है।

जैन दर्शन की किंवा कर्म सिद्धान्त की यह ध्रुव मान्यता है कि विचारों के अनुसार ही जीवन का सर्जन होता है, यही नहीं वर्तमान के विचार ही भविष्य के जीवन की रूपरेखा निर्मित करते हैं। अतः इस सन्दर्भ में भी विचारों का महत्त्व बढ़ जाता है कि वे ही आगामी जीवन की नींव खड़ी करते हैं। भावनाएँ विचार अप्रशस्त हैं तो जीवन अप्रशस्तता की ओर गतिशील होगा और आगामी जीवन भी तदनुरूप ही प्राप्त होगा। इसके विपरीत प्रशस्त विचारों के द्वारा वर्तमान एवं अनागत दोनों को समुज्ज्वल बनाया जा सकता है। "यादृशी भावनायस्य सिद्धिर्भवति तादृशी" की सूक्ति यहीं आकर सार्थक होती है।

ध्यान साधना के परिप्रेक्ष्य में विशुद्धतम विचारों का प्रभाव सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतम शरीर पर अंकित होगा। यदि आगामी जन्म का आयुष्य बन्ध उन विचारों में हो गया तो सूक्ष्मतम शरीर से अनुबन्धित वे विचार हमारे भविष्य को अर्थात् आगामी जन्म को भव्यता प्रदान करेंगे। साधनानुकूल वातावरण, आर्य क्षेत्र, सुकुल, निरोगी तन एवं अध्यात्म संयोगों की प्राप्ति होगी, जिसके

माध्यम से पुनः साधना का मार्ग प्रशस्त होगा और अव्याबाध आनन्द के द्वार तक पहुँचा जा सकेगा।

सत्संकल्प एवं सद्विचार की ऊर्जा के द्वारा साधना की गहराई में उतरते हुए साधक का यही प्रयास होना चाहिये कि मैं अविलम्ब अपने गन्तव्य पथ की ओर बढ़ता हुआ अचल सिद्धि स्थान का वरण करूँ। इस दृढ़ संकल्प में संशय को कदापि अवकाश नहीं दूँगा। अटल निष्ठा का सम्बल मेरे साथ होगा। कोई भी व्यवधान मुझे बाधित नहीं कर सकेंगे। मेरे विशुद्ध एवं मंगल विचार तथा संकल्प अवश्य यथार्थ के धरातल पर फलवान होंगे।

समीक्षण की पूर्णता—समता

समीक्षण ध्यान की परिपूर्णता हेतु तृतीय आयाम में निर्धारित भविष्य के संकल्पों में समता का संकल्प भी नितान्त अपेक्षित है। क्योंकि साधक-चित्त की सर्जना का प्रथम सूत्र होगा—समता। समग्र साधना का मूल सेतु है—समता। जब तक समता को साधना के सर्वोच्च लक्ष्य के रूप में स्थिर नहीं किया जाएगा, साधना सफल नहीं हो सकेगी। अन्तःप्रवेश एक काल्पनिक उड़ान मात्र बनकर रह जाएगा। वैषम्य की ज्वालाएँ सुलगती रहेंगी और उसमें साधना का पल्लवन असम्भव ही होगा। अतः साधना, चाहे वह किसी भी प्रकार की हो, उसका मूल समत्व को ही स्वीकारना होगा। सम्पूर्ण जीवनी शक्ति का समर्पण समता के लिए होगा। समता को अध्यात्म की प्राण ऊर्जा मानकर उसी के संवर्धन का संकल्प करना होगा और तभी साधना भी प्राणवान बन सकेगी।

यह हो सकता है कि समत्व योग की चरम उपलब्धि सहसा नहीं होगी, तथापि उसके प्रति आस्था का अंकुरण एक रोज विशाल वृक्ष का रूप ले सकता है और मधुर फलों का प्रदाता भी बन सकता है। समता के अभाव में की जाने वाली साधना विराधना की कोटि में समाविष्ट होती है। और इसके विपरीत स्वल्प मात्र भी समतापूर्ण साधना लक्ष्य को उजागर करेगी तथा एक-न-एक दिन परम साम्य के द्वार को उद्घाटित करेगी ही।

अतः साधक चित्त के लिए यह आवश्यक है कि विषमता के बीज आत्म चेतना पर अंकुरित हों इसके पूर्व ही अपनी समस्त वृत्तियों को समता साधना में नियोजित कर दे ताकि साधना में निराबाध गति हो सके। यह सम्भव है कि समत्व साधना से विचलित करने को भी अनेक तूफान उठ खड़े होंगे, आँधियों के थपेड़े लगेंगे। क्योंकि आँधी और तूफान के लिए सभी दिशायें खुली हैं—द्रव्य और भाव। किस दिशा से आँधी आएगी और कितना सशक्त तूफान उठेगा, कह पाना कठिन है। किन्तु, यदि हमारा समत्व का आसन सुदृढ़ है तो

वे आँधी-तूफान अकिंचित्कर होकर रह जाएँगे। अतः समत्व साधना एवं समीक्षण ध्यान का आपस में गहनतम सम्बन्ध है। किसी अपेक्षा से समीक्षण ध्यान को हम समता-साधना भी कह सकते हैं।

इसे कुछ और स्पष्ट कर लें—जिस देह से मृत्पिण्ड में सर्वशक्तिमान् चैतन्य अपनी समग्र शक्तियों को संगोपित कर रह रहा है, उसके अनेक द्वार हैं—द्रव्य एवं भाव। उन द्वारों से विशेषकर काम-क्रोधादि भाव द्वारों में से किसी भी द्वार से समता साधना के बाधक तत्त्वों का प्रवेश सम्भव है। अन्तर की चेतना शक्ति विवेक, दीपक के साथ जागृत नहीं रही एवं आने वाले बाधक तत्त्वों का परिज्ञान नहीं हो सका तो वे तत्त्व अनादि से आसन जमाए उन मलिन वृत्तियों को उद्दीप्त करेंगे और यत्किंचित् विकसित समता-साधना के अंकुरों को नोंच कर ध्वस्त कर देंगे। अतः समीक्षण ध्यान की इस प्रक्रिया में समता की साधना के लिए विवेकपूर्ण सतत जागरण की अपेक्षा है।

साधक चित्त साधना का निस्यन्द पान कर रहा है, उसकी आत्मलीनता बढ़ रही है और इधर कोई कटु शब्द कर्णगोचर हुआ। यद्यपि कटु शब्द का प्रयोग विषमता की मनोभूमि से हुआ, किन्तु उसने साधक की समता धारा को आन्दोलित कर दिया। उसके ज्ञान केन्द्र को विपथगामी-विषम चिंतन के लिए बाध्य कर दिया। ज्ञान सेन्टर ने क्रिया केन्द्र को सूचित किया और प्रतिक्रिया में साधक की चेतना आन्दोलित हो उठी। शरीर के सभी केन्द्र प्रकम्पित हो गए। बस, यहीं से समता-साधना में स्खलन हुआ। द्रव्य मन के द्वारा भाषा के परमाणुओं के ग्रहण ने इतना गजब ढहा दिया। वर्षों की साधना में एक बहुत बड़ा व्यवधान उपस्थित हो गया। दुष्ट शब्दों की एक सामान्य-सी क्रिया ने भयंकर प्रतिक्रिया का रूप ले लिया।

समीक्षण ध्यान-साधक के लिए यहाँ इतना ही चिन्तन अपेक्षित है कि अच्छे-बुरे सभी शब्दों के प्रति उसकी विवेक पूर्ण समत्व प्रज्ञा जागृत रहे। उसका ज्ञान सेन्टर (केन्द्र) इतना जागृत हो कि अपने हिताहित का त्वरित निर्णय कर सके। प्रतिकार की भावना उसके द्रव्य मन को आन्दोलित अथवा उद्वेलित नहीं कर सके। सामान्य-सी जागृति उसे आत्मस्थ बने रहने में सहयोगी बन जाएगी और बाहर की कोई भी क्रिया उसे विचलित नहीं कर पाएगी, बनिस्पत वह अपशब्द की क्रिया उसके साधक-चित्त को परीक्षण के रूप में और अधिक साधना का सम्बल प्रदान करेगी। अतएव समीक्षण ध्यान साधक के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि अपने ज्ञान केन्द्र पर समत्व एवं विवेक-दीपक का प्रकाश अनुभव करता रहे।

अपशब्दों के समान ही अन्य इन्द्रियों के विषय भी मन को आन्दोलित-उद्वेलित कर सकते हैं, अपितु करते रहते हैं। इसी प्रकार इन्द्रियातीत विषय

भी पूर्व द्रष्ट श्रुत आदि, साधक चित्त को विकेन्द्रित करने का प्रयास करते हैं, जिन्हें साधक सहसा पहचान भी नहीं पाता है। किन्तु वहाँ भी समीक्षण ध्यान के माध्यम से समत्व का साधक उन विषयों से अपने को असम्पृक्त रखता हुआ ध्यान की गहराई में उतरता चला जाय, अपने अभ्यास क्रम को निरन्तर सत्कार पूर्वक बढ़ाते हुए अत्यन्त सूक्ष्मतम वृत्तियों का सम्यग्वलोकन करने की क्षमता अर्जित होने के पश्चात् स्थूल एवं सूक्ष्म सभी वृत्तियाँ अकिञ्चित् कर बन जाएगी और साधक अपने इष्ट लक्ष्य का द्रष्टा बन जाएगा। समस्त विकार वृत्तियाँ नदियों के समुद्र में मिल जाने के समान समीक्षण ध्यान के द्वारा समत्व के महासागर में विलीन होकर समता भाव से रूपान्तरित हो जाएगी और यहीं आकर समीक्षण ध्यान अपनी पूर्णता को प्राप्त होगा। चेतना अपने अलौकिक, अनिर्वचनीय, सत्चित् आनन्द घन स्वरूप में प्रतिष्ठित होगी।

उपसंहार

हमारी साधना तीन आयामों के रूप में प्रारम्भ हुई। मनःशोधन एवं मनोनियन्त्रण से गुजरती हुई यह साधना पूर्णतः आत्म संयम और तद् द्वारा चरम एवं परम शान्ति तक पहुँच कर विश्रान्ति लेती है। अतीत के स्मरण के द्वारा साधक विगत कालीन कलुषित वृत्तियों के चिन्तन एवं शोधन का कार्य करता है। आदर्श के द्वितीय चरण में लक्ष्य की स्मृति उसे परमात्म भाव के साथ तादात्म्य स्थापित करने की प्रेरणा देती है तो अनागत का चिन्तन विशुद्धतम मनःस्थिति के सृजन का कार्य करता है। इस सबके लिये हमने संकल्प की शक्ति, वातावरण की विशुद्धि, समय की नियमितता एवं विचार विशुद्धि को सहयोगी अंगों के रूप में स्वीकार किया है।

यह स्मरण रहे कि साधना में सफलता के लिये सबसे पहली आवश्यकता है प्यास की। जितनी तीव्र प्यास होगी, प्रयोग के प्रति अभिरुचि भी उतनी ही तीव्र होगी और पूर्ण अभिरुचि युक्त प्यास के साथ किया जाने वाला कार्य सफलता की मंजिल का वरण अवश्यमेव करता है।[1]

अन्त में यही संकेत पर्याप्त होगा कि हमारा यह प्रतिपादन केवल विचार तक ही सीमित नहीं रह जाए। इसे प्रयोगात्मक रूप से जीवन में आत्मसात्

---

१ यहाँ इतना और स्पष्ट करलें कि उद्देश्य की दृष्टि से परिपूर्णता का प्रतिपादन करने पर भी यह विधिक्रम एक वर्ष के अभ्यास का विधिक्रम है। वर्ष भर की साधना के उपरान्त साधक को आगे के मार्ग-दर्शन अपेक्षित होंगे। क्योंकि वार्षिक साधना में साधक के जीवन में कहाँ-कहाँ व्यवधान उपस्थित हुए, वह कितना आगे बढ़ा, यह सब जान लेने के उपरान्त ही साधना के अगले चरण में प्रवेश सुलभ हो सकता है। किन्तु वह भी इस त्रिआयामी साधना में पूर्णतः गति होने के पश्चात् ही।

किया जाय। इसके प्रत्येक चरण में सजगतापूर्वक समर्पण की भावना निर्मित हो और वह यथार्थ रूप में परिणित हो तो मनः शान्ति एवं आत्म-शान्ति के द्वार सहजतया खुल सकते हैं। बहुधा होता यह है कि आम व्यक्ति साधना की शब्दात्मक चर्चा कर लेते हैं, किन्तु उसे जीवन में प्रेक्टिकल रूप देते समय लाख बहाने खोज लेते हैं। परिणामतः वह साधना शब्द-विलास बन कर रह जाती है। साधना का तो अर्थ ही यह है कि उसके द्वारा जीवन में अन्तर-बाह्य उभयमुखी रूपान्तरण घटित हो, साधक साध्य के निकटतम होता चला जाय।

यह सब होगा उपर्युक्त प्रयोग-विधि को जीवन में आत्मसात् करने से। सभी प्रकार के तनावों से मुक्ति के साथ ही जीवन में एक सशक्त रूपान्तरण होगा, आत्म द्रष्टा भाव का जागरण होगा और होगा आत्म देव का दर्शन। सतत सावधान होकर सत्कार पूर्वक प्रयोग करें, सफलता आपके चरण चूमेगी।

• • •

मीमांसा

किया जाय । इसके प्रत्येक चरण में सजगतापूर्वक समर्पण की भावना निर्मित हो और वह यथार्थ रूप में परिणित हो तो मनः शान्ति एवं आत्म-शान्ति के द्वार सहजतया खुल सकते हैं । बहुधा होता यह है कि आम व्यक्ति साधना की शब्दात्मक चर्चा कर लेते हैं, किन्तु उसे जीवन में प्रेक्टिकल रूप देते समय लाख बहाने खोज लेते हैं । परिणामतः वह साधना शब्द-विलास बन कर रह जाती है । साधना का तो अर्थ ही यह है कि उसके द्वारा जीवन में अन्तर-बाह्य उभयमुखी रूपान्तरण घटित हो, साधक साध्य के निकटतम होता चला जाय ।

यह सब होगा उपर्युक्त प्रयोग-विधि को जीवन में आत्मसात् करने से । सभी प्रकार के तनावों से मुक्ति के साथ ही जीवन में एक सशक्त रूपान्तरण होगा, आत्म द्रष्टा भाव का जागरण होगा और होगा आत्म देव का दर्शन । सतत सावधान होकर सत्कार पूर्वक प्रयोग करें, सफलता आपके चरण चूमेगी ।

प्रवचन-मीमांसा

वाणी की सरस एवं स्पष्ट अभिव्यंजना, जो श्रोता के हृदय को मंत्र-कीलित-सा भावाभिभूत कर दे, प्रवचन संज्ञा से अभिसंज्ञित होनी चाहिये। वचन, प्रवचन तभी बनता है, जब वह अन्तश्चेतना से उत्स्फूर्त हो, सम्मुखासीन श्रवणकर्ता की हृतंत्री को झंकृत कर दे। इस गुण के अभाव में वह वचन, प्रवचन नहीं, वाग्वैदग्ध्य ही कहला सकता है।

सृष्टि के समस्त चराचर प्राणियों में मानवीय तन ही ऐसा तन है, जिसमें प्रवचन की सामर्थ्य है। पशु की अपनी भाषा है, वाणी की अभिव्यंजना है, किन्तु उसकी यह भावाभिव्यंजना प्रवचन की संज्ञा नहीं पा सकती है। पशु ही नहीं, मानवीय वपुधारी अनेक व्यक्तियों में भी वचन-प्रावीण्य वाणी वैदग्ध्य रूप में ही पाया जाता है, प्रवचन-पटुता के रूप में नहीं। वाक्पटु बनकर अनवरत कुछ-न-कुछ बोलते रहना प्रवचन नहीं, शक्ति का अपव्यय ही हो सकता है। वचन जहाँ श्रोताओं के प्रति सार्थक होता है, वहीं वह प्रवचन की परिधि में प्रवेश पाता है। थोड़ा और स्पष्ट करें तो वचन में जहाँ चुम्बकीय आकर्षण का प्रादुर्भाव होता है, वहाँ वह प्रवचन की संज्ञा ले लेता है, तथा "प्रकर्षेण उच्यते इति प्रवचनम्" वाली निर्युक्ति सार्थक बनती है।

प्रवचन वाक्शक्ति का एक अद्भुत चमत्कार होता है। किन्तु प्रवक्ता की अन्तर्भूमिका के आधार पर ही वह सशक्त एवं प्रभावी हो सकता है। अतः महत्ता प्रवचन की नहीं, प्रवक्ता (प्रवचनकर्ता) की है। वचन अथवा शब्द तो अपने आप में भाषा वर्गणा के पर्याय जड़ मात्र होते हैं। उनमें स्वतः अभिव्यक्त होने की सामर्थ्य कहाँ है? वे तो प्रवक्ता की चेतना-भूमि का स्पर्श पाकर ही सजीव बन पाते हैं। अतः जैसे वाक्शक्ति की सार्थकता प्रवचन में निहित है वैसे ही प्रवचन की सार्थकता प्रवक्ता पर अवलम्बित है।

प्रवचनकार अपनी नूतन बात कुछ भी नहीं कहता है। सदियों से चले आ रहे विचार-प्रवाह को ही वह नव्य-भव्य शैली में ढालकर तथा नया शाब्दिक परिवेश पहनाकर उसे युगानुकूल रूप देता है। जिस अनुभूति से हम गुजर रहे हैं, उसी अनुभूति-पथ से संख्यातीत आत्माएँ गुजर चुकी हैं तथा जिस शब्द शृंखला में हम अपने भावों को आबद्ध कर रहे हैं, उन्हीं शब्दों का सचिमुत

प्रवचन-मीमांसा

वाणी की सरस एवं स्पष्ट अभिव्यंजना, जो श्रोता के हृदय को मंत्र-कीलित-सा भावाभिभूत कर दे, प्रवचन संज्ञा से अभिसंज्ञित होनी चाहिये। वचन, प्रवचन तभी बनता है, जब वह अन्तश्चेतना से उत्स्फूर्त हो, सम्मुखासीन श्रवणकर्ता की हृतंत्री को झंकृत कर दे। इस गुण के अभाव में वह वचन, प्रवचन नहीं, वाग्वैदग्ध्य ही कहला सकता है।

सृष्टि के समस्त चराचर प्राणियों में मानवीय तन ही ऐसा तन है, जिसमें प्रवचन की सामर्थ्य है। पशु की अपनी भाषा है, वाणी की अभिव्यंजना है, किन्तु उसकी यह भावाभिव्यंजना प्रवचन की संज्ञा नहीं पा सकती है। पशु ही नहीं, मानवीय वपुधारी अनेक व्यक्तियों में भी वचन-प्रावीण्य वाणी वैदग्ध्य रूप में ही पाया जाता है, प्रवचन-पटुता के रूप में नहीं। वाक्पटु बनकर अनवरत कुछ-न-कुछ बोलते रहना प्रवचन नहीं, शक्ति का अपव्यय ही हो सकता है। वचन जहाँ श्रोताओं के प्रति सार्थक होता है, वहीं वह प्रवचन की परिधि में प्रवेश पाता है। थोड़ा और स्पष्ट करें तो वचन में जहाँ चुम्बकीय आकर्षण का प्रादुर्भाव होता है, वहाँ वह प्रवचन की संज्ञा ले लेता है, तथा "प्रकर्षेण उच्यते इति प्रवचनम्" वाली निर्युक्ति सार्थक बनती है।

प्रवचन वाक्शक्ति का एक अद्भुत चमत्कार होता है। किन्तु प्रवक्ता की अन्तर्भूमिका के आधार पर ही वह सशक्त एवं प्रभावी हो सकता है। अतः महत्ता प्रवचन की नहीं, प्रवक्ता (प्रवचनकर्ता) की है। वचन अथवा शब्द तो अपने आप में भाषा वर्गणा के पर्याय जड़ मात्र होते हैं। उनमें स्वतः अभिव्यक्त होने की सामर्थ्य कहाँ है ? वे तो प्रवक्ता की चेतना-भूमि का स्पर्श पाकर ही सजीव बन पाते हैं। अतः जैसे वाक्शक्ति की सार्थकता प्रवचन में निहित है वैसे ही प्रवचन की सार्थकता प्रवक्ता पर अवलम्बित है।

प्रवचनकार अपनी नूतन बात कुछ भी नहीं कहता है। सदियों से चले आ रहे विचार-प्रवाह को ही वह नव्य-भव्य शैली में ढालकर तथा नया शाब्दिक परिवेश पहनाकर उसे युगानुकूल रूप देता है। जिस अनुभूति से हम गुजर रहे हैं, उसी अनुभूति-पथ से संख्यातीत आत्माएँ गुजर चुकी हैं तथा जिस शब्द शृंखला में हम अपने भावों को आबद्ध कर रहे हैं, उन्हीं शब्दों का सचिमुत

प्रयोग अगणित चेतनाएँ कर चुकी हैं। ऐसी स्थिति में कोई भी व्यक्ति नूतनता का सृष्टा नहीं, पुरातन का द्रष्टा ही बन जाता है। विश्व कवि खलील जिब्रान के शब्दों में—"And you shall hear from us only that which you hear from yourself" अर्थात् तुम हमसे वही सब सुनोगे जो तुम अपने भीतर से सुना करते हो।

उपर्युक्त अर्थों में हम नया कुछ भी नहीं सुनते हैं, न प्रवचनकर्ता कुछ नया सुनाता है। प्रवचनकर्ता जो कुछ सुनाता है, वह हमारे अंतरंग स्वरों से भिन्न नहीं होता। उसे हम जन्म-जन्मान्तर में अगणित बार सुन चुके होते हैं, किन्तु हमारा अनुभव है कि अनेक बार हम उन सुने-सुनाए विचारों को भी किसी भाव-प्रवाही प्रवक्ता के मुँह से तल्लीन हो सुनते ही रह जाते हैं। कई बार प्रवचन-प्रवाह समाप्त हो जाने पर भी मन्त्र-मुग्ध हो कीलित से बैठे रह जाते हैं। यह सब क्यों होता है?

यह सब प्रवक्ता के भाव, भाषा एवं शैली का चमत्कार अथवा जादू ही होता है, जो श्रोतृ वर्ग पर अपना अप्रतिम प्रभाव अंकित कर देता है। पटु प्रवचनकर्ता भाव, भाषा व शब्दों का शिल्पी होता है। वह शब्द-संयोजना को मृदु-कोमल, कला-कलित, कर्णाभिराम सौंदर्य प्रदान करता है।

सच्चा प्रवक्ता वह होता है, जो वर्तमान युगीन चेतना में प्रेरणा प्रवाहित करता हुआ अनागत युग को आशावादिता का मधुर संदेश देता है।

यद्यपि प्रवक्ता अपने विषय-निर्धारण एवं विचार के प्रस्तुतीकरण में स्वतन्त्र एवं स्वत्वाधिकारी होता है, किन्तु सिद्धवक्ता वही बन पाता है, जो श्रोतृवर्ग की मनोभूमिका समझकर तदनुकूल विषय-मर्यादा का चयन करने में दक्ष होता है।

जैन तत्त्वज्ञान की सुरक्षा में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। जैन दर्शन में प्रवचन का प्रारम्भ जिन-दर्शन के उद्‌गाता तीर्थंकर महाप्रभु की पीयूषवर्षी वाग्धारा से होता है, जो गणधरों (प्रमुख शिष्यों) के श्रुतकुण्ड में आकर व्यवस्थित संग्रहीति का रूप लेती है तथा गणधरों के द्वारा वह श्रुति-मधुरवाणी-सरिता शिष्य-शिष्यानुरूप के माध्यम से जन-जन के शुष्क हृदय-क्षेत्र को आप्यायित कर सर-सब्ज बनाती चली जाती है। इस प्रकार जिन तत्त्वधारा के आदि प्रवचनकार तीर्थंकर तथा पारम्परिक प्रवचनकार मुनिगण होते हैं। एतदर्थमेव मुनिजीवन की दैनंदिन प्रवृत्ति का एक प्रमुख अंग होता है "प्रवचन"। प्रवचन के माध्यम से ही मुनिगण जन-जन के हृद्‌देश तक पहुँच कर उसे आर्द्रता से आप्लावित करने का प्रयास करते हैं, किन्तु प्रवचन-साधना में नैपुण्य सहज सुलभ नहीं है। प्रत्येक मुनिश्रेष्ठ प्रवक्ता अथवा प्रवचनकार नहीं बन पाता। आगम-मन्थन एवं साहित्य-साधना के साथ कुछ वैयक्तिक गुणों का विकास प्रवचन-पटुत्व के लिए नितान्त आवश्यक है। वक्तृत्वकला का सौष्ठव भी प्रवचन-प्रावीण्य में नितान्त अपेक्षित है। पाश्चात्य विचारक शेनेका के शब्दों में—"Speech is the index of mind" वक्तृत्त्व-कला विचारों का मापदण्ड है। अतः वक्ता की सबसे महत्त्व-पूर्ण विशेषता होती है—अपने विचारों के प्रस्तुतीकरण की समीचीन पद्धति। इसके अतिरिक्त भी अध्यात्म प्रवचनकार में कुछ विशेषताओं का संयोजन अनि-वार्य होता है, जिनका विवेचन जैनाचार्यों ने सविस्तार किया है।

प्रवचनकर्ता के पच्चीस गुण

चूँकि जैन दर्शन के विकास एवं विस्तार में प्रवचन की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, या यों कहें कि प्रवचन ही जैन-तत्त्व-दर्शन के व्यवस्थित विकास का आधार रहा है, अतः वहाँ प्रवचनकर्ता को बहुत अधिक सचेष्ट किया गया है। जैनागमों में आचार्य जैसे गौरवपूर्ण पद की प्रमुख विशेषताओं में वचनसम्पदा एवं वाचना-सम्पदा जैसे मौलिक गुणों को अनिवार्य माना गया है। अर्थात् एक जैनाचार्य में प्रवचन एवं वाचना का प्रावीण्य अत्यन्त आवश्यक है। प्रवक्ता की सामान्य-सी उपेक्षा सिद्धान्तों को गलत रूप में अथवा मिथ्या रूप में प्रस्तुत कर सकती है। आजकल हम देखते हैं—सामान्य-सा तत्त्वज्ञान हुआ नहीं, कि हम अपने आपको उपदेशक की गद्दी का हकदार मान बैठते हैं, किन्तु उपदेष्टा बनना सहज नहीं है। एक मौलिक आध्यात्मिक उपदेष्टा को कितना संयमित एवं मितभाषी होना चाहिए, इसकी कुछ गम्भीर विवेचना जैनाचार्यों द्वारा उपदेशक की निम्न पच्चीस विशेषताओं में की गई है। प्रवचनकर्ता के २५ गुण इस प्रकार हैं :—

१— **दृढ़ श्रद्धा :** सर्वप्रथम प्रवचनकार को अपने प्रतिपाद्य विषय के प्रति दृढ़ आस्थावान बनना होता है। प्रवचनकर्ता स्वयं संशयशील हो,

प्रयोग अगणित चेतनाएँ कर चुकी हैं। ऐसी स्थिति में कोई भी व्यक्ति नूतनता का सृष्टा नहीं, पुरातन का द्रष्टा ही बन पाता है। विश्व कवि खलील जिब्रान के शब्दों में—"And you shall hear from us only that which you hear from yourself" अर्थात् तुम हमसे वही सब सुनोगे जो तुम अपने भीतर से सुना करते हो।

उपर्युक्त अर्थों में हम नया कुछ भी नहीं सुनते हैं, न प्रवचनकर्ता कुछ नया सुनाता है। प्रवचनकर्ता जो कुछ सुनाता है, वह हमारे अंतरंग स्वरों से भिन्न नहीं होता। उसे हम जन्म-जन्मान्तर में अगणित बार सुन चुके होते हैं, किन्तु हमारा अनुभव है कि अनेक बार हम उन सुने-सुनाए विचारों को भी किसी भाव-प्रवाही प्रवक्ता के मुँह से तल्लीन हो सुनते ही रह जाते हैं। कई बार प्रवचन-प्रवाह समाप्त हो जाने पर भी मन्त्र-मुग्ध हो कीलित से बैठे रह जाते हैं। यह सब क्यों होता है ?

यह सब प्रवक्ता के भाव, भाषा एवं शैली का चमत्कार अथवा जादू ही होता है, जो श्रोतृ वर्ग पर अपना अप्रतिम प्रभाव अंकित कर देता है। पटु प्रवचनकर्ता भाव, भाषा व शब्दों का शिल्पी होता है। वह शब्द-संयोजना को मृदु-कोमल, कला-कलित, कर्णाभिराम सौंदर्य प्रदान करता है।

सच्चा प्रवक्ता वह होता है, जो वर्तमान युगीन चेतना में प्रेरणा प्रवाहित करता हुआ अनागत युग को आशावादिता का मधुर संदेश देता है।

यद्यपि प्रवक्ता अपने विषय-निर्धारण एवं विचार के प्रस्तुतीकरण में स्वतन्त्र एवं स्वत्वाधिकारी होता है, किन्तु सिद्धवक्ता वही बन पाता है, जो श्रोतृवर्ग की मनोभूमिका समझकर तदनुकूल विषय-मर्यादा का चयन करने में दक्ष होता है।

वैसे प्रवक्ता के अपने-अपने परिक्षेत्र होते हैं—अध्यात्मशास्त्र, राजनीति, समाज-शास्त्र, भौतिक विज्ञान, प्राणिशास्त्र, इतिहास, भूगोल आदि, किन्तु प्रकृत में चूँकि हम एक अध्यात्म-प्रवक्ता की वाणी-विवेचना प्रस्तुत करने जा रहे हैं, अतः यहाँ अध्यात्म प्रवक्ता की ही कुछ मौलिक विशेषताओं पर दृक्पात करेंगे।

जैनागमों के परिशीलन से यह स्पष्ट परिज्ञान होता है कि जैन धर्म अथवा दर्शन को जैन प्रवचन—"जिण पवयण" की संज्ञा भी सम्प्राप्त हुई है। जैन दर्शन की परम्परा प्रवचन के माध्यम से ही आज तक अक्षुण्ण बनी रही है। आज जो जैन वाङ्मय उपलब्ध है, वह शिष्य-प्रशिष्यानुरूप में श्रुति-परम्परा के आधार पर ही सुरक्षित रखा जा सका है। अतः प्रवक्ता किंवा प्रवचनकार का

जैन तत्त्वज्ञान की सुरक्षा में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। जैन दर्शन में प्रवचन का प्रारम्भ जिन-दर्शन के उद्गाता तीर्थंकर महाप्रभु की पीयूषवर्षी वाग्धारा से होता है, जो गणधरों (प्रमुख शिष्यों) के श्रुतकुण्ड में आकर व्यवस्थित संग्रहीति का रूप लेती है तथा गणधरों के द्वारा वह श्रुति-मधुरवाणी-सरिता शिष्य-शिष्यानुरूप के माध्यम से जन-जन के शुष्क हृदय-क्षेत्र को आप्यायित कर सर-सब्ज बनाती चली जाती है। इस प्रकार जिन तत्त्वधारा के आदि प्रवचनकार तीर्थंकर तथा पारम्परिक प्रवचनकार मुनिगण होते हैं। एतदर्थमेव मुनिजीवन की दैनंदिन प्रवृत्ति का एक प्रमुख अंग होता है "प्रवचन"। प्रवचन के माध्यम से ही मुनिगण जन-जन के हृद्देश तक पहुँच कर उसे आर्द्रता से आप्लावित करने का प्रयास करते हैं, किन्तु प्रवचन-साधना में नैपुण्य सहज सुलभ नहीं है। प्रत्येक मुनिश्रेष्ठ प्रवक्ता अथवा प्रवचनकार नहीं बन पाता। आगम-मन्थन एवं साहित्य-साधना के साथ कुछ वैयक्तिक गुणों का विकास प्रवचन-पटुत्व के लिए नितान्त आवश्यक है। वक्तृत्वकला का सौष्ठव भी प्रवचन-प्रावीण्य में नितान्त अपेक्षित है। पाश्चात्य विचारक शेनेका के शब्दों में—"Speech is the index of mind" वक्तृत्व-कला विचारों का मापदण्ड है। अतः वक्ता की सबसे महत्त्व-पूर्ण विशेषता होती है—अपने विचारों के प्रस्तुतीकरण की समीचीन पद्धति। इसके अतिरिक्त भी अध्यात्म प्रवचनकार में कुछ विशेषताओं का संयोजन अनि-वार्य होता है, जिनका विवेचन जैनाचार्यों ने सविस्तार किया है।

प्रवचनकर्ता के पच्चीस गुण

चूँकि जैन दर्शन के विकास एवं विस्तार में प्रवचन की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, या यों कहें कि प्रवचन ही जैन-तत्त्व-दर्शन के व्यवस्थित विकास का आधार रहा है, अतः वहाँ प्रवचनकर्ता को बहुत अधिक सचेष्ट किया गया है। जैनागमों में आचार्य जैसे गौरवपूर्ण पद की प्रमुख विशेषताओं में वचनसम्पदा एवं वाचना-सम्पदा जैसे मौलिक गुणों को अनिवार्य माना गया है। अर्थात् एक जैनाचार्य में प्रवचन एवं वाचना का प्रावीण्य अत्यन्त आवश्यक है। प्रवक्ता की सामान्य-सी उपेक्षा सिद्धान्तों को गलत रूप में अथवा मिथ्या रूप में प्रस्तुत कर सकती है। आजकल हम देखते हैं—सामान्य-सा तत्त्वज्ञान हुआ नहीं, कि हम अपने आपको उपदेशक की गद्दी का हकदार मान बैठते हैं, किन्तु उपदेष्टा बनना सहज नहीं है। एक मौलिक आध्यात्मिक उपदेष्टा को कितना संयमित एवं मितभाषी होना चाहिए, इसकी कुछ गम्भीर विवेचना जैनाचार्यों द्वारा उपदेशक की निम्न पच्चीस विशेषताओं में की गई है। प्रवचनकर्ता के २५ गुण इस प्रकार हैं :—

१— **दृढ़ श्रद्धा :** सर्वप्रथम प्रवचनकार को अपने प्रतिपाद्य विषय के प्रति दृढ़ आस्थावान बनना होता है। प्रवचनकर्ता स्वयं संशयशील हो,

तो वह श्रोताओं में आस्था उत्पन्न करके उन्हें श्रद्धावान् नहीं वना सकता।

२– **वाचनाकला-कुशल :** वह अध्ययन-अध्यापन की कला में निपुण हो। किसी भी आगम साहित्य का अस्खलित अध्येता हो तथा सुनाते समय भी पुनः-पुनः स्खलित न हो। अत्यन्त रुक्ष विषय को भी सरस एवं सुबोध बनाने में दक्ष हो।

३– **निश्चय-व्यवहार-विज्ञ :** वह तत्त्व के नैश्चयिक एवं व्यावहारिक स्वरूप का विज्ञाता हो अर्थात् वह जाने कि आगम का कौन-सा सूत्र निश्चय-नय के द्वारा प्रतिपादित किया गया है तथा कौन-सा व्यवहार-नय के द्वारा। नय-प्रतिपादना का समुचित वोध न होने पर विषय-प्रतिपादन समीचीन नहीं होगा। परिणामतः भावुक श्रोता भ्रान्त वन सकते हैं तथा कई वार वक्ता स्वयं असमंजस में उलझकर अनर्थ कर सकता है।

४– **जिनाज्ञा-आराधक :** वह वीतराग प्रभु की आज्ञा के प्रति अटल निष्ठावान रहते हुए सिद्धान्त-विपरीत प्ररूपणा से सदा भयभीत रहने वाला हो।

५– **क्षमा :** वक्ता को जिस विषय का प्रतिपादन करना है, उसका स्वयं में अनुशीलन नितान्त आवश्यक है। यदि प्रवक्ता क्षमावान नहीं है; उत्तेजक प्रवृत्ति से संयुक्त है, तो वह क्षमादि धर्मांगों का सचोट प्रवचन करने में सदा शंकित रहेगा। साथ ही अपनी क्रोध वृत्ति के कारण प्रवचन में अनुचित शब्दों का प्रयोग भी कर सकता है। अतः प्रवचनकार के लिए सतत जागृति के साथ क्षमागुण-सम्पन्न होने की नितान्त अपेक्षा है।

६– **निरभिमानता :** क्षमाशीलता की तरह ही एक उच्चकोटि के अध्यात्म-प्रवक्ता में विनम्र-वृत्ति का प्रादुर्भाव भी आवश्यक है। अपने अहं में फूलने वाला व्यक्ति नूतन तत्त्वज्ञान का अधिकारी नहीं बन पाता। फलस्वरूप उसकी बुद्धि का विकास अवरुद्ध हो जाता है। अविकसित बुद्धि के कारण वह वास्तविक तत्त्व-निर्णय नहीं कर पाता और अपनी असत् प्ररूपणा पर आग्रही बना रहता है। अतः प्रवक्ता का निरभिमानी होना भी एक विशेष गुण है।

७– **निष्कपटता :** जो उपदेष्टा ऋजु अर्थात् सरल-हृदयी होगा, वही यथावत् उपदेश कर सकता है। कुटिल व्यक्ति अपनी कमजोरियों को छिपाने हेतु सत्य तथ्य को भी विपरीत रूप में प्रस्तुत करता है।

८– **निर्लोभता** : उपनिषद् का एक सूक्त है : "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं"—अर्थात् जहाँ लोभ वृत्ति का प्रादुर्भाव होता है, वहाँ सत्य का मुँह बन्द हो जाता है। उपदेशक यदि लोभी-लालची होगा, तो वह लोभवश नग्न सत्य नहीं कहकर भक्तों को प्रसन्न करने वाली बात ही कहेगा। अतः उपदेष्टा का निर्लोभी होना आवश्यक है, ताकि निर्भीकतापूर्वक राजा, रंक सभी को सत्य-मार्ग का पथिक बना सके।

९– **अभिप्रायज्ञता** : प्रवक्ता में एक मनोवैज्ञानिक गुण "अभिप्रायज्ञता" का होना भी आवश्यक है। श्रोताओं के चेहरे को पढ़कर वह उनके अभिप्रायों को जान ले और तदनुसार विषय का निर्धारण करे।

१०– **धैर्य** : धैर्यगुण का संयोजन प्रवक्ता को अति-उच्चता पर प्रतिष्ठित कर देता है। वह प्रत्येक विषय को धैर्य के साथ स्पष्ट करता चले ताकि वह श्रोताओं के लिए प्रभावशाली रूप से ग्रहणीय बनता चला जाय। जो भी शंकाएँ हों, सदा अक्षुब्ध रहते हुए वह उनका मधुर समाधान प्रस्तुत करे।

११– **अनाग्रही** : वह किसी भी प्रकार का मिथ्या आग्रही न हो। यदि किसी प्रश्न का समुचित समाधान तत्काल न दिया जा सके, तो आग्रही बनकर गलत राह न पकड़े, प्रत्युत नम्रतापूर्वक स्पष्ट कर दे "मुझे इस प्रश्न का उत्तर ज्ञात नहीं।"

१२– **निन्द्यकर्म से रहित** : वह चोरी, व्यभिचार, विश्वासघात आदि निन्दनीय कर्मों से दूर रहता हो। जो स्वयं सद्गुणी होगा, वही अप्रतिहत बनकर प्रवचन कर सकेगा।

१३– **कुलीनता** : कुलहीन प्रवक्ता के प्रति श्रोताओं के हृदय में सहसा श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती है, फलतः श्रोता उसकी मर्यादा नहीं रखते और उसके वचनों का प्रभाव भी उन पर सटीक नहीं पड़ता। अतः उसका कुलीन होना प्रभावकारी होता है।

१४– **परिपूर्णांगता** : वक्ता का आंगिक सौन्दर्य भी श्रोताओं के लिए प्रभावी होता है अतः प्रवचनकार सर्वांग-सम्पन्न होना चाहिए। अंगहीन वक्ता सुशोभित नहीं होता।

१५– **स्वर-माधुर्य** : वक्तृत्व कला के साथ स्वर-माधुर्य का संयोजन सोने में सुगंध का कार्य करता है। वक्ता के स्वर कर्कश नहीं, मधुर होने चाहिए, ताकि वे प्रियकारी हो सकें।

१६– **बुद्धिमत्ता** : वक्ता गम्भीर, प्रतिभावान्, बौद्धिक चातुर्यवाला होना चाहिए, ताकि उसके द्वारा सूक्ष्म विषय का भी सुबोध प्रतिपादन हो सके।

१७– **मधुर वचन** : स्वर-माधुर्य के साथ ही वचन-माधुर्य भी आवश्यक है। वचन की मिठास प्रवचन में मिश्री का कार्य करती है। मधुर तथा प्रियकारी शब्दों से श्रोतृवर्ग की प्रीति उत्पन्न होती है, फलतः वे मनोयोगपूर्वक प्रवचन सुनते हैं। कठोर एवं कटु शब्द श्रोताओं में क्षोभ-उत्पत्ति के कारण बन जाते हैं।

१८– **प्रभावशाली** : जिसका व्यक्तित्व प्रभावशाली होता है, उसके वचन भी प्रभावोत्पादक होते हैं। अतः प्रवचनकार का प्रभावशाली होना भी आवश्यक है।

१९– **सामर्थ्य-सम्पन्न** : प्रवक्ता को सामर्थ्यशाली होना चाहिए अर्थात् प्रवचन के बीच में बौद्धिक अथवा शारीरिक थकान नहीं आनी चाहिए, ताकि प्रवचन अस्खलित रूप से चल सके।

२०– **व्यापक अध्ययन** : प्रवचनकार का अध्ययन सूक्ष्म, तलस्पर्शी एवं पांडित्यपूर्ण होना चाहिए। उसे स्वसिद्धान्त के साथ-साथ अन्य ग्रन्थों का अध्ययन, मनन, चिंतन भी होना चाहिए, ताकि वह युक्ति-पुरस्सर विवेचना प्रस्तुत कर सके।

२१– **आत्मवेत्ता** : चूँकि यहाँ मुख्यतया अध्यात्म प्रवचनकार का विश्लेषण प्रस्तुत है, अतः प्रवक्ता का आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी अध्यात्म बोध परिपुष्ट होना चाहिए, क्योंकि अध्यात्म-विद्या-आत्मज्ञान के बिना समस्तज्ञान निस्सार एवं निष्प्रयोजन है।

२२– **शब्द रहस्यवेदी** : जो व्यक्ति शब्दों के गूढ़ मार्मिक अर्थों को नहीं समझता है तथा अपनी भावाभिव्यक्ति में समुचित शब्द प्रयोग नहीं कर पाता है, वह सुन्दर प्रवक्ता नहीं बन सकता। उचित शब्द-संयोजना के बिना प्रवचन प्रभावक भी नहीं हो सकता है तथा भ्रान्ति भी उत्पन्न कर सकता है। अतः प्रवचनकर्ता को शब्दों के रहस्य का ज्ञाता होना चाहिए।

२३– **अर्थ-संकोच प्रवण** : प्रवक्ता की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता होती है अर्थ-संकोच व अर्थ-विस्तार की क्षमता। समय की अल्पता को देखकर विस्तृत विचारों को सीमित शब्दों में प्रतिपादित कर सकने तथा समय के आधिक्य में अल्प से सूत्र की भी विस्तृत विवेचना प्रस्तुत करने की योग्यता उसमें होनी चाहिए।

२४– **तर्कज्ञ** : तार्किकता का बोध भी प्रवक्ता में अति अपेक्षित है। किसी भी व्यक्ति के तर्कपूर्ण प्रश्नों का समाधान तर्क-प्रवणता के बिना युक्ति-पुरस्सर नहीं हो सकता। अतः प्रवक्ता को तर्कपटु होना चाहिए।

२५– **गुणयुक्तता** : प्रवचनकार का सर्वतो महान् गुण है—गुणयुक्तता तथा गुण-ग्राहिता। प्रवक्ता में प्रामाणिक, प्रतिष्ठित, प्रभावशाली तथा विश्वासपात्र बनाने वाले सभी गुणों का संयोजन होना चाहिए। गुणों के बिना उसके वचन प्रामाणिक एवं सर्वमान्य नहीं बन सकते हैं।

उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त अन्य सद्गुणों के समुचित संयोजन से कोई भी वक्ता यथार्थतः प्रवचनकार के महनीय पद का अधिकारी बन सकता है :

जादू भरे वाग्मी

यह कहा जा चुका है कि प्रवचन जैन मुनियों की दैनिक प्रवृत्तियों का एक अभिन्न अंग है। वे आत्म-द्रष्टा एवं अध्यात्म-प्रवक्ता होते हैं, किंतु प्रवचन-कला में सभी मुनिगण प्रवण हों, यह आवश्यक नहीं। सभी की अपनी-अपनी मेधा एवं चिन्तन-क्षमता भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। विचार अभिव्यक्ति का कौशल भी सभी का अपना अलग होता है। अतएव हम देखते हैं कि कुछ प्रवक्ताओं की वाणी में जादू-सा आकर्षण होता है। हजारों मील से लोग प्रवचन-पान हेतु भागे चले आते हैं। विषय पुराना हो अथवा नया, सुनाने की कला उसमें नूतनता का संचार कर जादू उत्पन्न कर देती है।

ऐसे ही जादूभरे वाग्मी हैं परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानालाल जी म० सा०। एक अध्यात्म प्रवचनकर्ता में जिन मौलिक विशेषताओं का समायोजन अपेक्षित होता है, वे सभी पूज्य आचार्य देव की नैसर्गिक संपदा हैं। आपकी प्रवचन-शैली में न मालूम ऐसा क्या जादू भरा आकर्षण है, कि प्रायः प्रतिदिन आपके प्रवचनों में हजारों की भीड़ लगी रहती है। सैंकड़ों मील से आगत श्रोता मंत्रमुग्ध से चकोरवत् प्रवचन-पान करते हैं। आचार्य श्री की प्रवचन-शैली अद्भुत एवं विलक्षण है। सामान्य से विषय को भी आप इस अद्भुत एवं विलक्षण शैली में अभिव्यक्ति देते हैं कि श्रोता सम्मोहित हो जाते हैं। आपकी प्रवचन-शैली का चमत्कार यह है कि गंभीरतम सिद्धान्त भी सुगम एवं सुबोध बन जाते हैं। चूँकि आपके प्रवचनों का मुख्य विषय अध्यात्म है, अतः उसमें रूक्षता का होना स्वाभाविक है। किंतु आप उस रूक्ष विषय को इतनी सचोट एवं सरस अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं कि सामान्य बुद्धिवाला श्रोता भी सरसता का पान करता रहता है। आपके प्रवचनों की भाषा सुबोध होते हुए भी प्राँजल, अलंकृत एवं ओजयुक्त होती है। वह श्रोता के मस्तिष्क पर भार नहीं बनती।

मधुरता एवं ओजस्विता से ओत-प्रोत प्रवचन रूपकों तथा लघुकथाओं से सुसज्जित एवं प्राचीन आगम तथा नवीन कथा सूक्तियों से प्रमाणित होकर और अधिक प्रभावशाली बन जाते हैं। प्रत्येक कथा को हर बार आप इस विलक्षण पद्धति से प्रतिपादित करते हैं कि घंटों तक हजारों नर-नारी मंत्रमुग्ध से निश्चल एवं शांत बैठे रहते हैं। घड़ी की सूचिकाएँ निरन्तर आगे बढ़ती रहती हैं, किन्तु श्रोता समय के अवधान को विस्मृत कर जाते हैं। आपका प्रवचन-संबंधी प्रमुख अतिशय किंवा माहात्म्य है कि प्रवचन-मंडप में आपके पदार्पण करते ही, एकदम नीरवता एवं निस्तब्धता छा जाती है। जन-समुदाय इस प्रकार सुस्थिर हो जाता है मानो सम्मोहित हो गया हो। यही कारण है कि ८-१० हजार की जनमेदनी में आप अपनी साधु मर्यादा को अक्षुण्ण बनाए रखते हुए किसी ध्वनि-विस्तारक यंत्र को माध्यम बनाए बिना अपनी सिंह-गर्जना प्रसारित करते हैं तथा किसी श्रोता को यह शिकायत नहीं होती कि वह आप श्री का प्रवचन भलिभाँति नहीं सुन पा रहा है।

जयपुर वर्षावास का वह प्रसंग स्मृति-पटल पर उभर रहा है जिसमें वहाँ के प्रतिष्ठित सज्जन श्री ज्ञानचंद जी चौरड़िया ने एक दीक्षा-प्रसंग पर आग्रह किया—"यह जयपुर सिटी है। यहाँ की जनता पर नियंत्रण पाने के लिए आप श्री को ध्वनिविस्तारक यंत्र का प्रयोग करना होगा।" उस समय आपने स्पष्ट शब्दों में कहा था, "आपके श्रोताओं को प्रसन्न करने के लिए मैं अपने नियमों को भंग नहीं कर सकता। हाँ आप चाहें जितने श्रोता ले आएं, केवल शांति बनाए रखने का कार्य कर लेना—सब तक आवाज पहुँचाने का कार्य मेरा है।" और उस समय विशाल रामलीला मैदान में लगभग ८-१० हजार की जनमेदनी एकत्रित थी, जिसमें आप श्री ने लगभग ४५ मिनट तक प्रवचन किया। सभी श्रोताओं ने श्रवण किया। श्री ज्ञानचंद जी चौरड़िया प्रवचन-समाप्ति पर आचार्य श्री के समीप आकर निवेदन करने लगे—"गुरुदेव, बड़ी अद्भुत शक्ति है आपमें। मैंने सभी श्रोताओं के पीछे तीनों बाजू कुछ-कुछ समय खड़े रहकर प्रवचन-पान किया और आपकी आवाज पीछे तक स्पष्ट सुनाई दे रही थी।" आचार्य श्री की वाणी में वह जादू है जो सम्पूर्ण वातावरण को सरस एवं भाव-विभोर बना देता है।

आपके प्रवचन की दूसरी विशेषता है सभा-चातुर्य। श्रोताओं में किस तत्त्व विवेचना के जिज्ञासुओं का बाहुल्य है तथा उनकी आध्यात्मिक बुभुक्षा कौन-सी खुराक चाहती है, इसे आप जन-समूह पर दृष्टिपात करते ही भाँप लेते हैं। पाश्चात्य दार्शनिक व्ही० सेम्युअल के शब्दों में—Three things are needed for great oratory; not the orator only, but a great theme and a great occasion"—अर्थात् वाणी की सुन्दर एवं सरस अभिव्यंजना के लिए प्रवक्ता ही नहीं, अपितु महत् विषय एवं समुचित अवसर भी अपेक्षित होता है।

श्रद्धेय आचार्य देव में उन सभी अपेक्षाओं का सुन्दर समन्वय है, जो प्रवक्ता की महत्त्वपूर्ण भूमिका के लिए अपेक्षित हैं।

यद्यपि आपके श्रोताओं की कोई बँधी हुई परम्परा नहीं है, तथापि धर्म-श्रद्धा-प्रवण एवं दार्शनिक विचार-विमर्श-निरत श्रोताओं की समुपस्थिति आपके समक्ष प्रधानतया होती है।

जिस समय आप दार्शनिक विमर्श में प्रवेश करते हैं, आपकी गम्भीर दार्शनिक मुद्रा दर्शनीय होती है। आपकी वाणी चिन्तन की सहवर्तिनी बन जाती है। जीवन-दर्शन के स्पष्ट बोध को जब आप ऐतिहासिक चिन्तन-धारा से जोड़ना प्रारम्भ करते हैं तो ऐसा नहीं प्रतीत होता कि आप दर्शन की भिन्नताओं को प्रकाशित कर रहे हैं। प्रतीत होता है एक ही मानव-चेतना विभिन्न दृष्टि-कोणों को बीनती-बराती हुई समाधान को उजागर करती जा रही हो। उस समय आप तो केवल समग्र चिन्तन और अविभक्त काल-गरिमा के साक्षी होते हैं।

चूँकि आचार्य श्री के विचार अनुभूतिमूलक साधना एवं घोर तपस्या के निचोड़ हैं अत: उनमें मौलिकता की अभिव्यक्ति रहती है। संकुचित साम्प्रदा-यिकता की क्षुद्र परिधि उन्हें आबद्ध नहीं करती। समस्त मानव जाति ही नहीं, प्रत्युत संपूर्ण प्राणि समुदाय के हितमार्ग, विश्वकल्याण तथा विश्वशांति की विराट भावना के स्वर उसमें मुखरित होते हैं। आचार्य श्री के दार्शनिक विचारों में अपना स्वतन्त्र चिंतन एवं विराट व्यक्तित्व स्पष्ट परिलक्षित होता है।

निस्संदेह आचार्य श्री के उच्चकोटि के दार्शनिक विचार शाश्वत सत्य के उद्भासक एवं यथार्थता के अवबोधक होते हैं। वे अपने दार्शनिक क्षेत्र में सत्य से आप्लावित पुरातन मान्यताओं का जितना समादर करते हैं, उतना ही नूतन सत्य-स्पृष्ट विचारों का। उनके विचारों में न नूतनत्व का आग्रह है और न पुरातनता का व्यामोह। उनका सर्वतोभावेन परिष्कृत दृष्टिकोण मात्र सत्य का आग्रही है। आपके दार्शनिक विचार-पक्ष, ओज, तेज, सत्य, विवेचन, सरसता एवं माधुर्य से ओत-प्रोत होते हैं।

आपके श्रोताओं का दूसरा वर्ग होता है धर्म श्रद्धालु भक्तों का। आपको वहाँ अपनी भाषा को अत्यन्त सरलता एवं सरसता प्रदान करनी पड़ती है, जहाँ गूढ़ सैद्धांतिक तत्त्वों को रूपकों एवं लघुकथाओं के माध्यम से सामान्य जिज्ञासु मुमुक्षुओं को हृदयंगम करवाना होता है। चूँकि आपके प्रवचन का पुनीत लक्ष्य श्रमण-संस्कृति का अभ्युत्थान एवं भावुक गतानुगतिक जनमानस में शुद्ध धर्म संस्कारों का बीजारोपण करना होता है, अत: आपके प्रवचन की विषय-मर्यादा धर्म भीरू भावुक जनता के अनुकूल होती है। भाषा में सुबोध एवं जीवन्त

मधुरता एवं ओजस्विता से ओत-प्रोत प्रवचन रूपकों तथा लघुकथाओं से सुसज्जित एवं प्राचीन आगम तथा नवीन कथा सूक्तियों से प्रमाणित होकर और अधिक प्रभावशाली बन जाते हैं। प्रत्येक कथा को हर बार आप इस विलक्षण पद्धति से प्रतिपादित करते हैं कि घंटों तक हजारों नर-नारी मंत्रमुग्ध से निश्चल एवं शांत बैठे रहते हैं। घड़ी की सूचिकाएँ निरन्तर आगे बढ़ती रहती हैं, किन्तु श्रोता समय के अवधान को विस्मृत कर जाते हैं। आपका प्रवचन-संबंधी प्रमुख अतिशय किंवा माहात्म्य है कि प्रवचन-मंडप में आपके पदार्पण करते ही, एकदम नीरवता एवं निस्तब्धता छा जाती है। जन-समुदाय इस प्रकार सुस्थिर हो जाता है मानो सम्मोहित हो गया हो। यही कारण है कि ८-१० हजार की जनमेदनी में आप अपनी साधु मर्यादा को अक्षुण्ण बनाए रखते हुए किसी ध्वनि-विस्तारक यंत्र को माध्यम वनाए विना अपनी सिंह-गर्जना प्रसारित करते हैं तथा किसी श्रोता को यह शिकायत नहीं होती कि वह आप श्री का प्रवचन भलिभाँति नहीं सुन पा रहा है।

जयपुर वर्षावास का वह प्रसंग स्मृति-पटल पर उभर रहा है जिसमें वहाँ के प्रतिष्ठित सज्जन श्री ज्ञानचंद जी चौरड़िया ने एक दीक्षा-प्रसंग पर आग्रह किया—"यह जयपुर सिटी है। यहाँ की जनता पर नियंत्रण पाने के लिए आप श्री को ध्वनिविस्तारक यंत्र का प्रयोग करना होगा।" उस समय आपने स्पष्ट शब्दों में कहा था, "आपके श्रोताओं को प्रसन्न करने के लिए मैं अपने नियमों को भंग नहीं कर सकता। हाँ आप चाहें जितने श्रोता ले आएं, केवल शांति बनाए रखने का कार्य कर लेना—सब तक आवाज पहुँचाने का कार्य मेरा है।" और उस समय विशाल रामलीला मैदान में लगभग ८-१० हजार की जनमेदनी एकत्रित थी, जिसमें आप श्री ने लगभग ४५ मिनट तक प्रवचन किया। सभी श्रोताओं ने श्रवण किया। श्री ज्ञानचंद जी चौरड़िया प्रवचन-समाप्ति पर आचार्य श्री के समीप आकर निवेदन करने लगे—"गुरुदेव, बड़ी अद्-भुत शक्ति है आपमें। मैंने सभी श्रोताओं के पीछे तीनों बाजू कुछ-कुछ समय खड़े रहकर प्रवचन-पान किया और आपकी आवाज पीछे तक स्पष्ट सुनाई दे रही थी।" आचार्य श्री की वाणी में वह जादू है जो सम्पूर्ण वातावरण को सरस एवं भाव-विभोर बना देता है।

आपके प्रवचन की दूसरी विशेषता है सभा-चातुर्य। श्रोताओं में किस तत्त्व विवेचना के जिज्ञासुओं का बाहुल्य है तथा उनकी आध्यात्मिक बुभुक्षा कौन-सी खुराक चाहती है, इसे आप जन-समूह पर दृष्टिपात करते ही भाँप लेते हैं। पाश्चात्य दार्शनिक व्ही० सेम्युअल के शब्दों में—Three things are needed for great oratory; not the orator only, but a great theme and a great occasion"—अर्थात् वाणी की सुन्दर एवं सरस अभिव्यंजना के लिए प्रवक्ता ही नहीं, अपितु महत् विषय एवं समुचित अवसर भी अपेक्षित होता है।

श्रद्धेय आचार्य देव में उन सभी अपेक्षाओं का सुन्दर समन्वय है, जो प्रवक्ता की महत्त्वपूर्ण भूमिका के लिए अपेक्षित हैं।

यद्यपि आपके श्रोताओं की कोई बँधी हुई परम्परा नहीं है, तथापि धर्म-श्रद्धा-प्रवण एवं दार्शनिक विचार-विमर्श-निरत श्रोताओं की समुपस्थिति आपके समक्ष प्रधानतया होती है।

जिस समय आप दार्शनिक विमर्श में प्रवेश करते हैं, आपकी गम्भीर दार्शनिक मुद्रा दर्शनीय होती है। आपकी वाणी चिन्तन की सहवर्तिनी बन जाती है। जीवन-दर्शन के स्पष्ट बोध को जब आप ऐतिहासिक चिन्तन-धारा से जोड़ना प्रारम्भ करते हैं तो ऐसा नहीं प्रतीत होता कि आप दर्शन की भिन्नताओं को प्रकाशित कर रहे हैं। प्रतीत होता है एक ही मानव-चेतना विभिन्न दृष्टि-कोणों को बीनती-बराती हुई समाधान को उजागर करती जा रही हो। उस समय आप तो केवल समग्र चिन्तन और अविभक्त काल-गरिमा के साक्षी होते हैं।

चूँकि आचार्य श्री के विचार अनुभूतिमूलक साधना एवं घोर तपस्या के निचोड़ हैं अतः उनमें मौलिकता की अभिव्यक्ति रहती है। संकुचित साम्प्रदायिकता की क्षुद्र परिधि उन्हें आबद्ध नहीं करती। समस्त मानव जाति ही नहीं, प्रत्युत संपूर्ण प्राणि समुदाय के हितमार्ग, विश्वकल्याण तथा विश्वशांति की विराट भावना के स्वर उसमें मुखरित होते हैं। आचार्य श्री के दार्शनिक विचारों में अपना स्वतन्त्र चिंतन एवं विराट व्यक्तित्व स्पष्ट परिलक्षित होता है।

निस्संदेह आचार्य श्री के उच्चकोटि के दार्शनिक विचार शाश्वत सत्य के उद्भासक एवं यथार्थता के अवबोधक होते हैं। वे अपने दार्शनिक क्षेत्र में सत्य से आप्लावित पुरातन मान्यताओं का जितना समादर करते हैं, उतना ही नूतन सत्य-स्पृष्ट विचारों का। उनके विचारों में न नूतनत्व का आग्रह है और न पुरातनता का व्यामोह। उनका सर्वतोभावेन परिष्कृत दृष्टिकोण मात्र सत्य का आग्रही है। आपके दार्शनिक विचार-पक्ष, ओज, तेज, सत्य, विवेचन, सरसता एवं माधुर्य से ओत-प्रोत होते हैं।

आपके श्रोताओं का दूसरा वर्ग होता है धर्म श्रद्धालु भक्तों का। आपको वहाँ अपनी भाषा को अत्यन्त सरलता एवं सरसता प्रदान करनी पड़ती है, जहाँ गूढ़ सैद्धांतिक तत्त्वों को रूपकों एवं लघुकथाओं के माध्यम से सामान्य जिज्ञासु मुमुक्षुओं को हृदयंगम करवाना होता है। चूँकि आपके प्रवचन का पुनीत लक्ष्य श्रमण-संस्कृति का अभ्युत्थान एवं भावुक गतानुगतिक जनमानस में शुद्ध धर्म संस्कारों का बीजारोपण करना होता है, अतः आपके प्रवचन की विषय-मर्यादा धर्म भीरू भावुक जनता के अनुकूल होती है। भाषा में सुबोध एवं जीवन्त

प्रवाह होता है। आपके धार्मिक प्रवचनों की यही विशेषता है कि उनमें भाव को भाषा का मुखापेक्षी नहीं बनना पड़ता, प्रत्युत भाषा भावों की आत्मीया बन जाती है। भाषा की सज्जा के लिए भावों और विचारों को तोड़ना, मरोड़ना आचार्य श्री को अमान्य है। आपकी भाषा भावों की अनुगामिनी होती है।

धार्मिक प्रवचनों का केन्द्रीय पक्ष तो अध्यात्म होता है, किन्तु उसका परिवेश उस नैतिकता से निर्मित होता है जो उदीयमान समाज की विधायिका होती है। आपकी मान्यता है कि समाज के स्वास्थ्य के लिये जहाँ अध्यात्म की प्राण-सत्ता आवश्यक है, वहीं नैतिकता की नियमावली भी। जिस परिवार, समाज, ग्राम, नगर अथवा राज्य में अनैतिकता, अनाचार एवं अराजकता हैं, उसमें आध्यात्मिक उत्थान असंभव है। अतः अध्यात्म के वट वृक्ष को पल्लवित करने के लिए समाज सुधार की भूमिका का निर्माण नितान्त अपेक्षित है। अतएव आपके प्रवचन वर्तमान को स्पर्श करते हुए होते हैं। वे श्रोताओं के लिए सहज हृदयस्पर्शी होते हैं।

प्रथम तो रूक्ष धार्मिक विषय और दूसरा समाज का धर्म के प्रति उपेक्षा-भाव, दोनों मिलकर धार्मिक श्रोताओं की संख्या को अल्पतम करते जा रहे हैं। परन्तु आपश्री का प्रवचन इसका अपवाद है। हजारों की संख्या आपश्री के प्रवचन में प्रतिदिन बनी रहती है। एक बार जो आपकी पीयूषवर्षी वाग्धारा का रसपान कर लेता है, वह दुबारा अपने आप चुंबकीय आकर्षण से खिंचा चला आता है।

आम धारणा बन गई है कि आज का युवा वर्ग धर्म के प्रति उदासीन है, किंतु आचार्य श्री का व्यक्तित्व इसका भी अपवाद है। आपके प्रवचनों में युवकों की जितनी अधिक उपस्थिति रहती है, उतनी बुजुर्गों की नहीं। इसका कारण है आप श्री के प्रवचनों में आधुनिकता एवं पुरातनता के सुन्दर समन्वय का होना। प्रांजल भाषा एवं भावों से सुसज्जित आपकी प्रवचन-पद्धति खण्डन-मण्डनात्मक न होकर पूर्णतया स्याद्वाद सिद्धान्त से पूत एवं समन्वयात्मक होती है। इसीलिए आपके प्रवचन के विषयों में आधुनिक विज्ञानवाद के साथ जैन तत्त्व दर्शन में वर्णित पुद्गलवाद का समन्वयात्मक विवेचन विशेष महत्त्व रखता है। यह, विद्वानों की ज्ञान-पिपासा की तृप्ति के साथ ही जन साधारण के लिए भी परम आह्लादक, रोचक एवं तर्क-संगत सिद्ध होता है। जैन-दर्शन में निरूपित पुद्गल परमाणु-तत्त्व-विवेचना की अद्भुत गरिमा एवं इसकी शक्ति सीमा असाधारण रूप से कितनी गंभीर है, इसके तलस्पर्शी, विवेचन की तह तक यदि किसी को प्रवेश पाना है तो वह आज भी परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर के गंभीर तत्त्व विश्लेषणात्मक प्रवचनों का रस-पान कर अपनी ज्ञान-पिपासा को संतुष्ट कर सकता है।

आपके प्रवचन की एक और मौलिक विशेषता है भाषागत संयम। जिस समय आपका धारा-प्रवाह प्रवचन अजस्र रूप में प्रवाहित हो रहा हो, उस समय भो आपका प्रत्येक शब्द निर्दोष मुक्ता की तरह "भाषा समिति" से संयत रहता है। प्रत्येक शब्द आपत्तिजनक अर्थों की केंचुली उतारकर ही आपके समक्ष उपस्थित होता है।

चूँकि आपके धर्म प्रवचन के प्रमुख श्रोता धर्म श्रद्धालु, धर्म भीरू एवं तत्त्व-जिज्ञासु सामान्य जन हैं, अतः आपके प्रवचन में समस्त श्रोताओं के योग्य खुराक होती है। इसी दृष्टि से आपने अपने प्रतिपाद्य विषयों को चार भागों में विभक्त कर दिया है।

प्रथम एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है—अध्यात्म, प्रार्थना-स्तुति की भावपूर्ण विवेचना। महान् अध्यात्म योगी आनन्दघन जी के भावपूर्ण, रसप्रद एवं तत्त्व-निस्यन्द रूप चतुर्विशति स्तव में से किसी आगत सम्मत स्तव का सुमधुर कंठ से भाव विभोर उच्चारण करके जब आप उसकी अध्यात्म-दृष्टि-मूलक विवेचना प्रस्तुत करते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि मानो आप सिद्ध ज्योति की अनिर्वचनीय गहरी अनुभूति कर रहे होते हैं।

महात्मा आनन्दघन जी की प्रार्थना को माध्यम बनाकर आप अपने अध्यात्म-तत्त्व-विश्लेषण का इतना सुन्दर एवं सुबोध विवेचन करते हैं कि श्रोता विषय की दुरूहता से ऊपर उठकर भाव-विभोर एवं तन्मय हो जाते हैं।

प्रार्थना के विवेचन में आत्मा, परमात्मा, कर्म, पुनर्जन्म संसार, नवतत्त्व, हेय-ज्ञेय-उपादे का बोध, बन्धन और मुक्ति के कारण, स्वरूप बोध, सम्यग् दर्शन आदि विषयों का निरूपण प्रमुख होता है।

उपर्युक्त विषयों की गंभीर किंतु अति सुबोध विवेचना आप प्रस्तुत करते हैं, जिसमें श्रोताओं में सहज ही गूढ़ तत्त्वों के प्रति जिज्ञासा का भाव प्रादुर्भूत हो जाता है।

प्रवचन का द्वितीय अंग है—शास्त्र-विवेचना। आगम ग्रन्थों में निहित गूढ़ तत्त्वों की सूक्ष्म एवं तलस्पर्शी गम्भीर व्याख्या जब आपके श्रीमुख से प्रवाहित हो रही हो, तब ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई महान् वाग्मी श्रुतधर महात्मा द्रव्यानुयोग की चिन्तनपूर्ण मीमांसा कर रहा हो। आगम के लघुकाय सूक्तों की इतनी सूक्ष्म एवं हृदयग्राही विवेचना आप प्रस्तुत करते हैं मानों छोटे-छोटे मुक्ताओं को स्वर्णतार में आवद्ध कर सुन्दर मनोहारी हार बनता जा रहा है।

किसी भी आगम ग्रन्थ के किसी एक छोटे से सूत्र अथवा गाथा (श्लोक) को लेकर आप उसकी घंटों और दिनों नहीं, बल्कि महीनों तक इतनी मौलिक सैद्धान्तिक-विवेचना प्रस्तुत करते हैं कि आगमगत सूक्ष्म विषय श्रोताओं के लिये सरस एवं अति सुबोध हो जाते हैं। चूँकि जैनागमों पर आपका अधिकार पूर्ण तलस्पर्शी एवं अनुभूतिमूलक अध्ययन है, अतः आपके प्रवचन प्रमुखतया जैन आगम सूक्तों के परिशीलन से ओतप्रोत होते हैं, किन्तु आगमिक अर्थों की परि-पुष्टि तथा श्रोताओं की मनोभूमिका के अनुसार गीता, रामायण, उपनिषद् आदि के सिद्धान्तानुकूल उद्धरण भी प्रवचन में अधिक सरसता का संयोजन कर देते हैं।

प्रवचन का तीसरा सामयिक अंग है—सामाजिक कुरीतियों एवं रूढ़ियों पर प्रहार तथा व्यावहारिक जीवन में नैतिकता के अनुशीलन पर उद्‌बोधन। समाज में फैली हुई जड़ता पर सशक्त चोट करते हुए आपश्री अपने श्रोताओं को कुछ अतीत की सांस्कृतिक स्मृति की ओर सचेष्ट करना प्रवचन का अनिवार्य अंग मानते हैं। आपश्री का यह दृष्टिकोण ही प्रवचन में सामयिकता का समा-योजन कर उसे युगानुकूल परिवेश प्रदान करता है।

होता यह है कि अधिकांश प्रवक्ता अतीत के ऐतिहासिक पृष्ठों को ही दुहराते रहते हैं तथा कुछ पौराणिक कथा-कहानियों से अपने श्रोताओं का मनोरंजन कर देना ही प्रवचन की अथ-इति मान लेते हैं। फलतः उनका यह प्रवचन कुछ रूढ़िग्रस्त भक्तों के अतिरिक्त युवा-चेतना के लिये सशक्त एवं प्रभावक नहीं बन पाता। श्रद्धेय आचार्य देव का दृष्टिकोण इस विषय में इससे कुछ भिन्न है। आपकी यह मान्यता है कि जो आगमिक दृष्टि हमें अपने श्रोताओं को देनी है, जब तक उसे भाषा, भाव और शैली के माध्यम से नूतन परिवेश नहीं देंगे, वह प्रवचन युगीन चेतना को प्रभावित नहीं कर सकेगा। अतः आपके प्रवचनों में अतीत के ऐतिहासिक पृष्ठ एवं अनागत के स्वप्निल स्वर्ग के चित्र अल्पप्राय या नहीं वत् ही मिलेंगे। आपका दृष्टिकोण है, अपने वर्तमान को स्वर्ग—बनाने का। यदि वर्तमान स्वर्ग बन गया तो अनागत निश्चित स्वर्गीय आनन्दप्रद बन जावेगा। धर्म केवल अनागत के लिये नहीं प्रत्युत इसका सम्बन्ध वर्तमान से अधिक है। भविष्य में तो इसके लाभ होंगे ही, किन्तु सर्वप्रथम आपका वर्तमान उससे आलोकित होगा। इसी संदर्भ में आप अपने प्रवचन में आधुनिक विज्ञान एवं आगमिक सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करते हैं, जो सहज ही आज के वैज्ञानिक युग के श्रोताओं के लिये आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। वैसे आधुनिक विज्ञान विषय में आपकी मान्यता है कि वैज्ञानिक दृष्टि जो कुछ हमारे समक्ष लाती है वह सर्वथा शत-प्रतिशत सत्य ही है, ऐसा नहीं माना जा सकता है। हाँ, जो वैज्ञानिक-विश्लेषण आगमिक कसौटी पर

खरे उतर जावें, वे मान्य हो सकते हैं। कसौटी विज्ञान नहीं, कसौटी का आधार सर्वज्ञ सर्वद्रष्टा प्रभु की वाणी ही हो सकती है। वैज्ञानिक अवधारणाएँ प्रायः स्थिर नहीं रह पाती हैं। उनमें परिवर्तन अनिवार्य है। एक वैज्ञानिक जिन तथ्यों को अनुभूतिमूलक सत्य से प्रमाणित मानता है, उसे ही कुछ समय के अन्तराल में दूसरा वैज्ञानिक अपनी अनुभूति के आधार पर असत्य घोषित कर देता है। अतः वैज्ञानिक दृष्टिकोण आंशिक एवं सापेक्ष सत्य माना जा सकता है, पूर्ण सत्य नहीं।

प्रवचन के इसी अंग के अन्तर्गत युगीन घटनाओं, रूपकों, ऐतिहासिक लघु कथानकों, वैराग्योत्पादक एवं नीति-निर्देशक धार्मिक चर्चा-वार्ताओं एवं अनुभवों का संयोजन सहजतया हो जाता है, जो प्रवचन की सरसता में कला-संपादन का कार्य करता है।

चूँकि आपके आम प्रवचनों में धर्म-भीरु एवं श्रद्धा-संपन्न भावुक महिलाओं की उपस्थिति भी अत्यधिक होती है और उन्हें गूढ़ सैद्धान्तिक तत्त्व-स्वरूप को हृदयंगम करवाना सहज नहीं है, अतः आपके प्रवचन का अंतिम एवं चतुर्थ अंग है—पौराणिक आख्यानों और काव्य-ग्रन्थों की कथा वस्तु को हिन्दी अथवा प्रांतीय देशी भाषाओं में गेय रूप देकर ढालों एवं चौपाइयों के रूप में प्रस्तुत करना तथा तद्द्वारा श्रोताओं के मानस-पटल पर विवेक, दया, दान, तप, सेवा, सहानुभूति, सद्व्यवहार, क्षमा, सहिष्णुता, शांति आदि सद्गुणों की कोमल कलित भावनाओं का प्रादुर्भाव करना।

सुमधुर कोमल कंठ से उच्चरित भावपूर्ण काव्य-मय ये व्याख्यान स्वयं आपके द्वारा रचित होते हैं जो आपकी काव्यमय प्रतिभा के सूचक हैं। अलंकार एवं मुहावरों से सुसज्जित इन काव्यरचनाओं में आपकी अनुभूतियों के स्पष्ट दर्शन होते हैं। इनमें मात्र कथावस्तु पौराणिकता की ओर द्योतन करती है, अन्यथा चूँकि यह आपकी स्वयं की काव्य-प्रतिभा का चमत्कार होता है अतः इनमें जीवन के हर कोण का वर्तमान परिवेश की दृष्टि से स्पष्ट चित्रण मुखरित होता है। नाम मात्र को ही यह पौराणिक आख्यान होता है। आचार्यश्री इसमें ऐसी नूतनता को उन्मेषित कर देते हैं कि श्रोतागण अतीत और वर्तमान के मधुर समन्वय के झूले में झूलने का आनन्दन लेते रहते हैं।

सब मिलाकर आपका प्रत्येक प्रवचन प्रकाण्ड विद्वान् से लेकर सर्व साधारण तक के लिए समुचित खुराक प्रस्तुत करता है तथा जीवन के सभी दृष्टि-बिन्दुओं का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। आपके ओजस्वी प्रवचनों से जहाँ एक ओर युगीन चेतना को जागृति की प्रेरणा मिलती है, वहाँ दूसरी ओर भावी युग को जीवन की स्वर्णिम आशा का मधुर संदेश भी। आपश्री की पीयूष

वाग्धारा के प्रत्येक वाक्य एवं उसके प्रत्येक शब्द-कण में जीवन-ज्योति को जगमगाने वाला विमल आलोक भरा रहता है। न जाने कितनी चेतनाओं ने आपश्री के प्रवचनों से प्रेरणा का आलोक प्राप्त किया है। कितनी प्रसुप्त आत्माओं ने जागरण-उद्बोधन का स्वर प्राप्त किया है, कितने हताश व्यक्तियों को आशा का प्रकाश स्तम्भ परिदृष्ट हुआ है।

आपके प्रवचनों से समाज ने अतुलनीय लाभ प्राप्त किया है। लाखों व्यक्ति लाभान्वित हुए और हो रहे हैं। आपके प्रवचनों से समाज में चली आ रही कई सामाजिक रूढ़ियों, अन्धविश्वासों और विचारों की जड़ताओं का अन्त तथा पराभव हुआ है। इस दृष्टिकोण से यदि कहें कि आप अपने युग के विधाता, अधिवेत्ता एवं युग-जागरण के अधिचेता हैं, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। आज का भारतीय जीवन अपने बीच ऐसे उदात्त, चरित्र-निष्ठ, ब्रह्मचर्य की गरिमा से मण्डित सरस्वती के वरद पुत्र को पाकर गौरवान्वित है।

वक्ता-प्रवक्ता तो और भी उच्चकोटि के प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु जिनके जीवन के विचार, उच्चार एवं आचार में अद्भुत साम्य हो, ऐसे चरित्रनिष्ठ प्रवचनकार की उपलब्धि इतिहास को यदा-कदा ही होती है। श्रद्धेय आचार्य देव ऐसे ही उच्चकोटि के प्रवचनकार हैं, जिनकी मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्तियों में समरस टपकता है, अथवा यों कहें कि उनके जीवन का कण-कण एवं प्रत्येक क्रियान्विति स्वतः ही अभिप्रेरक-दृष्टान्त है। ऐसी निर्मिति, जो आगन्तुक को दर्शन मात्र से ही अनुप्राणित कर देती है।

आपके धारा-प्रवाही उपदेश का पूर्ण रसास्वादन तो पुनीत चरणों के उपपात में बैठकर ही किया जा सकता है, किन्तु आंशिक आस्वादन के लिए कुछ मुक्ता-कण हम यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे हैं।

यह कहा जा चुका है कि आपश्री के अमृत प्रवचन सामयिक एवं युगानुकूल दृष्टि-बोधक होते हैं। धर्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, अध्यात्मवाद, भौतिकवाद, सामाजिकता, मानवता, राष्ट्रीयता आदि प्रत्येक पहलू की व्याख्या आपके प्रवचनों में वर्तमान युग का स्पर्श करती हुई अतीत को उजागर करती है।

वर्तमान युग में धर्म और विज्ञान एक दूसरे को चुनौती देते-से प्रतीत होते हैं। वैज्ञानिक विकास धार्मिक विश्वासों के समक्ष संकट उपस्थित कर रहा है। परमाणु ऊर्जा एवं भौतिक तथ्यों के नित नये उद्घाटन तथा आधुनिक सुविधाओं का अम्बार मानवीय चेतना को दिग्मूढ़ बनाकर भोग और वासना की अनजानी राह पर चलने के लिए प्रेरित कर रहा है। चारों तरफ विज्ञान का चुनौती भरा हौआ अट्टहास कर रहा है। ऐसी स्थिति में वैज्ञानिक तकनीकी

को न तो नकारते बनता है और न स्वीकारते। सामान्य जन-मानस दिग्भ्रमित सा बन जाता है। ऐसे दिग्भ्रमित मानव को दिग्बोधक प्रकाश का संबल देते हुए आचार्यश्री कहते हैं—

विज्ञान और धर्म

आज का युग विज्ञान व तकनीकी युग कहलाता है तथा विभिन्न भौतिक क्षेत्रों में विज्ञान ने काफी उन्नति की है। नई-नई खोजों के फलस्वरूप एक ओर विश्व के विभिन्न भागों में रहने वाले लोगों में समीपता बढ़ी है, तो दूसरी ओर लोगों की भौतिक सुख-सुविधाओं में भी भारी बढ़ोतरी हुई है।

आत्मा का आधार चिंतन है तो विज्ञान का आधार प्रयोग। प्रयोग एक भौतिक प्रक्रिया है, जबकि चिंतन अन्तःप्रेरणा से प्रस्फुटित होता है। चिंतन मूल है, तो प्रयोग उसकी शाखा, क्योंकि दोनों का सम्बन्ध आत्मिक शक्ति से है। अन्तर यह आता है कि आध्यात्मिकता की ओर विकास करना आत्मा का प्रधान धर्म माना गया है, तो कोरे विज्ञानवादी भौतिक प्रगति को ही अपना अक्ष्य मानते हैं। अतः उनके चिंतन में वह सूक्ष्मता नहीं आ सकती जो एक आत्मवादी के चिंतन में प्रकट होती है।

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जो लोग विज्ञान की प्रामाणिकता को ही एक मात्र कसौटी मानकर चलना चाहते हैं, उनकी धारणा स्वयं प्रामाणिक नहीं है। इसका कारण यह है कि एकाकी रूप में विज्ञान स्वयं अधूरा है। विज्ञान में प्रयोग चलते रहते हैं, सत्यांश उन्हें मिलता रहता होगा, किन्तु एक वैज्ञानिक कभी पूर्ण सत्य का पता नहीं पा सकता है, जबकि एक चिंतक अपनी साधना के बल पर पूर्ण सत्य की खोज सफलतापूर्वक कर लेता है। विज्ञान की खोज कभी पूरी नहीं होती और सबसे बड़ी बात तो यह है कि उस खोज का दायरा जब भौतिक क्षेत्र में ही पूरा नहीं बैठता, तो वह व्यापक पूर्णता भला प्राप्त भी कैसे करेगा ?

मेरे भाई कभी-कभी प्रश्न उठाते हैं—वैज्ञानिकों ने अमुक चीज बना दी, अब उसके आगे कोई चीज है ही नहीं। परन्तु आपको ध्यान रखना चाहिये कि इस विज्ञान में जितने विषय आते हैं, वे बहुत थोड़े हैं, पर शास्त्रों के विषय विशाल व व्यापक होने के साथ-साथ पूर्ण और अंतिम सत्य का दिग्दर्शन कराने वाले होते हैं। वे इतने गूढ़ भी होते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति उन्हें बिना गहन चिंतन के आसानी से नहीं समझ सकता है।

मैं एक बार सन् १९५२ के करीब जब सब्जी मंडी, दिल्ली में था, तो एक भाई ने मुझे 'धर्मयुग' पत्र दिखाया था, जिसमें एक वैज्ञानिक ने एक

वनस्पति के सम्बन्ध में निज के अनुभव वाला एक लेख लिखा था। लेख में बताया गया कि वह वैज्ञानिक जंगलों में घूमने का शौकीन था अतः दो आदि-वासियों को साथ लेकर वह एक घने जंगल में गया। वहाँ उन आदिवासियों ने उसे दूर से एक वृक्ष दिखाया व पास में जाने से मना किया। उस वृक्ष की टहनियाँ करीब ४२ फीट तक लम्बी थीं। वह बड़ा सुन्दर था, किन्तु आदिम-वासियों ने वैज्ञानिक को बताया कि यह मांस-भक्षी वृक्ष है। उसी समय उनके देखते-देखते एक मृग भागा-भागा उधर आया और उस वृक्ष की टहनियों ने आगे बढ़कर उसे जकड़ लिया। उसे जकड़ कर टहनियों ने उसे बीच के गुच्छे में फेंक दिया जहाँ से थोड़ी देर बाद उस मृग की कोरी हड्डियाँ बाहर गिरती नजर आईं।

यह सब देखकर वैज्ञानिक की जिज्ञासा अति उग्र हो उठी कि वह उस गुच्छे के रहस्य का पता लगावे। उसने आदिवासियों को धन का लोभ देकर प्रेरित किया कि वे कुछ ऐसा उपाय करें कि वह गुच्छा फिर बाहर निकले। उन्होंने एक बंदर को उस वृक्ष की सीमा में भगाया कि टहनियों ने फिर बंदर को पकड़ा और उसे बाहर निकले गुच्छे में फेंकने लगीं। तभी वह वैज्ञानिक यह सोचकर भागा कि इस समय वह उस गुच्छे को काट ले ताकि उसका रहस्य उस पर प्रकट हो जाय। वृक्ष के निकट पहुँचते ही एक टहनी ने उसे झटका मारा कि वह संज्ञाहीन सा होने लगा। यदि आदिवासी उसे तरकीब से वहाँ से उठा नहीं लेते, तो मृग व बंदर जैसी दशा उस वैज्ञानिक की भी हो जाती।

कहने का अभिप्राय यह है कि शास्त्र में जिस मांस-भक्षी वनस्पति का वर्णन आया है, उसकी पुष्टि इस वैज्ञानिक के लेख से हो जाती है, किन्तु जिस रहस्य का पता शास्त्रकारों ने युगों पूर्व पा लिया था, उसे एक वैज्ञानिक आज भी पाने में असफल रहा। इसलिए यह खयाल रखने की बात है कि आत्मा का चिंतन बहुत ही गहरा और दूरदर्शी होता है।

भौतिक विज्ञान स्थूल ज्ञान होता है। यह सही है कि इसकी सहायता से मनुष्यों के लिये बाह्य सुख के साधन प्रस्तुत किये गये हैं, किन्तु इसके साथ क्या यह सही नहीं है कि इसी विज्ञान की प्रगति ने संसार के सामने अणुबम आदि के रूप में महाविनाशकारी साधन भी प्रस्तुत किये हैं ? विज्ञान ऐसा है, जिसका सदुपयोग करें तो ठीक, वरना दुरुपयोग तो किया ही जा सकता है। एक उस्तरा होता है, जिससे हजामत भी की जा सकती है, किन्तु यदि वह किसी बन्दर के हाथ लग जाय तो उससे वह किसी की नाक भी काट सकता है। आत्मज्ञान से हीन मनुष्य की अवस्था बन्दर से कम नहीं होती। आज विज्ञान

की प्रगति का जिस कदर दुरुपयोग किया जा रहा है, उससे संसार के अस्तित्व तक के सामने क्या प्रश्नचिह्न नहीं लगा हुआ है ?[1]

वैज्ञानिक अपने सिद्धान्त के अनुसार प्रयोगशाला में जितना निर्णय वर्तमान में करता है, वह निर्णय भविष्य में भी टिका रहेगा या नहीं, ऐसा विश्वास नहीं किया जा सकता है और न ही वैज्ञानिक स्वयं उस पर विश्वास करते हैं। उनका कथन भी यही है कि वर्तमान में जिन भौतिक साधनों से जो कुछ भी खोज की और उससे जो उपलब्ध हुआ, उसको ही हम कह रहे हैं। सम्भव है कि भविष्य में हमारी यह धारणा भी गलत साबित हो जाय। ऐसा हुआ भी है। पूर्व के वैज्ञानिकों ने निश्चयात्मक रूप से जिसका अनुभव किया और जिसे संसार के सामने रखा, बाद के वैज्ञानिकों ने उसमें संशोधन कर दिया। इस प्रकार वैज्ञानिकों ने प्रयोगशाला में किये गये अनुसंधान की दृष्टि से जिस तत्त्व का निर्णय किया, वह निर्णय पूर्णतया अबाधित नहीं हुआ।

फिर भी वैज्ञानिक अपने अनुसंधान-कार्य में निरंतर लगे रहते हैं, परन्तु अब उनका दृष्टिकोण भौतिक पदार्थों का अनुसंधान करते हुए भी उससे ऊबकर आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होने का है। भौतिक पदार्थों में उन्हें जल्दी सफलता मिली और वे आगे बढ़ गए उनकी उपलब्धि से दुनिया को आश्चर्य हो गया, परन्तु स्वयं वैज्ञानिक आश्चर्यचकित नहीं हैं। वे तो अब भी सोच रहे हैं कि ये प्रयोग और आविष्कार हुए तो साधारण जनमानस भले ही इनको हौवा समझ ले, परन्तु अभी वैज्ञानिक क्षेत्र की दृष्टि से विज्ञान की बचपन की-सी अवस्था है। वह अभी तरुणाई पर नहीं पहुँचा है। जिस दिन वह तरुणाई की पूर्ण परिपक्वता पर पहुँचेगा, उस दिन दुनिया की वर्तमान दशा में परिवर्तन आकर स्थिरता आ सकती है। वैज्ञानिकों का यह तटस्थ मस्तिष्क है। परन्तु आज के पाठकवृंद, विद्यार्थी और अखबारों को देखने वाले विचारवादी कुछ-कुछ बातों को लेकर उनको ही सर्वस्व समझ लेते हैं। यह बहुत बड़ी भ्रांति की बात है। उनका मस्तिष्क भौतिकवादी बन गया है। वे यही चिंतन करते हैं कि इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। इस प्रकार के मस्तिष्क को एक बात के पीछे बाँध देना, भौतिकता से चिपका देना, यह बड़ी हिंसा की अवस्था है। आज के मानवों को चाहिए कि वे अपने मस्तिष्क को खुला रखें और सोचें कि भौतिक-विज्ञान की उपलब्धि से प्राप्त विज्ञान यदि हमारे मस्तिष्क को बाँध देता है, तो हम जड़ीभूत हो जाते हैं और इससे सत् तत्त्व क्या है, इसका पूरा पता नहीं लगा पाते हैं।[2]

१–मन्दसौर चातुर्मास प्रवचन, ताप और तप, पृ० ७६-८०

२–बीकानेर चातुर्मास प्रवचन, आध्यात्मिक आलोक, पृ० ४६–४७

आज मनुष्य का ध्यान भौतिकता की ओर आकृष्ट है। वह यह सोचने लगा है कि जो कुछ भी उसे स्थूल रूप में दिखाई दे रहा है तथा विज्ञान जिन वस्तुओं को प्रमाणित करता है, केवल वे ही सत्य हैं, किन्तु वास्तविकता तो ऐसी नहीं है। मैं विज्ञान का विरोधी नहीं हूँ। लेकिन मैं यह कहना चाहता हूं कि मनुष्य को विज्ञान के साथ-साथ अपना ज्ञान (आत्म-विज्ञान) भी प्राप्त करना आवश्यक है।

एक सीधा-सा प्रश्न है कि विज्ञान ने जो तथ्य प्रमाणित किये हैं, वे इससे पूर्व अस्तित्व में थे कि नहीं ? वे गतियाँ पहले कहाँ थीं ? सत्य तो यह है कि वे इससे पूर्व भी थीं, किन्तु विज्ञान उन्हें अब जान-पहचान सका है। वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं का अब पहले से अधिक विकास हुआ है और धीरे-धीरे वैज्ञानिक उन सभी बातों को स्वीकार करता जा रहा है, जिनका वर्णन शास्त्रों में हमें पहले से ही प्राप्त है।

अतः हमें अपनी दृष्टि को विशाल रखकर चलना चाहिए और विज्ञान को विज्ञान तक ही सीमित रहने देना चाहिए। प्रत्येक बात का मापदण्ड विज्ञान को ही बना लेने से हमारा काम चलने वाला नहीं है कहा गया है—"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।"—अपनी आत्मा के लिये जो प्रतिकूल पड़ता हो, वैसा आचरण दूसरों के लिए भी न करो।

जीवन में अपने व्यवहार का शुद्ध मापदण्ड यही उद्घोष वाक्य होना चाहिए। दूसरों को हम किस दृष्टि से देखें, उनके साथ कैसा व्यवहार करें, यह बात इस कथन से निर्णीत की जा सकती है। हमें स्वयं अपना ही गज, अपना ही मापदण्ड लेकर चलना चाहिए और अपने भीतर झाँककर, अपने स्वरूप को पहचान कर, दूसरों के साथ भी उसी प्रकार का व्यवहार करना चाहिए।

आप व्यापार करते हैं, कपड़े का। वहाँ लेन-देन का साधन गज या आजकल मीटर है। अनाज के व्यापारी के पास किलो-क्विटल है। सोने-चाँदी के व्यापारी के पास ग्राम, आदि हैं। तो प्रत्येक व्यापारी के लिए भिन्न-भिन्न साधन और आधार हैं। यदि एक सोने-चाँदी का व्यापारी मीटर या किलो से तोल या नाप करने लगे, तो उसका दिवाला निकल जाय या उसका काम नहीं चले। उसका काँटा भी टूट सकता है। इसी प्रकार से आजकल हवा के दबाव और वजन को नापने के लिए भी यन्त्र हैं। तो ये सब भौतिक साधन हैं। इन साधनों से आध्यात्मिक तत्त्व को नहीं नापा जा सकता है।

इसीलिए मैं आपसे कहता हूँ कि जीवन के दोनों पक्षों को बड़े ध्यान से देखिए। गम्भीरता से विचार कीजिए। एक ही पक्ष (पंख) के होने से जिस प्रकार से कोई पक्षी उड़ान नहीं कर सकता, उसी प्रकार यदि आप अपने जीवन

के एक ही पक्ष को साधते चले जायेंगे और दूसरे पक्ष की अवहेलना कर देंगे, तो आपके विकास की गति रुक जायेगी।

एक वैज्ञानिक के लिए भी यही बात उचित ठहरती है। विज्ञान की उपलब्धियाँ हितकर हैं, बशर्ते कि उनका उपयोग मानव-कल्याण के लिए किया जाय न कि मानव संहार के लिए। किन्तु एक वैज्ञानिक को भी जीवन के दूसरे पक्ष—आध्यात्मिक पक्ष को नहीं भूलना चाहिए, तभी सारी वैज्ञानिक उपलब्धियों का सही उपयोग हो सकता है।[1]

इस संदर्भ में विज्ञान की स्थिति भी समझने लायक है। विज्ञान सत्य के पहले छोर को पकड़ कर प्रस्थान करता है। अन्वेषण और अनुसंधान के बल पर वह चलता रहता है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि वह सत्य पर ही चल रहा है। आज वह जिसे खोज सका है, वह विज्ञान के लिए आज सत्य है। हो सकता है कल प्रयोग का परिणाम आज के सत्य को बदल देने वाला और नये सत्य को उद्घाटित करनेवाला बन जाय। सत्य के अंतिम छोर तक पहुँचाने का दावा भी विज्ञान नहीं करता, क्योंकि वह रास्ता बहुत लंबा होता है तथा पदार्थों की स्थिति निरंतर परिवर्तनशील होती है, फिर जितना भी सत्य विज्ञान की सहायता से प्रकट होता है, उसका बहुलांश जड़ तत्त्व—भौतिकता से संबंधित होता हें। वस्तुतः आत्मा (याने चैतन्य) विज्ञान का प्रयोग-विषय ही नहीं होता।[2]

वर्तमान युग में भौतिक विज्ञान की प्रगति को देखकर सभी उसकी ओर आकर्षित होते हैं और उस जोश में अध्यात्मवाद की मौलिकता एवं वैचारिकता का चिंतन करने से कतराते हैं। युवक और प्रबुद्ध वर्ग भी भौतिक विज्ञान से ही प्रभावित हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि बड़े-बड़े अनुसंधान एवम् अन्वेषण सफल बनाकर विज्ञान से सबको आश्चर्य में डाल रखा है, लेकिन जहाँ प्रयोगात्मक विधि से विज्ञान का विकास संभव है, वहाँ आत्म-विकास की सूक्ष्म रेखाओं में चलते हुए चैतन्य का विकास करना अपेक्षाकृत कठिन है। आज का मनुष्य यह सोचने का कष्ट नहीं करता है कि भौतिक-विज्ञान का पिता कौन है ? पुत्र को देखकर सारी दुनिया प्रसन्न हो रही है लेकिन यह पुत्र आया कहाँ से ? अगर ज्ञान नहीं होता तो विज्ञान कहाँ से आता ? विज्ञान पुत्र है तो उसका जनक है चैतन्य। चैतन्य की कोख से ही ज्ञान और विज्ञान का जन्म होता है। तो समझने की बात है कि आध्यात्मिक ज्ञान और भौतिक ज्ञान में विभेद नहीं है बल्कि पिता-पुत्र का संबंध है।

भौतिक विज्ञान के प्रति भी लोगों में जो एकाकी निष्ठा फैल रही है, वह अन्धानुकरण का रूप लेती जा रही है। भौतिक विज्ञान ही श्रेष्ठ है, ऐसा

१—ब्यावर चातुर्मास प्रवचन, शांति के सोपान, पृ० २०१—२०३
२—मन्दसौर चा० प्र०, ताप और तप, पृ० १६६

कहने वाले यह नहीं देखते कि आत्मा और आत्म-ज्ञान के बल पर ही भौतिक विज्ञान का विकास हुआ है। दोनों में से जब मूल पक्ष की उपेक्षा की जाती है, तो वैसा अंतर की आँखों के नहीं खुलने से ही होता है। भौतिक विज्ञान तो अभी भी विकासशील है और अभी वह प्रौढ़ावस्था में नहीं आया है, किंतु यह चैतन्य तो अनन्त शक्ति से संपन्न होता है और उसके चरम को प्राप्त करना पुरुषार्थ पर निर्भर करता है। परमात्मा की उस शक्ति का दर्शन भौतिक विज्ञान की सामर्थ्य में नहीं है।

आत्मा की शक्ति ही प्रधान होती है, जो चेतना और विज्ञान दोनों क्षेत्रों में समान रूप से प्रगति की प्रेरक बनती है। भौतिक विज्ञान के विकास में प्रयोग का फल है, किंतु प्रयोग में रत रहनेवाला और उसमें निरंतर श्रम करने वाला दृढ़ मन ही तो होता है। और यह मन क्या है ? चैतन्य का ही तो एक सबल अंग है। फिर कैसे कह सकते हैं कि भौतिक विज्ञान का क्षेत्र आत्म-शक्ति से परे है ? विद्युत शक्ति पावर हाउस में संगृहीत रहती है और वहाँ से वह बिजली के बल्ब में समाती है, जो आँखों को प्रकाश देते हैं और ऐसी विजली से कई प्रकार के उद्योग, आदि चलाए जा सकते हैं तथा उपयोगी पदार्थों में उससे काम लिया जा सकता है। उससे कारखाना भी चलता है और उससे दाह-क्रिया भी की जाती है। किन्तु जरा-सी असावधानी से बिजली के तारों को जला डालती है, तो जान भी ले लेती है। ऐसी खतरनाक शक्ति को नियंत्रण में रखकर चलाने वाला कौन है ? क्या यह चैतन्य नहीं है ? एंजिन को भौतिक विज्ञान कह लें, तो उसका चालक चैतन्य ही हो सकता है।[1]

युवा-वर्ग के संदर्भ में

आज का संपूर्ण जन-जीवन युवकों को कोसता हुआ-सा परिलक्षित होता है। यद्यपि युवा-वर्ग के प्रति आशाभरी दृष्टि लगी रहती है, तथापि वे सभी आशाएं आज धूमिल-सी निराशा में परिणत होती दिखाई दे रही हैं। एक आम धारणा बन गई है कि युवा-वर्ग भटक गया है, किन्तु आचार्य श्री के विचार इस विषय में भी आशा की एक नई किरण प्रस्तुत करते हैं। आप स्वयं आशावादी दृष्टिकोण को समक्ष रखते हैं—अपने व्यक्तिगत जीवन में भी और सामाजिक परिष्कार के संदर्भ में भी। आपने अपने जीवन की मनोभूमि पर कभी निराशा के बीजों को अंकुरित नहीं होने दिया। आपके आशा भरे स्वर कई बार मुखरित होते हैं—"प्रतीक्षा करो, निराश मत बनो। अंधेरी निशा का अंत होने पर स्वर्णिम प्रभात अवश्य ही आएगा। जिसने धैर्य के साथ प्रतीक्षा की है, उसे प्रकाश अवश्य उपलब्ध हुआ है"—आज के युवा-वर्ग के प्रति भी आप श्री का

१—जयपुर चातुर्मास प्रवचन, पावस प्रवचन, भाग ४, पृ० ५८–५९

ऐसा ही दृष्टिकोण है। अतएव आप अपने प्रवचनों में पुनः-पुनः युवकों को सचेष्ट करते हुए नहीं चूकते हैं। निम्नोक्त प्रवचनों से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि आप में युवा जागृति के प्रति कितनी तड़प है और आज के युवा-वर्ग से कैसी अपेक्षा रखते हैं—

मैं युवकों से कहूँगा कि वे दिल-दिमाग से उत्साहित हों तथा बिना स्वार्थ-भावना के तत्पर होकर समझें। जो समता-जीवन-दर्शन में सब कुछ लगाने को तत्पर होते हैं, वे सब युवक हैं। उम्र से कोई कैसे भी हों, जहाँ उत्साह है, वहाँ तरुणाई है। जो दिल से उत्साही हैं, वे सब तरुण हैं।

परन्तु आज का तरुण-वर्ग कानों में तेल डाल कर सोया हुआ है। तरुण सोचते हैं कि धर्म करना तो वृद्धों का काम है। हमको तो राजनीति में भाग लेना है या नौकरी अथवा व्यवसाय करना है। यह वर्ग जीवन के लक्ष्य को भूला हुआ है। उसको सोचना है कि अपना काम करते हुए भी जीवन के प्राण-समता-दर्शन को नहीं भुलाना है। युवकों को तो नये जोश से आगे आकर इसमें अग्रसर होना ही चाहिए और एक-दूसरे के दिल को जीतना चाहिए।

हमको यह जीवन मिला है, तो ऐसे ही नहीं चला जाए, कुछ-न-कुछ भला तो इस जीवन में अवश्य ही कर गुजरें। अनैतिकता की स्थिति पर चिंतन करके परिवार और समाज में समता-जीवन-दर्शन आए, राष्ट्र और विश्व में समता-जीवन-दर्शन आए, ऐसी भावना यदि तरुणों में आ जाती है और वे जाग जाते हैं, तो सब कुछ करके दिखला सकते हैं। परन्तु आज की युवा-पीढ़ी जिस रूप में चल रही है और उसकी जो दशा है, उसको देखकर कभी-कभी विचार होता है कि तरुणों में जोश है, परन्तु इनमें थोड़े से होश की जरूरत है। वह आ जाए तो ये कुछ-का-कुछ करके दिखला सकते हैं।

युवकों में इस प्रकार की स्थिति हर क्षेत्र में बननी चाहिए—चाहे वह थली प्राँत हो, मालवा हो, या अन्य स्थान हो। उनमें एक जागृति आ जाये, क्रांति का स्वर आ जाए और वे सोचें कि हमको अपने जीवन में समता-दर्शन अंगीकार करके चलना है, हमें आत्मा को जीतना है और समाज में एक नयी लहर पैदा कर देनी है, तो उन्हें जीवन के दुर्गुणों को दूर फेंक देना चाहिए।

आज की युवा-पीढ़ी में कई कुव्यसनों के लांछन हैं। आज का युवक वर्ग उनका दास बन गया है। वे शरीर से तरुण हैं, परन्तु कुव्यसनों की दृष्टि से वृद्ध हो चुके हैं। यदि जीवन में बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू आदि के कुव्यसन हैं तो ये तरुण जीवन को वृद्ध बनाने वाले ही हैं।

क्या यह जीवन के साथ खिलवाड़ नहीं है ? क्या जीवन को इस प्रकार से व्यर्थ में वर्बाद करना चाहिए ? जिनके मस्तिष्क में ऐसे कुव्यसन प्रवेश कर जायें, जो नैतिकता का धरातल भूलकर गिर जायें, ऐसे युवकों को क्या युवा-पीढ़ी में लेंगे ? अरे, इनसे तो वे बूढ़े ही अच्छे हैं, जो कुव्यसनों से दूर हैं और समता-जीवन-दर्शन का लक्ष्य बनाकर चल रहे हैं। निश्चय ही वे तरुण हैं।

बन्धुओ ! ऐसे कुव्यसनों से जीवन का कितना ह्रास हो रहा है। आज डॉक्टर लोग कह रहे हैं कि कैंसर की बीमारी का मुख्य कारण सिगरेट है। डॉक्टरों के पास इसका इलाज नहीं है। वैज्ञानिक भी हैरान हैं। फिर भी लोग उसके अधीन होकर चल रहे हैं। ऐसे व्यक्ति क्या अपने जीवन में समता-दर्शन ला सकते हैं ? उनमें यदि बल है, तो इन कुव्यसनों को दूर फेंक देना चाहिए। जब तक नहीं समझा, तब तक इनमें फंसे रहे, परन्तु समझ कर तो इनसे दूर हट जाना ही चाहिए ! शराब, मांस, अण्डे आदि सब दुर्व्यसन हैं। वे सम्पूर्ण युवा-पीढ़ी के जीवन में से हटने ही चाहिए।[1]

जब तरुणाई में व्यक्ति पहुँचता है, तब अंगों के विकास के साथ-साथ उसकी मानसिक क्रियाएँ भी बदल जाती हैं और जीवन के अन्दर जो एक आंधी और तूफान आता है, उस तूफान और आंधी से ओत-प्रोत उस तरुणाई पर काबू पाना सब लोगों के लिये सहज नहीं है। ऐसी स्थिति में स्वयं में रही हुई निर्णायक शक्ति अगर सुषुप्तावस्था में है, उसे किसी ने जागृत नहीं किया है, तो वह तरुणाई की आंधी उस शरीर रूपी कार को कहाँ ले जाकर गिरा (ढकेल) देती है, इसका भी पता नहीं लगता।

समाचार पत्रों में आये दिन आप लोग भी पढ़ते रहते हैं और कभी-कभी मुझे भी सुनने को मिलता है कि आज के तरुण और तरुणियाँ इस जीवन-रूपी कार को कहाँ ले जाकर पटक रहे हैं। वे कैसी-कैसी औषधियों का और नशीली वस्तुओं का सेवन करते हैं। इनके नाम भी सम्भवत: आप कइयों ने नहीं सुने होंगे और उन परिस्थितियों में पड़ कर वे अपने जीवन को किधर ले जा रहे हैं, इसकी कल्पना करने मात्र से रोमांच हो जाता है। संरक्षक माता-पिता तो यह समझते हैं कि हमारे बच्चे-बच्चियाँ कॉलेजों में अध्ययन करने जा रहे हैं। वे वहाँ कुछ ज्ञान-विज्ञान की बातें सीखकर अपने जीवन का निर्माण करेंगे। पर वे आज उल्टी दिशा में बहे जा रहे हैं। माता-पिता उनके बारे में बहुत थोड़ी जानकारी रखते होंगे। वे शायद महसूस भी नहीं करते कि हमें इस विषय में आगे क्या करना है ? वे ११ से लेकर ५ बजे तक कॉलेजों में पढ़ते हैं। साधारण घरों के बच्चों में तो शायद यह प्रवृत्ति नहीं होगी, पर जो अमीर घरों के बच्चे

---

१ बीकानेर चातुर्मास प्रवचन, आध्यात्मिक वैभव, पृ० ७०-७२

हैं, वे क्या-क्या वहाँ करते हैं ? तो आज यह सब क्या चल रहा है ? इस जीवन रूपी कार को किधर धक्का दिया जा रहा है ? वह बिना ब्रेक की कार किसी खड्डे में तो नहीं गिर जावेगी ? ड्राइवर के हाथों से ब्रेक की स्थिति कमजोर बन जाती है, तो उसकी दशा क्या बन सकती है, इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है ।[1]

सामाजिक व्यवस्था और धर्म

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, यह एक मौलिक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का मर्म है कि मनुष्य समाज के बिना जीवित नहीं रह सकता है। सामाजिकता मानव का अनिवार्य धर्म है। जिस मनुष्य में समाज में रहते हुए भी सामाजिकता का अभाव है, उसे मनुष्य कहना मानवता का परिहास कहलायेगा। सामाजिक परिवेश मानव-जीवन का आवश्यक अंग है। एक व्यक्ति किसी परिस्थिति विशेष में भले ही एक-दो दिन एकांत में व्यतीत कर ले, किन्तु सदा-सदा के लिए वह समाज से निरपेक्ष रहकर जीवित नहीं रह सकता है।

समाज और व्यक्ति का अंग-अंगी भाव का सम्बन्ध है। व्यक्ति अंग है और समाज उसका अंगी।

समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध के समान ही आज एक ज्वलंत प्रश्न सामने खड़ा है समाज और धर्म के सम्बन्ध का। कई विचारकों का मत है कि हमें अपनी वैयक्तिक साधना करनी है। हमें क्या मतलब समाज से ? समाज जाए भाड़ में ! हमें समाज से कोई सरोकार नहीं किन्तु यह प्रश्न हवा में उड़ा देने जैसा नहीं है। इस पर मनीषियों ने गम्भीर चिन्तन किया है।

श्रद्धेय आचार्यश्री की इस विषय में स्पष्ट और सचोट ध्रुव मान्यता है कि समाज से कटकर मनुष्य के जीवन का अस्तित्व नहीं रह सकता है। सामाजिक परिष्कार धर्म की भूमिका है। यदि समाज में अराजकता है, तो वहाँ धर्म की नींव डगमगाने लगेगी। अतः धर्म के बीज-वपन के लिए पहले सामाजिक धरातल का शुद्धिकरण नितांत अपेक्षित है। इसी दृष्टिकोण से समाज में प्रविष्ट बुराइयों और जड़ता को ध्वस्त करने के लिए आप अपने प्रवचन में इन पर बड़ा करारा प्रहार करते हैं। प्रवचन के निम्न उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि धर्म और समाज के मधुर सम्बन्ध के विषय में आपकी क्या अवधारणा है तथा समाज की वर्तमान विकृत, दयनीय एवं दर्दनाक अवस्था के प्रति आपके भीतर कितनी टीस है !

---

१ जयपुर चातुर्मास प्रवचन, पावस प्रवचन, भाग २, पृ० ५६-५७।

समूह का आधार व्यक्ति ही होता है तथा व्यक्ति के जीवन-विकास से समूह प्रभावित होता है। यदि व्यक्ति का चरित्र उच्चतम विन्दुओं तक समुन्नत बनता है, तो उसका ऐसा नैतिक प्रभाव सारे समूह पर पड़ता है कि एक स्तर तक समूह भी उस दिशा में ऊपर उठने के लिए प्रयत्नशील होता है। वैसी अवस्था में समूह की भी एक ऐसी शक्ति का उदय होता है, जो व्यक्ति-विकास के सामान्य धरातल को समतल बनाती है। जहाँ समूह का सामान्य रूप से भी विकास नहीं होता, वहाँ व्यक्ति को अपने विकास का मार्ग स्वयं कांटों, पत्थरों और ऊबड़-खाबड़ जमीन में होकर निकालना पड़ता है। वैसी स्थिति में विकास की दिशा में आगे बढ़ने के लिए उसे अपनी काफी शक्ति लगानी पड़ती है। किन्तु जहाँ समूह का समुचित विकास उपलब्ध होता है, वहाँ व्यक्ति को अपने विकास हेतु गति करने के लिए सीधी सड़क मिल जाती है। इसी दृष्टि से व्यष्टि एवं समष्टि का विकास अन्योन्याश्रित रहता है।[1]

अतः आप सबको यह विचार करना चाहिए कि न केवल धार्मिक क्षेत्र में ही, बल्कि पारिवारिक तथा सामाजिक क्षेत्र में भी हमारा जीवन शुद्ध, शान्त एवं सुखी हो। हमें ऐसे जीवन का निर्माण करना चाहिए, जो कि प्रदर्शनों से दूर हो और आत्मा का शृंगार करने वाला हो। सामाजिक जीवन में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न होते जा रहे हैं। इन विकारों को, इन बुराइयों को हमें दूर करना चाहिए। उदाहरण के लिए एक दहेज प्रथा को ही ले लीजिए। यह प्रथा इतनी विषम है कि इसके कारण प्रतिदिन अनेक परिवार नष्ट-भ्रष्ट हो रहे हैं। अनेक निर्दोष बालिकाओं का जीवन अभिशाप से ग्रसित हो रहा है। मध्यम वर्ग की स्थिति दो पाटों के बीच में पिस रही है। परिवार में एक कमाने वाला हो और दस खाने वाले हों, तो आखिर वह कब तक और किस प्रकार से काम चला सकता है ? मजदूर वर्ग में तो फिर भी यह स्थिति है कि सभी कुछ-न-कुछ कार्य कर लेते हैं और उनका काम चल जाता है, किन्तु मध्यम वर्ग के भाइयों का क्या हो ? इसीलिए मैं कहता हूँ कि जीवन में सादगी को अपनाइये और प्रदर्शन से दूर रहिये अन्यथा आज सामाजिक जीवन में जितनी बुराइयाँ हैं, वे भी कम नहीं हैं। यदि उनमें ओर बढ़ोतरी हुई, तो समाज पूर्णतया नष्ट हो जायगा।

आज समाज की, राष्ट्र की तथा विश्व की जो स्थिति है, वह अत्यन्त चिन्तनीय है। भारतवर्ष किसी जमाने में सोने की चिड़िया कहलाता था, किन्तु आज भारत जैसा निर्धन देश शायद ही कोई हो। ऐसा क्यों हुआ ? इसका कारण क्या है ? कारण यही है कि हम जीवन की परिभाषा को ही भुला बैठे हैं। आध्यात्मिकता हमारे जीवन से दूर होती जा रही है। हम लोगों में स्वच्छन्दता की वृत्ति, उच्छृंखलता की भावना घर करती जा रही है।

१—मन्दसौर चातुर्मास प्रवचन, ताप और तप, पृ० १८२

अतएव मैं आपसे कहता हू कि आप जहाँ कहीं भी रहें, आपको प्रण करना चाहिए कि आप नैतिकता से रहेंगे। आपके सम्पूर्ण जीवन में कहीं भी अनैतिकता नहीं होनी चाहिए। धर्मस्थानों में आने पर तो मन और भी अधिक शुद्ध रहना चाहिए। पूर्णरूपेण सादगी आपके जीवन में होनी चाहिए। इस स्थान पर आकर आपके हृदय में प्रेम और समभाव का उदय होना चाहिए। चाहे कोई गरीब हो या अमीर, सभी मनुष्यों के प्रति आपके हृदय में प्रेम, आदर और सहानुभूति की भावना होनी चाहिए। यह स्थल तो पवित्र बनाने वाला है, शुद्धि करने वाला है। इस स्थल पर आकर मन के समस्त विकार धुल जाने चाहिए, जीवन के सभी पाप धुल जाने चाहिए। जीवन की परिभाषा को हमें समझना चाहिए। जीवन की कला हमें सीखनी चाहिए। जीवन परिमार्जित होना चाहिए। नीतिकारों ने कहा है कि—

"अन्य स्थाने कृतं पापं, धर्म स्थाने विमुच्यते।
धर्म स्थाने कृतं पापं, वज्र लेपो भविष्यति।"

अन्य स्थान पर हो गये पाप को भी व्यक्ति धर्म स्थान पर आकर छोड़ देता है और अपनी भूल का प्रायश्चित करता है, किन्तु यदि धर्मस्थान पर आकर भी पाप किया गया, तो वह तो वज्रलेप हो जाता है। अतः इससे बचने का प्रयत्न कीजिए। ऐसे क्षेत्र में आकर सादगी धारण कीजिए, हृदय को शुद्ध बनाइये। ऐसा करने से ही आप सबको शान्ति मिल सकेगी तथा मध्यम वर्ग की स्थिति में सुधार आ सकेगा।[1]

सामाजिक हिंसा

इसी सन्दर्भ में आचार्यश्री ने समाज द्वारा व्यक्ति पर और व्यक्ति द्वारा समाज पर पड़ने वाले प्रभाव को स्पष्ट करते हुए वैयक्तिक हिंसा एवं सामाजिक हिंसा का मौलिक रूप से शोधपरक चिंतन प्रस्तुत किया है—

यदि व्यक्ति अपने जीवन को शान्त तथा दोष-रहित बनायेगा, तो उसका पारिवारिक जीवन भी उन्नत होगा, सामाजिक जीवन भी आनन्दमय बनेगा तथा राष्ट्रीय जीवन भी उच्च बनेगा। किन्तु आज तो लोगों के जीवन में हिंसा बढ़ती जा रही है। हम शान्त जीवन को भुलाते चले जा रहे हैं। हिंसा जीवन को अत्यन्त कष्टमय बना देती है। हिंसा का एक रूप तो प्रकट हिंसा का होता है तथा दूसरी सभ्य हिंसा होती है। प्रकट हिंसा अथवा असभ्य हिंसा वह होती है, जिसमें कोई तलवार लेकर जाता है और किसी को मार देता है। दूसरी सभ्य हिंसा वह होती है जिसमें कोई किसी को प्रकट रूप में मारता हुआ तो

१—ब्यावर चातुर्मास प्रवचन, शान्ति के सोपान, पृ० ३०-३२

प्रतीत नहीं होता, किन्तु भीतर-ही-भीतर ऐसी स्थिति बना देता है जिससे हिंसा होती है। ऐसी हिंसा भी कम पापमय नहीं है। यदि एक व्यापारी अनाज को इकट्ठा करके बैठ जाता है तथा लोग भूखे मरते हैं, तो वह व्यापारी हिंसक कहा जायगा। यदि एक व्यापारी खाने-पीने की वस्तुओं में मिलावट करता है तथा लोगों का जीवन खतरे में डालता है, तो वह भी हिंसक कहा जायगा।

इसी प्रकार दहेज-प्रथा को बढ़ाने और दहेज मांगने वाले लोग भी भारी हिंसा करते हैं। इस प्रथा ने समाज के जीवन को बहुत दूषित बना दिया है। यह प्रथा अनेक बार हिंसा को प्रेरित तथा उत्तेजित करती है। इस प्रसंग में मैं कभी-कभी एक घटना का जिक्र किया करता हूँ। वह दु:खद घटना इस प्रकार है—

देहली में एक अध्यापक थे, वेतन केवल ढाई सौ रुपया मासिक था। पत्नी तो थी ही, तीन कन्याएँ भी थीं। देहली जैसा नगर और अल्प वेतन। गुजर-बसर कठिनाई से ही होता था। किन्तु किसी भी प्रकार से, कठिनाइयाँ झेलते हुए भी, उन्होंने अपनी कन्याओं को अच्छी शिक्षा दिलाई थी। अब उनके सामने यह प्रश्न आया कि उन कन्याओं को किसके सामने सुपुर्द करें। उनका विवाह किस प्रकार किया जाय? ढाई सौ रुपयों में से तो कुछ बचत होने का प्रश्न था ही नहीं। अब विवाह का खर्च कहाँ से लाए तथा इस प्रकार घोर सामाजिक अभिशाप दहेज का प्रबन्ध कैसे करें? कन्याएँ सभी प्रकार से सुयोग्य तथा सुशिक्षित थीं, किन्तु सास-ससुर को देने के लिए, उनकी अर्थलोलुपता को सन्तुष्ट करने के लिए द्रव्य उन अध्यापक के पास नहीं था।

अत: पति-पत्नी घोर चिन्ता में डूबे रहते थे। प्राय: आपस में चर्चा किया करते थे और समस्या का कोई समाधान खोजने का प्रयत्न करते थे किन्तु समाधान कोई होता तो निकलता? इस प्रकार दु:खी होकर वे सिर पीटकर रह जाते थे। अपनी बच्चियों की ओर देख-देखकर रोया करते थे।

एक दिन बच्चियों ने अपने माता-पिता को गहन चिन्ता में डूबा हुआ देखा और उनकी बातचीत भी सुनी। स्वाभाविक रूप से उनके कोमल हृदय पर इससे बड़ी ठेस लगी।

एक दिन अवसर देखकर, जबकि माता-पिता दोनों ही घर से बाहर गये हुए थे, उन बच्चियों ने एक निश्चय किया और मिट्टी का तेल छिड़ककर आग लगाकर वे जल मरीं।

बन्धुओ, वे कोमल, निष्पाप बालिकाएँ जो यह आत्मघात करके जल मरीं, वह हिंसा किसके सिर पर है? यह दायित्व किसका है?

इतना ही नहीं घटना का अन्तिम चरण यह है कि वे पति-पत्नी जब घर लौटे और उन्होंने यह दर्दनाक दृश्य देखा तब अपनी फूल जैसी कोमल बालिकाओं की इस दुःखदायी मृत्यु को देखकर उनका हृदय हाहाकार कर उठा। अब उनके लिए इस जीवन का कोई अर्थ, कोई मूल्य नहीं रह गया था। परिणामतः वे भी इस दुःखी जीवन से हताश-निराश होकर उसी पथ के अनुगामी बन गये, जिस पथ पर उनकी पुत्रियाँ गई थीं।

बन्धुओ ! बालिकाओं ने सोचा कि हमारा जीवन माता-पिता के लिए आर्त्त-रौद्र ध्यान का विषय बन गया है। धार्मिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान के अभाव में वे बेचारी आत्मघात जैसे पाप के मार्ग पर चली गईं। उसी प्रकार माता-पिता भी इस दोष-सहित जीवन से ऊबकर जल मरे।

आज हमारे समाज एवं देश की यह स्थिति है। कैसी विडम्बना हमारे जीवन में भर गई है ? कितना दोषमय हो गया है हमारा जीवन ! आज का बुद्धिवादी वर्ग भी इस चक्र में बुरी तरह पिस रहा है। यह सभ्य हिंसा हो रही है और हम कानों में तेल डाल कर, आँखों पर पट्टी बाँधकर इस सामाजिक हिंसा को देख रहे हैं। मैं नहीं जानता कि आपके ब्यावर नगर में ऐसा हो रहा है कि नहीं, किन्तु संसार में यह हो रहा है, और यह घोर चिन्ता की बात है। यदि ऐसी स्थिति चलती रही, तो कौन-सा आध्यात्मिक लक्ष्य हम प्राप्त कर सकेंगे ? यह एक ऐसी सामाजिक कुरीति है, जिसके कारण आपका मन चंचल बना हुआ है। इसका परिमार्जन करना अत्यन्त आवश्यक है। मैं कभी-कभी आपके सामने ऊँचे आदर्श की बात कह जाता हूँ। किन्तु हमारा आदर्श ही ऊँचा न होगा, तो हमारा जीवन ऊँचा कैसे उठेगा ? जो ऊँचा पहुँचेगा, वह ऐसा ज़घन्य कर्म नहीं करेगा। अतः अपने जीवन को शुद्ध बनाइये। लोभ और ईर्ष्या का त्याग करके ऊँचे आदर्शों को अपनाइये।[1]

मातृ-संस्कार-नारी जागरण

सामाजिक परिष्करण के संदर्भ में नारी जाति के विकास एवं दायित्व के विषय में भी आचार्यश्री का अति स्वस्थ दृष्टिकोण है। आपका चिन्तन है कि जन-जीवन के संस्कारों का अधिकांश दायित्व माताओं-नारी जाति पर है। नारी, जैसा चाहे, संसार बना सकती है। संसार को स्वर्ग या नरक वनाना अथवा वसुन्धरा को वीर-पुंगवों से सज्जित कर देना या कायरों की फौज तैयार कर देना, यह सब नारी पर आधारित है। अतः नारी का जीवन उस रंग की डिबिया और तूलिका के समान है जिसके द्वारा हम मनोवांच्छित नयनाभिराम रूप निर्मित कर सकते हैं। नारी-जागृति के प्रति उद्वोधन देते हुए आपके स्वर इस प्रकार मुखरित होते हैं।

१—ब्यावर चातुर्मास प्रवचन, शांति के सोपान, पृ० ३२—३५

कहा गया है कि एक माता सौ शिक्षकों के बराबर होती है। एक शिक्षक भी अपने योग्य निर्देशन से विद्यार्थी का जीवन-निर्माण करता है, लेकिन बाल्यावस्था में माता का उस पर जितना सीधा असर पड़ता है, उतना और किसी का नहीं। जीवन के अधिकांश संस्कार बालक को अपनी माता से मिलते हैं। ये संस्कार ही जीवन भर उसके प्रत्येक कार्य में क्रियाशील बने रहते हैं। प्रारम्भ में, यदि माता बच्चे के साथ अपने प्रत्येक व्यवहार में पूर्णतया सतर्क रहे और ऐसा रहना स्वयं माता की शिक्षा पर आधारित रहता है, तो बालक के जीवन की ढलान कुछ और सांचे की बन जाती है। भय के संस्कार के साथ में भी यही बात लागू होती है। "उस अन्धेरी कोठरी में भूत है, बावा तुझे पकड़ ले जायगा, डाकन तुझे खा जायगी।" आदि विविध वाक्यों से अगर माँ बच्चे में काल्पनिक भय के बीज निरन्तर बोती रहती है, तो वही बच्चा जब बड़ा होता है, तो एक चूहे की खटक से भी पसीने से लथपथ हो जाता है।

जब इहलोक के भय के संस्कार ही इतने प्रबल होते हैं, तो परलोक के भय के संस्कार और उनकी आतुरता भी कम नहीं होगी। इस तरह के भय के संस्कार बच्चे की स्वाभाविक प्रकृति में विकृति ला देते हैं। बच्चे की प्रकृति में चंचलता रहती है। वह माता को सताता भी है, मगर सताने की भावना से नहीं। अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए वह सताता है। माता यदि योग्य होती है, तब तो वह उसकी आवश्यकताओं को यथासमय समझकर सम्यक् प्रकार से लालन-पालन कर देती है और बच्चे को स्वस्थ एवं शान्त स्वभाव में ढाल देती है; वरन् माताएँ बच्चे के मन में सैंकड़ों प्रकार के काल्पनिक भय बिठाकर उसे कायर, डरपोक और निकम्मा बना डालती हैं। बच्चे का चूँकि माता पर, पूरा-पूरा विश्वास होता है, इसलिए माता जो कुछ कहती है, उसे वह अपने मन, मस्तिष्क में जमा लेता है। इस कोमल मस्तिष्क के एक बार जैसे भी संस्कार जम जाते हैं, उनको फिर उखाड़ देना दु:साध्य नहीं तो अति श्रमसाध्य तो होता ही है।

जब ऐसे सांचे में यानी कि संस्कारहीन अथवा यों कहिये कि कुसंस्कारों के सांचे में निरन्तर बालकों को ढाला जा रहा हो, तो उनका भविष्य क्या होगा। वे बड़े होकर अपने गृहस्थाश्रम में भी जब असफल होते रहेंगे, तो धर्म-क्षेत्र में इनसे क्या आशाएँ हो सकती हैं? क्योंकि जीवन को कहीं भी सफलता दिलाने वाला मुख्य गुण निर्भयता होता है। निर्भय व्यक्ति संसार के कार्य करेगा, तो अपना शौर्य दिखायेगा। और वही जब धर्म के क्षेत्र में भी प्रवेश करेगा, तो अपनी निर्भयता से वहाँ भी असम्भव को सम्भव करके दिखा देगा।[1]

एक प्राचीन कथा है। एक वीर क्षत्रिय-पुत्र ने अपनी माता से प्रश्न

१—मन्दसौर चातुर्मास प्रवचन, ताप और तप, पृ० ११८—१२०

किया—"हे मातेश्वरी, एक रुपया खर्च करने से नौ सौ रुपयों का मुनाफा मिलता है, एक तत्त्व जानने से नौ सौ गुणा लाभ होता है, तो उस व्यापार को मुझे करना चाहिए अथवा एक के बचाने से एक की रक्षा मात्र का काम मुझे लेना चाहिये ?" प्रश्न समुच्चय था। काश, वैसा प्रश्न आपके सामने भी आ जाय तो आप क्या करेंगे ? खैर माता ने उत्तर दिया—एक को देने पर नौ सौ गुना लाभ हो तो वह करना चाहिये। वोरपुत्र ने माता को प्रणाम किया और प्रस्थान करने से पूर्व बोला—"माताजी, मैं भले ही इकलौता पुत्र हूँ, किन्तु इस समय एक स्थान पर नौ सौ दम्पति संकट से घिरे हुए हैं। उनको अपनी जान की बाजी लगा कर भी खतरे में से निकालने के लिए मैं जा रहा हूँ। एक को छोड़ रहा हूँ, मगर नौ सौ को रख सकूँगा।"

माँ चौंक पड़ी और आँसुओं से आँखें भरकर बोली, "पुत्र यह कैसी पहेली तुम बुझा रहे हो ?" पुत्र ने स्पष्ट करते हुए कहा—"माँ, यहाँ के महाराजा ने जीवन भर सत्ता और सम्पत्ति का भरपूर भोग किया है, फिर भी अब वे जब रोगग्रस्त हो गये हैं और असाध्य रोग से पीड़ित हैं, तो एक तांत्रिक की राय से वे नौ सौ नव-दम्पतियों के ताजे रक्त में स्नान करके स्वास्थ्य लाभ करना चाह रहे हैं। इस हेतु नौ सौ नव-दम्पतियों को पकड़वा कर कारागार में बन्द कर रखा है और कल उन्हें मार कर राजाजी के स्नान के लिए रक्त पहुँचाया जायगा। मैं इन नौ सौ दम्पतियों की रक्षा करना चाहता हूँ—यह जानकर भी कि उसके बाद मुझे अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा। इस कारण मैंने आपसे यह अनुमति माँगी है, कोई पहेली नहीं बुझाई है।"

वीरपुत्र की वह वीरमाता थी। उस वीरमाता के समक्ष अपने जीवन का भी प्रश्न था, किन्तु न्याय और नीति को वह समझने वाली थी। उसने निःसंकोच अपनी आज्ञा देते हुए भलावण दी, "हे लाल, तूने मेरी कोख से जन्म लिया है और इस समय, जबकि तू अपने जीवन का बलिदान नौ सौ दम्पतियों की जीवन-रक्षा के लिए करने जा रहा है तो मुझसे अधिक हर्षित और कौन हो सकेगा ?" उस माता के हृदय में निर्भयता थी, तो उसने अपने बच्चे को भी निर्भयता की ही घुट्टी दी। वीर पुत्र को उसने वीरतापूर्ण कार्य के लिए निर्भयतापूर्वक जाने दिया।

सुनसान मध्यरात्रि में उस वीर पुत्र ने जाकर कारागार के द्वार खोल दिये और उन नौ सौ दम्पतियों को मुक्त कर दिया। किन्तु इसके बाद वह भागा नहीं, स्वयं कारागार पर खड़ा हो गया। प्रातःकाल जब राजा को इसकी सूचना मिली तो वह क्रोधित हो उठा। उसने पूरी सेना की टुकड़ी उस वीरपुत्र को पकड़ लाने के लिये भेजी। वह वीर-पुत्र उससे संघर्ष करता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ। कहा जाता है कि आज भी उस स्थान को हिन्दू और मुस्लिम

दोनों आदर की नजर से देखते हैं, जहाँ उस वीरपुत्र का सिर लड़ते-लड़ते धड़ से कटकर गिरा था।

यह तो एक रूपक है। किन्तु जब तक माताएँ ऐसे निर्भय संस्कार अपने बालकों में नहीं भरेंगी और वीरपुत्रों का निर्माण नहीं होगा, तब तक सामूहिक जीवन में से भय को उखाड़कर फेंका नहीं जा सकेगा। आप में से प्रत्येक को यह देखना है कि क्या आपके घरों में बच्चों पर निर्भयता के संस्कार डाले जाते हैं ? क्या ये बहिनें स्वयं निर्भयता का भाव रखती हैं और अपने बालकों को भी निर्भय बनाना चाहती हैं? वह वीरपुत्र तो नौ सौ दम्पतियों की रक्षा के लिये खेत रहा, किन्तु जहाँ न्याय और नीति का प्रश्न अड़ा हुआ हो, वहाँ चाहे एक की भी रक्षा का सवाल हो तब भी और जहाँ छः काया की रक्षा के रूप में अरबों-खरबों प्राणियों की रक्षा की स्थिति हो तव भी आपकी संतान ऐसी होनी चाहिए, जो सर्वस्व त्यागकर भी निर्भयता का रंग दिखावे। ऐसी सन्तान ही असभव को भी संभव करके दिखा सकती है।

किन्तु आज तो माता-पिता का मानस भी कुछ दूसरे ही प्रकार का हो रहा है। यदि कोई बच्चा धार्मिक संस्कार लेने की दृष्टि से सन्तों के पास जाता है और छः काया की रक्षा करने की दृष्टि से निर्भयता दिखाकर वीर बनना चाहता है, तो उसे माता-पिता रोकना चाहते हैं। यह संस्कारों की ही कमी है। निर्भय बनना चाहने वाले ऐसे पुत्र को तो और अधिक निर्भयता की शिक्षा दी जानी चाहिये कि वह वीर बनकर आध्यात्मिक क्षेत्र में असंभव को संभव कर दिखावे।[१]

माता-पिता और सन्तान तक के बीच आज के युग में जिस प्रकार कर्तव्य-निष्ठा का अभाव दिखाई दे रहा है, यह स्थिति वास्तव में अतीव शोचनीय है।

माता-पिता और सन्तान के परस्पर कर्तव्य

देवकी रानी को जिस मुख्य बात का सन्ताप हुआ, वह यह थी कि वह उन छः पुत्रों को जन्म देकर भी उनके साथ अपने मातृत्व के कर्तव्यों का निर्वाह नहीं कर सकी। वह कर्तव्यनिष्ठा की दृष्टि से ही दूर रही थी यदि वे छहों पुत्र उसकी गोदी में खेलते और बड़े होते, तो वह भी उनके उच्च संस्कारों के निर्माण की भागीदार हुई होती। क्या आज माताओं को सन्तान के प्रति अपने इस मूल कर्तव्य का भान है कि उन्हें प्रारम्भ से ही अपने बालक-बालिकाओं को जीवन-निर्माण की कला सिखानी चाहिये। माता का इतना ही कर्तव्य नहीं है कि वह शरीर के लोथड़े के रूप में केवल सन्तान को जन्म दे दे, बल्कि उसके

१–मन्दसौर चातुर्मास प्रवचन, ताप और तप, पृ० १२२–१२४

शरीर-गठन के सिवाय श्रेष्ठ संस्कारों एवं पवित्र भावनाओं की अमिट छाप भी उसके मन एवं मस्तिष्क पर डालने का उसका प्रधान कर्तव्य होता है।

माता-पिता का ही प्रमुख प्रभाव होता है कि सन्तान का आन्तरिक संस्कारों से ओत-प्रोत आदर्श जीवन बन पाता है। ऐसी एक ही सन्तान हो, तब भी वह परम हितकर होती है। लेकिन माता-पिता अपने मोह में फँसे रहें और सन्तान की शिक्षा-दीक्षा के प्रति बेमन रहें, तो वैसी कई सन्तानें भी उन्हें शान्ति नहीं पहुँचा सकती हैं।

इसी सिक्के का दूसरा पहलू भी उतना ही चिन्तनीय है। लड़के कुछ पढ़कर या व्यवसाय में जमकर योग्य होते हैं, कुछ सम्पत्ति का संचय कर लेते हैं, तो अपने आप को कुछ-का-कुछ समझने लग जाते हैं और माता-पिता की तनिक भी परवाह नहीं करते। उनको माता-पिता के प्रति सामान्य से कर्त्तव्यों का भी ख्याल नहीं रहता। मेरे अनुभव की ही एक बात सुनाऊँ। एक स्थान पर मैं पहुँचा तो लकड़ी के सहारे बड़ी कठिनाई से चलकर एक वृद्धा वन्दन करने आई। उसने बड़े करुण स्वर में कहा, "महाराज! क्या कहूँ, मैं बहुत दुःखी हूँ।" मैंने उत्सुकतावश पूछा, "क्या हुआ मांजी, आपको?" वृद्धा बोली, "मेरी सेवा करने वाला कोई नहीं है, महाराज!" बाद में खोज करने पर पता चला कि उस वृद्धा के चार नौजवान व कमाऊ पुत्र हैं। किन्तु सभी अपनी-अपनी पत्नियों के साथ अलग-अलग रहते हैं और वृद्धा माता की तरफ कोई देखता भी नहीं। यह संसार की बड़ी विचित्र स्थिति है।

आज का इन्सान बड़ी-बड़ी डींगें मारता है, मगर छोटे-छोटे कर्त्तव्यों को भी भुला देता है। बहुतेरे भाई-बहिन लम्बे-चौड़े ज्ञान की चर्चा कर लेंगे। तेला, चोला व मासखमण तक की तपस्या कर लेंगे, किन्तु परिवार, समाज, राष्ट्र या विश्व के प्रति अपने सामान्य कर्त्तव्यों का भी ध्यान नहीं रखेंगे। यह कितनी विषम स्थिति है। ऐसा सम्भव है कि कई भाई-बहिन तेला करके लालसा रखते होंगे कि जैसे श्रीकृष्ण के तेला करने पर देव आया था, वैसे हमको भी देव दर्शन दे और हमारा मनोरथ पूरा करे, किन्तु ऐसी लालसा के पहले श्री कृष्ण की कर्त्तव्यनिष्ठा का शतांश तो अपने अन्दर पैदा कीजिये।

एक माता : हजार शिक्षक

कहावत है कि एक माता की शिक्षा बच्चे के लिये हजार शिक्षकों के बराबर होती है। माता कर्त्तव्यनिष्ठ रही, तो यह बहुत कम होगा कि उसकी सन्तान कर्त्तव्यनिष्ठ न बने, क्योंकि बचपन में डाले गये संस्कारों का पूरे जीवन तक अमिट असर बना हुआ रहता है। वीर क्षत्राणियाँ पालने में जब अपनी सन्तानों को वीर रस की लोरियाँ सुनाया करती थीं, तो उस रूप में संस्कारित

उनकी वीर सन्तानें भी ऐसी होती थीं कि केसरिया बाना धारण करके वे युद्ध-क्षेत्र में कूदा करते थे तो सिर कट जाने पर भी उनका धड़ घण्टों तक तलवार घुमाता रहता था। ऐसे वीर जुझारू कहे जाते हैं। वैसी वीरता की भावना जगानेवाली और बालक में शौर्य्य के अपूर्व संस्कार भरनेवाली लोरी की कुछ पंक्तियाँ देखिये—

बाळो पाँखाँ बाहिर आयो माता बैन सुणावे यूँ
मारी कूख सराहिजे रे बाळा मैं तने सकरी घूँटी दूँ
तेज कटारी नाळो मोड़्यो मोड़त नाळो बोली यूँ
वेर्‌या की फौजाँ में जाजे, सत्य विजय कर आइजे तूँ
गोदी सूतो बाळो चूखे माता बैन सुणावे यूँ
धोळा दूध में कायरता को काळो दाग न लाइजे तूँ
सोन पाळणे बाळो झूले झोटत झोटत बोली यूँ
इतरी बार हिलाइजे पृथ्वी, मैं थने जितरा झोटा दूँ।

कहने का अभिप्राय यह है कि बालक में कर्त्तव्यनिष्ठा की शिक्षा माता के दूध से ही प्रारम्भ होनी चाहिये। चरित्रशील व्यक्तित्व के निर्माण की आधार-शिला यहीं रखी जाती है। संसार और धर्म—दोनों क्षेत्रों में देदीप्यमान जीवन की सृष्टि करने वाली सर्वप्रथम भूमिका में माता ही होती है। प्राचीन काल में माताएँ अपनी संतान को कहती थीं—

"सिद्धोसि बुद्धोसि निरंजनोऽसि……"

और वह सन्तान वास्तव में राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध बन जाती थी। मदालसा महारानी एक आदर्श माता के रूप में विख्यात है, जिन्होंने हर्षपूर्वक अपने सातों पुत्रों को दीक्षित बना दिया।

आज की माताओं को इस सत्य की ओर ध्यान देना है तथा स्वयं कर्त्तव्यनिष्ठ बनकर अपनी सन्तान में कर्तव्यनिष्ठा को जगाना है। आज तो वे स्वयं इतनी अज्ञान हैं कि बच्चों में शुरू से डर और कायरता के संस्कार भरती हैं, जिससे बड़े होकर वे भ्रष्ट, कर्तव्यहीन एवं अनैतिक गृहस्थों का रूप लेते हैं। ऐसी सन्तान से भला किसका भला हो सकता है?[1]

नारी और अलंकरण

नारी-जागरण के संदर्भ में ही जहाँ एक ओर आचार्य श्री अतीत का साँस्कृतिक चित्र महिलाओं के लिए खींचते हैं, वहीं वे वर्तमान के भौतिक

१–जयपुर चातुर्मास प्रवचन, पावस प्रवचन, पृ० १६१–१६३

सौन्दर्यात्मिक आकर्षण में डूबी नारी को जीवन के मौलिक सौन्दर्य का दर्शन-बोध भी कराते हैं। आज की नारी के भद्दे प्रदर्शनों पर उनके उद्‌बोधनात्मक तीक्ष्ण स्वर हैं—

जिस मनुष्य के भीतर आत्मिक शांति का संचार होता है, उसे फिर किसी बाहर की वस्तु की अपेक्षा नहीं रहती। बाहर की समस्त वस्तुएँ, दिखावे और शान-शौकत के सभी पदार्थ उसके लिए निरर्थक हो जाते हैं। वह सादगी के मूल्य को समझने लगता है और उसमें उसे अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है। उसके भीतर से भौतिकता के, पाशविकता के संस्कार लुप्त हो जाते हैं, तथा ऐसी भावना उसके हृदय में व्याप्त हो जाती है जिससे समस्त मानवों का कल्याण हो।

आज तो परिस्थिति विषम बन गयी है। मनुष्य फैशन में इस प्रकार डूब रहा है कि उसे सच्चे सुख का आभास भी अब नहीं रहा। यहाँ तक कि पवित्र धार्मिक स्थलों पर भी आकर उसके दिमाग से शृंगार और प्रसाधन का भूत दूर नहीं होता। इस प्रकार धर्मस्थान में बैठकर भी वह दोष-रहित न होकर, दोष सहित होता है। हमारी ये माताएँ यहाँ धार्मिक स्थल पर होती हैं, धर्म के वचन सुनने आती हैं किन्तु तरह-तरह के शृङ्गार करके, आभूषणों से लदकर, वहुमूल्य जरी-गोटे के वस्त्र धारण करके आती हैं। ऐसी स्थिति में उनका सारा ध्यान तो अपने शृङ्गार पर ही टिका रहता है। तब वे धर्म का उपदेश कैसे सुनेंगी ? धर्मस्थान में आकर सादगी का जीवन अपनाना चाहिए, सरलता और शुद्धतारूपी आत्मिक सौंदर्य को बढ़ाना चाहिए, जो कि मनुष्य का वास्तविक शृङ्गार है, सच्ची शोभा है। लेकिन वे ऐसा नहीं करतीं। सजधज कर आती हैं और अपना सारा ध्यान इसी बात में लगाये रहती हैं कि मेरे वस्त्राभूषण कितने सुन्दर हैं, इन्हें दूसरी स्त्रियाँ देख रही हैं या नहीं ? इन सब वातों में डूवने से उनमें आपस में ईर्ष्यावृत्ति जागृत होती है, पाप की भावना का उदय होता ह। इस प्रकार दोष-रहित जीवन के स्थान पर उनका स्थान दोष-सहित वन जाता है।

अन्य माताएँ जिनके पास इतने मूल्यवान वस्त्राभूषण नहीं होते, वे यहाँ वैठी-वैठी यह चिन्तन किया करती हैं कि मेरे पास ये वस्तुएँ क्यों नहीं हैं ? अव घर जाकर मैं अपने पतिदेव से कहूँगी कि वे मेरे लिए भी इन वस्तुओं को लाएँ। भला मैं क्या किसी से कम हूँ ? इस प्रकार की भावना लेकर जो माताएँ-वहिनें यहा वैठेंगी, वे धर्म का उपदेश क्या सुनेंगी ? घर जाकर पतिदेव से कहेंगी कि कुछ भी करिए, लेकिन मेरे लिए भी वैसे ही गहने वनवाइये, जैसे कि औरों के पास हैं। इसके लिए आपको चाहे जो कुछ करना पड़े। भले ही आप अनीति से रुपया कमाओ, भले ही आपका यह मानव-जीवन नष्ट हो जाय तथा आपको

नरक में ही क्यों न जाना पड़े, किन्तु मुझे तो गहने चाहिए। इस प्रकार से वे धार्मिक स्थल पर आकर भी अपने जीवन को दोष-सहित बनाती रहती हैं तथा अन्य लोगों के जीवन को भी दोष-सहित बनाती हैं।[१]

राष्ट्र धर्म बनाम राष्ट्रीय चरित्र

आधुनिक युग का सर्वाधिक ज्वलंत प्रश्न है राष्ट्रीय चरित्र की सुरक्षा का। आज राष्ट्रीय चरित्र पतन की पराकाष्ठा पर पहुँच रहा है। क्या राजनीतिज्ञ, क्या समाजशास्त्री तथा क्या अर्थशास्त्री, सभी का मानस अपने राष्ट्र की शोचनीय अवस्था से चिंतित है। भारत के अतीत के साँस्कृतिक मानचित्र को उठाकर देखें तो पता चलेगा कि तत्कालीन भारत का क्षेत्रफल कितना विशाल एवं विराट था। आज का पाकिस्तान ही नहीं, उससे भी सुदूर काबुल के अंतिम किनारों तक भारतीय जन-जीवन था। भौगोलिक दृष्टि से ही उस युग का भारत विस्तृत एवं महान् नहीं था, अपितु विचारों की उच्चता में, सभ्यता में अपनी संस्कृति तथा धर्म के विस्तार में भी विराट् व महान् था। उस युग के भारत की देह भी विराट् थी और आत्मा भी। किन्तु आज का भारत, कहने से शब्द कतराते हैं। शरीर से भी उसकी परिधि घटती जा रही है और वैचारिक परिवेश में भी वह छोटा होता जा रहा है।

किसी देश की विराटता एवं महानता तत्रस्थ सुविस्तृत मैदान, गगनचुम्बी अट्टालिकाओं तथा जन-जीवन के विस्तार से नहीं होती है, प्रत्युत विराटता का आधार वहाँ की साँस्कृतिक एवं धार्मिक चेतना है।

आज हम अपनी राष्ट्रीय चेतना की ओर दृकपात् करते हैं, तो बरबस आँखें छलछला आती हैं। एक पाश्चात्य विचारक के शब्दों में कहें, तो भारत का सर्वस्व लुट चुका है, क्योंकि—

When wealth is lost, nothing is lost.
When health is lost, something is lost
When character is lost, all is lost.

अर्थात् चारित्रिक पतन के पश्चात् मानव का अपने पास बचता ही क्या है?

इस उपर्युक्त परिस्थिति में एक और प्रश्न उपस्थित होता है कि धर्म-गुरु एवं धर्मोपदेशक राष्ट्रीय चरित्र के उन्नयन में अपना क्या योगदान दे सकते हैं?

१—ब्यावर चातुर्मास प्रवचन, शांति के सोपान, पृ० २८–२९

प्रश्न कुछ अटपटा है, क्योंकि आज धार्मिक परिवेश को वैयक्तिक घेरे में बन्द कर उसे राष्ट्रीयता से अलग ढकेल दिया गया है। वास्तव में व्यक्ति का अस्तित्व राष्ट्रीयता के अभाव में नहीं रह सकता है। अतः राष्ट्रीय चरित्र का व्यक्ति पर और वैयक्तिक आचरणों का राष्ट्र पर प्रभाव अनिवार्य है।

हमारे राष्ट्रीय चरित्र की भूमिका कैसी होनी चाहिए ? राष्ट्र में समन्वय भावना का विस्तार कैसे हो ? इस बात को आचार्य श्री ने आगम सम्मत राष्ट्र-धर्म के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। यह राष्ट्र के प्रत्येक कर्णधार के लिए मननीय है। इसमें पुरातनवादी धर्मोपदेशकों के लिए भी चिंतन का द्वार उद्घाटित होता है कि धर्मोपदेशकों पर भी राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण में कितनी अपेक्षाएँ-जिम्मेदारियाँ होती हैं। आचार्य श्री के निम्न प्रवचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रीय चरित्र के पतन के प्रति उनकी कितनी दर्दभरी आवाज है। वे एक अध्यात्म-प्रवक्ता होकर राष्ट्रीय चरित्र के प्रति कितने सजग हैं।

आधुनिक युग में समस्त प्रकार के समूहों में सर्वाधिक विकसित, व्यवस्थित एवं शक्तिशाली समूह राष्ट्र को माना जाता है। इसलिए राष्ट्र-धर्म की व्याख्या से नागरिक एवं राष्ट्र के पारस्परिक अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के बोध के जरिये दोनों के पारस्परिक विकास का स्वरूप भी भलीभांति समझा जा सकेगा तथा इस प्रकार के विवेचन का ही दूसरा नाम राष्ट्रधर्म है। इसी के सन्दर्भ में राष्ट्र, ग्राम, नगर, समाज, आदि समूहों के प्रसंग में व्यक्ति या नागरिक के विविध धर्मों याने कर्तव्यों का लेखा-जोखा भी सम्यक् प्रकार से समझा जा सकता है।

यद्यपि राष्ट्र की राजनीतिक व्याख्या के अनुसार सीमाबद्ध भूमि, सर्वमान्य राज्यतंत्र एवं एक राष्ट्रीयता का होना राष्ट्र के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीयता है जो सभी नागरिकों की समभावना की आधारशिला पर टिकी हुई रहती है। किसी भी राष्ट्र की उसकी राष्ट्रीयता की भावना भूमि-रूप होती है, तो उसका राष्ट्रधर्म प्रगति का पथ नहीं पा सकता। राष्ट्रधर्म का स्वरूप और राष्ट्रीयता की भावना आसमान से नहीं टपकती बल्कि एक-एक नागरिक के हृदय में जागत होकर फलती-फूलती है तथा एक सामूहिक शक्ति के रूप में ढलती है।

राष्ट्रधर्म इस दृष्टिकोण से राष्ट्र में रहने वाले समस्त नागरिकों से संबंधित होता है। व्यक्ति अपनी अंतर-चेतना को लेकर जिस भू-मंडल पर अपना अवस्थान रखता है, छोटे क्षेत्र के उन सभी व्यक्तियों का समूह मिलकर ही तो ग्राम की रचना करता है। गाँवों से ही व्यावसायिक, औद्योगिक एवं अन्य सुविधाओं के विस्तार की दृष्टि से नगरों का निर्माण होता है। चूँकि स्वतन्त्र रूप से ग्रामों और नगरों का आत्मनिर्भर हो पाना सरल नहीं होता तथा दूसरे

यह सब मिलकर जिस प्रकार की एकीकृत सभ्यता एवं संस्कृति का निर्माण करते हैं, उसकी रक्षा की दृष्टि से भी जो एक शक्तिशाली एवं समन्वित भूखंड बनता है, उसे ही राष्ट्र के रूप में देखा जाता है। किन्तु मूल रूप में राष्ट्र केवल भूमि नहीं, क्षेत्र विशेष नहीं बल्कि एक भाव विशेष ही होता है, जो उसके पीछे चलने वालों को संस्कृति एवं सभ्यता के एक सूत्र में आबद्ध करके प्रगति की स्वस्थ एवं विशिष्ट दिशा की ओर मोड़ना चाहता है।

इस भाव-विशेष के व्यवस्थित एवं व्यावहारिक रूप को ही राष्ट्रधर्म कहा जा सकता है, जिसका ढलान एक-एक नागरिक के अन्तर में रहे हुए सत्, चित् और आनन्द के विकास और विकृति के आधार पर बनता और बिगड़ता है। इस कारण व्यक्ति के विकास के लिये जैन-दर्शन में जो सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के विकास का निर्देश दिया गया है, उसे ही यदि राष्ट्रीय जीवन के लिये स्वीकार्य निर्देश बना लिया जाय तो राष्ट्र का मुक्ति-मार्ग भी निर्बाध और निष्कंटक बन सकता है।

'ठाणांगसूत्र' में दस प्रकार के धर्मों का प्रतिपादन करके फिर राष्ट्रधर्म को परिभाषित किया है। सूत्र का पाठ इस प्रकार है—

"दस विहे धम्मे पण्णत्ते तंजहा—गाम धम्मे, नगर-धम्मे, रट्ठधम्मे, पाखंड-धम्मे, कुलधम्मे, गणधम्मे, संघधम्मे, सुत्तधम्मे, चरित्तधम्मे, अत्थिकायधम्मे एव।"

ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि के निर्देश के बाद श्रुतधर्म और चारित्रधर्म आदि का निर्देश किया गया है। ग्राम, नगर एवं राष्ट्रधर्मों को पहले रखने का अभिप्राय यही है कि जब ये धर्म निष्ठापूर्वक पाले जायेंगे और इनका रूप व्यवस्थित होगा, तभी जाकर श्रुत, चारित्र आदि धर्मों का पाला जाना सुविधाजनक बन सकेगा। जब ग्रामधर्म, नगरधर्म एवं राष्ट्रधर्म की व्यवस्था सुघड़ बनती है, तभी उस राष्ट्र में रहने वाले साधक अपनी सभी प्रकार की साधना को सही तौर पर आगे बढ़ा सकते हैं। जिस गाँव में साधक विचरण करे यदि उस ग्राम की स्थिति अराजकतापूर्ण हो, तो क्या वह साधक निर्भय होकर अपनी साधना में निरत रह सकेगा? इसी प्रकार नगर व राष्ट्र की सुव्यवस्था अथवा दुर्व्यवस्था साधना के लिये सुविधाजनक अथवा दुविधाजनक वातावरण का निर्माण करती है।

ग्राम, नगर अथवा राष्ट्र तथा उसके नागरिकों के बीच के संबंध निश्चित रूप से एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। नागरिक अच्छा होगा तो राष्ट्र अच्छा बनेगा तथा राष्ट्र अच्छा होगा तो नागरिक की अच्छाई भली प्रकार से पनप सकेगी। व्यक्ति का समूह पर, और समूह का व्यक्ति पर असर पड़ता ही

है। इसी पारस्परिक असर को सुचारु एवं सुनियंत्रित बनाने का प्रभावशाली साधन है धर्म, जो ग्राम, नगर एवं राष्ट्र के लिए नागरिक के पालनार्थ बताया गया है। धर्म वैसे भी कर्तव्य का ही दूसरा नाम होता है तथा ग्राम, नगर व राष्ट्रधर्मों के रूप में ग्राम, नगर एवं राष्ट्र के प्रति नागरिकों के कर्तव्यों का ही विवेचन किया गया है, जिसका एकमात्र उद्देश्य यह है कि व्यक्ति व समूह के बीच ऐसा सुन्दर सामंजस्य बना रहे हैं कि दोनों घटक परस्पर प्रगति के सहयोगी बन सकें।

इस विश्लेषण के सन्दर्भ में आप अपने राष्ट्र की ओर एक विहंगम दृष्टि डालिये। यह भारतभूमि दार्शनिक धाराओं, संस्कृति व सभ्यता की जन्मस्थली रही है। यहीं से जागरण-सन्देश सारे विश्व में फैला। इसी धरती पर जिस उत्कृष्ट कोटि के महापुरुष जन्मे तथा जिस प्रकार के उन्नायक साहित्य का सर्जन हुआ, वैसी महत्ता अन्य राष्ट्रों के इतिहास में कम दिखाई देगी। किन्तु यही राष्ट्र लम्बे समय तक विदेशी शासन की गुलामी में डूबा रहा, तब से इसकी आत्मा शिथिल हो गई। यहाँ के नागरिक आत्म विस्मृत होकर विकृतियों के घेरों में फँसते रहे और अपनी अर्जित प्रतिष्ठा को खाते रहे। इसका कुपरिणाम यह हुआ कि राजनीतिक स्वतंत्रता भी इस देश को जो मिली; वह भी इस देश के कृत्रिम विभाजन एवं जर्जरता की बुनियाद पर।

भारत राष्ट्र के जब हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के रूप में भाग किये गये तब क्या इन दोनों भागों में ऐसी अनुकूल परिस्थितियाँ थीं, जिनमें साधक सुविधा से अपनी साधना साध सकता ? जीवन की कड़ियों तक को ठीक से बनाये रख सकता था ? आपने सुना होगा और संभव है कि कइयों ने देखा और भुगता होगा कि इस विभाजन के समय पशुता का कैसा नंगा नाच हुआ था। लोगों के इधर-उधर आने-जाने और कष्ट भुगतने की रोमांचक कहानियाँ आज भी किसी श्रोता को सहज ही में रुला सकती हैं। इस दुर्व्यवस्था में समझने का बिन्दु यह है कि जहाँ राष्ट्रधर्म की स्थिति बिगड़ती है, वहाँ आध्यात्मिक शक्तियों का सहज विकास बाधित होता है और जहाँ चरित्र एवं नैतिकता की स्थिति भ्रष्ट बन जाती है, वहाँ सबके लिये समान सुख से रहने लायक वातावरण भी समाप्त हो जाता है। राष्ट्र के नागरिकों को इस दशा में राष्ट्रधर्म को समझने एवं पालने की आवश्यकता होती है।

राष्ट्रधर्म का समझना कहाँ हो सकता है ? क्या सिर्फ दिल्ली में बैठकर कुछ कानून बना देने मात्र से देश में परिवर्तन आ जायगा तथा राष्ट्रधर्म का सर्वत्र पालन होने लग जायगा ? बुराई को दबानेवाले और अच्छाई को पनपाने वाले कानून बनें—यह अच्छी बात है। किन्तु कानून का पालन करवाना आसान नहीं होता। यह सिर्फ व्यवस्था का ही प्रश्न नहीं है, स्वयं कानून निर्माताओं

एवं शासकों के अपने चरित्र एवं आचरण का प्रश्न सामने आता है । स्वयं कानून बनाकर उसके प्रति स्वयं कितनी और कैसी निष्ठा रखते हैं, आखिर उसी का तो प्रभाव सामान्य-जन पर पड़ेगा । प्राय: देखा जाता है एक कानून बनता है, फिर दूसरा बनता है । बार-बार संशोधन व परिवर्तन होते रहते हैं । इनके पीछे हमेशा कोई हितकारी आधार नहीं होता, सत्तास्थितों के स्वार्थों को पूरा करने के लिये भी ऐसा किया जाता है ।

जहाँ सत्ता को सेवा का साधन न बनाकर स्वार्थों को पूरा करने का साधन बना दिया जाय, तो क्या वहाँ राष्ट्रधर्म टिक सकता है ? क्या वहाँ सभी के चरित्र में विकास संभव रहता है ? क्या वहाँ की स्थिति धार्मिक एवं सदाचारमय बनी रह सकती हैं ? यहाँ देश में रहने वाले अगर इस राष्ट्रधर्म के नाम से अलग-अलग स्थितियाँ लेकर चलें, वर्गहितों एवं क्षेत्र-हितों को प्रमुखता देकर राष्ट्रीयता की अवमानना करें, धर्म के नाम पर कटुता फैलावें अथवा दलीय स्वार्थों में लिप्त बनकर जनहित को तिलांजलि देते रहें, तो क्या वहाँ राष्ट्रधर्म टिक सकता है ? जहाँ नागरिक राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यों को भुला दें और राष्ट्रीय सत्ता के संचालक जनसाधारण के प्रति अपने कर्तव्यों को ठुकरा दें, तो वहाँ राष्ट्रधर्म का अभाव है—ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं है ।

विदेशी शासन की गुलामी मिटे भी इस देश में पसीस वर्ष पूरे होने जा रहे हैं और स्वतंत्रता के इन पैंतीस वर्षों में भी यदि यहाँ राष्ट्रधर्म की स्थापना नहीं की जा सकती है, तो यह स्थिति किसी भी वर्ग के लिये शोभाजनक नहीं है । सच पूछा जाय तो राष्ट्र में यह कैसी स्वतन्त्रता है ? देश में, व्यक्तियों में हो या दलों में—इस अर्से में सत्ता की लिप्सा ने ऐसा तांडव दिखाया है कि सिर्फ राजनीति ही सबके सिरों पर हावी होती चली जा रही है । सत्ता भोग हो गई और व्यवसाय बना दी गई । सेवा लुप्त हो गई और भुला दी गई । इसका प्रभाव यह हुआ कि सभी जगह सच्चे और खरे लोगों की उपेक्षा हो रही है तथा अवसरवादियों की बन आई है । अवसरवादी सिर्फ अवसर का अपने लिये ही लाभ उठाना जानता है, उसे न पड़ौसी से कोई सरोकार, न ग्राम, नगर या देशवासी से । जब अवसरवादी सत्ता की ऊँची कुर्सियों पर बैठ जाय, तो इसके सिवाय हो ही क्या सकता है कि सार्वजनिक हितों की भरपेट अवहेलना हो । ऐसी अवस्था में राष्ट्रधर्म का पालन तो दूर रहा, उसका साधारण निर्वाह तक भी कैसे हो सकता है ? यह लिप्सा और वासना का रूपक सुव्यवस्था का शत्रु ही सिद्ध होता है ।

राष्ट्रीय चरित्र के विकास के साथ आज आवश्यकता है—ग्राम और नगरों में सुव्यवस्था स्थापित करने की । यह राष्ट्रधर्म की निष्ठा के आधार पर ही स्थापित हो सकती है । नीचे के घटक सुधर गये, तो समझिये कि राष्ट्र सुधर

जायगा। शासन को चलाने वाले व्यक्ति सुधर गये तो व्यवस्था सुधर जायगी। किन्तु यदि कोई समन्वय की भावना के स्थान पर पृथक्त्व की भावना लेकर चले और कहे कि राष्ट्र में सुधार नहीं हो रहा है इसलिये राज्यों और नगरों को अलग कर लो, तो क्या वहाँ राष्ट्र रह जायगा? नगरों को ग्रामों से पृथक् कर दो, तो क्या उसकी बुनियाद तक नहीं हिल जायगी? ग्राम से वहाँ के व्यक्तियों को अलग कर दो, तो ग्राम का क्या रूप रह पायगा? सबसे ऊपर यह तथ्य चिन्तनीय है कि उन व्यक्तियों को उनकी सच्चरित्रता, नैतिकता और आत्म-चेतना से पृथक् कर दो, तो क्या शेष रह जायगा? क्या मुर्दा शरीरों का ढेर कलेवरों का समूह मात्र नहीं? आत्मशक्ति जहाँ के नागरिकों में नहीं बचती, तो न राष्ट्र बचता है और न राष्ट्रीय चरित्र।

आप इस नक्शे को समझने का प्रयत्न करें कि राष्ट्र की आत्मा कहाँ बसती है। ये ऊपर मैंने जो कड़ियाँ बताई हैं, यह जब पूरी शृंखला के रूप में जुड़ी हुई रहती है तब तक तो सब ठीक रहता और चलता है, मगर जब ये कड़ियाँ टूटने लगती हैं, तो राष्ट्र और राष्ट्रीयता ही नहीं टूटती, व्यक्ति और उसकी आत्मशक्ति भी टूटती है। इन कड़ियों के क्रम से चलें तो समझ में आता है कि राष्ट्र की आधार शिला एक-एक नागरिक की आत्म-चेतना और आत्म-शक्ति पर टिकी हुई है। यदि पिंड में रहने वाली चेतना सजग और शुद्ध है, तो वह ज्ञान और शुद्धता राष्ट्र की सुन्दर सीमा तक प्रसारित हो जायगी। बाहर के आडम्बरों से न व्यक्ति बनता है और न राष्ट्र। ऊपर की टीमटाम से कोई यह मान ले कि वहाँ सबको अपने-अपने धर्म का भी पूरा खयाल है तो यह भ्रान्त धारणा ही साबित होगी। बिना जड़ के पौधे पर कागज के फूल ही लगाये जा सकते हैं, असली फूल खिलाये नहीं जा सकते हैं। जड़ की रक्षा से ही फूल-पत्ते हरे-भरे रह सकते हैं।

कल्पना करें कि एक माली अपने बगीचे में आम्र-वृक्षों को पनपा कर उसके फल चखना चाहता है। इधर आम की मंजरियाँ आने लगीं, और उधर टहनियाँ सूखने लगीं। माली सोचता है कि टहनियाँ सूख जायेंगी तो वह फल चखने से वंचित रह जायगा। इसलिए वह टहनियों को सींचने की इस तरह कोशिश करता है कि सीढ़ी लगाकर बाल्टी-बाल्टी पानी टहनियों पर छिड़कता है। तो क्या उसकी इस तरह की सिंचाई से टहनियाँ हरी-भरी हो जायेंगी? उस माली को आप किसकी उपमा देंगे? झटपट आप उसे मूर्ख कह डालेंगे। क्योंकि अगर उसे आम का फल चखना है तो वह टहनियों को सींचने से नहीं मिलेगा, वह तो जड़ को सींचने से ही मिलेगा।

इसी तरह आज यदि आप राष्ट्र के प्रांगण में भी ऐसा ही करें कि जड़ की तरफ तो ध्यान ही न दें, और टहनियों को सींचते रहें तो क्या ऐसे विवेक-

शून्य और कहीं-कहीं दम्भपूर्ण कृत्य से राष्ट्र सवल वन सकेगा ? इस माली का रूपक क्या आज के कुछ राजनैतिक कर्णधारों के कामों से मेल नहीं खाता ? राष्ट्रधर्म की आवाज लगाने, कर्त्तव्यों का उपदेश देने और नारों को गुंजाने वालों का आज जब विपरीत आचरण देखा जाता है, तो यह क्यों न समझा जाय कि ऐसे लोग विवेकशून्य ही नहीं, बल्कि देशद्रोही भी हैं, जो येनकेन प्रकारेण आम जनता को बहलाकर अपनी स्वार्थपूर्ति करते रहते हैं। राष्ट्र को ये लोग सिर्फ अपनी जिह्वा पर रखते हैं। उसे अपने मन और मस्तिष्क में कोई स्थान नहीं देते। उन्हें कथनी से राष्ट्र प्यारा होता है, मगर असल में करनी से वे अपने मतलब को ही चाहते हैं। राष्ट्र की शक्ति या इज्जत घटे, आम नागरिक मरे, जिये या नरक की-सी यातनाएँ सहता रहे—ऐसे लोगों को इन सबकी कोई परवाह नहीं रहती।

राष्ट्रीय चरित्र एवं आचरण की जब ऐसी भयंकर दुर्दशा हो, तो राष्ट्र-धर्म की महत्ता कैसे व्यापक व प्रभावशाली बन सकती है ? हर छोटे-बड़े नागरिक को सोचना चाहिये कि सापेक्ष-दृष्टि से उसका उसके प्रत्येक नागरिक साथी के साथ एक प्रकार से आत्मीय सम्बन्ध है, क्योंकि वे सब एक ही समूह के सदस्य हैं तथा एक-दूसरे के आचरण और व्यवहार से प्रभावित होते हैं। यदि वह शांति और सुख से रहना चाहता है तो दूसरे भी इसी तरह रहना चाहते हैं। इसलिए "जीओ और जीने दो" के सिद्धान्त में उसकी आस्था ही नहीं, कर्मठता भी होनी चाहिए। सम्पत्ति एवं पदार्थों का जहाँ तक सम्बन्ध है, उसमें उसकी मूर्च्छा-बुद्धि नहीं होकर समत्व की भावना होनी चाहिए कि उसका सब नागरिकों में आवश्यकता, न्याय एवं समानता के आधार पर वितरण हो। वह यह सोचे कि जब राष्ट्र में रहता हुआ मैं शांति की सांस लेना चाहता हूँ, आवश्यक सामग्री की आकांक्षा रखता हूँ, तो अन्य सभी नागरिक भी ऐसा ही चाहते हैं। इसलिए ऐसा अपने आचरण में न उतारकर जब कोई किसी के हक को छीनकर मौज मारता है और ऊपर से आवाज लगाता है कि वह तो राष्ट्रधर्म का पालन कर रहा है, तब जिस प्रकार का संकट जन्म लेता है, उसे ही राष्ट्रीय चरित्र का संकट कहा जाता है। इस संकट से न सिर्फ आर्थिक अथवा सामाजिक विषमता बढ़कर राष्ट्र का पतन होता है, बल्कि व्यक्ति की आत्मिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के द्वार भी बन्द हो जाते हैं। जैसे एक मकड़ी जो जाला बनाती है, उसमें खुद तो फंसती ही है, मगर दूसरों को भी फंसाती है, वैसे ही ऐसे दुश्चरित्र लोग स्वयं को और समूह को भी नीचे गिराते हैं।

आप अपनी प्रबुद्ध चेतना-शक्ति से वीतराग वाणी के धरातल पर राष्ट्र-धर्म को समझने की चेष्टा करें। भगवान् महावीर ने इस सिद्धान्त की उद्-घोषणा की थी—

सव्व भूयप्प भूयस्स, सम्मं भूयाइ पासग्रो ।
पिहियासव्वस्स दन्तस्स, पावं कम्मं न बंधई ।
(दशवैकालिक सूत्र, अ. ४ गा. ६)

कहा है, हे मानव तुम्हारी आत्मा के साथ पाप-कर्मों का बन्ध क्यों होता है ? अगर इन पाप-कर्मों से मुक्त होना है, तो अन्य सभी मनुष्यों को ही नहीं, सभी प्राणियों को भी अपनी आत्मा के तुल्य समझकर संयम के साथ चलो । सवको आत्मा के तुल्य समझने की भावना रखोगे, तभी सोचोगे कि जिस अवस्था में मैं चल रहा हूँ, मैं जो आकांक्षाएँ रख रहा हूँ उनके ग्रन्दर मुझे तटस्थ वृत्ति लानी है और उसके साथ देखना है कि मेरी ग्राकांक्षाएँ यश-लिप्सा, सत्ता, अधिकार या पद-प्रतिष्ठा के रूप में तो नहीं हैं । यदि स्वार्थ के रूप में लालसा रही, तो मैं ग्रपनी ग्रन्य प्राणियों के साथ तुलना नहीं कर सकूँगा । यह सिद्धान्त केवल शिक्षा की दृष्टि से ही नहीं कहना है, अपितु प्रत्येक को इसका ग्राचरण ग्रपने जीवन के प्रत्येक चरण में करते रहना चाहिये । इस ग्रात्म-भावना के साथ यदि इस तत्त्व को ग्रहण किया जाय, तो व्यक्ति के मन से धूर्तता, दम्भ एवं कपट के खोटे विचार बाहर निकल जायेंगे और उसके स्वभाव में सरलता, ईमानदारी ग्रौर समानता की भावना का सहज विकास होने लगेगा ।

आत्म-नियंत्रण, संयम एवं स्वार्थत्याग की भावना के साथ जो व्यक्ति चलेगा, तो वह उसी के अनुरूप ग्रपने परिवार को वनाना व देखना चाहेगा । वैसा परिवार ग्राम को वदलेगा तो वैसा ग्राम तथा नगर, राष्ट्र में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन ला सकेगा । यह समत्व की भावना राष्ट्रधर्म का मूल है, जो सारे राष्ट्र को समानता ग्रौर एकता के आत्मीय सूत्र में ग्रावद्ध करके रखती है । मैं राष्ट्रधर्म के विकास में नगर का विशेष महत्त्व मानता हूँ, क्योंकि यह ग्राम ग्रौर राष्ट्र के वीच की कड़ी है । नगर में रहने वाले नागरिक का भी इस दृष्टि से विशेष कर्त्तव्य होता है । नगरपालिकाएँ वनती हैं, जिनका ध्यान सिर्फ वाहरी वनावट तक ही सीमित होता है । किन्तु नगर-धर्म का पालन हो—ऐसी प्रेरणा न इन संस्थाग्रों की होती है, न इसके नियुक्त या निर्वाचित सदस्यों की ग्रौर न ही उन मतदाता नागरिकों की जो इन संस्थाओं के सदस्यों को चुनते हैं । यह विकासशील स्थिति नहीं है ।

नगर, ग्राम ग्रौर राष्ट्र के वीच की कड़ी होने से इसकी "देहली दीपक न्याय" की स्थिति कही जा सकती है । जानते हैं "देहली दीपक न्याय" ? जब एक दीपक देहली पर रखा जाता है, तो वह भीतर-वाहर दोनों तरफ प्रकाश डालता है । वैसे ही नगर में रहने वालों के आचरण का प्रकाश दोनों ओर गिरना चाहिये । नगर में ही अधिसंख्य वुद्धिजीवियों एवं विवेकशील लोगों का निवास होता है । वे एक ओर ग्रामवासियों के साथ छल नहीं करके उनके

विकास के लिए यत्नशील हों, तो दूसरी ओर राष्ट्रीय सम्मान को सर्वोपरि समझकर तदनुसार अपने स्वस्थ चरित्र का निर्माण करें, तो क्या वास्तव में देहली के दीपक की तरह वे सबके लिए आलोकदान करने वाले नहीं कहलायेंगे ?

एक बार जब यह निर्माण का क्रम नीचे से चलेगा, तो राष्ट्र तक पहुँचने में उसे अधिक समय लग सकता है, किन्तु वह निर्माण अवश्य ही ठोस होगा। चरित्रनिर्माण के साथ ढली हुई राष्ट्रीयता की भावना से ही राष्ट्र का सच्चा निर्माण होता है। एक शिक्षाप्रद घटना है कि एक बार एक भारतीय जलयान में जापान देश में कहीं जा रहा था। रास्ते में एक बन्दरगाह आया, वहाँ उसके उपयुक्त कोई भोजन-सामग्री उसे नहीं मिली। क्षुद्रतावश वह सारे जापान देश की निन्दा करने लगा कि कैसा बेकार देश है जहाँ खाने को भी कुछ नहीं मिलता। इसे सुनकर एक जापानी मजदूर अपने खाने के फल ले आया और उन्हें उस भारतीय को खाने को दे दिये तथा नम्रतापूर्वक कहा कि आप ये फल खा लीजिये। मैं खुशी से भूखा रह जाऊँगा, किन्तु अपने देश के सम्मान के विरुद्ध कुछ भी नहीं सुनना चाहूँगा। तो ऐसी घटनाएँ किसी भी राष्ट्र के विकास का मापदंड होती हैं। जहाँ राष्ट्रधर्म का समुचित प्रचलन है, वहाँ के नागरिक के लिए अपना स्वार्थ बड़ा नहीं होता। वह राष्ट्र के हित में अपना सब कुछ निछावर करने को तत्पर रहता है। इसके विपरीत राष्ट्रधर्म से हीन राष्ट्रवासी कपट, झूठ और प्रपंच में इतने लिप्त रहते हैं कि वे सिर्फ अपने ही स्वार्थ की पूर्ति की बात समझते हैं। स्वतन्त्रता की छाया में पलने वाली भारत-भूमि की जब आज भी ऐसी बुरी अवस्था दिखाई देती है, तो यह किसी भी विवेकशील व्यक्ति के हृदय को पीड़ा पहुँचाये बिना नहीं रह सकती कि जो भारत-भूमि विश्वगुरु के रूप में पूजित थी, उसे ही आज अपने पतन से उठने का भान तक लुप्त हो रहा है।

यह गम्भीरतापूर्वक विचार करने की वस्तुस्थिति है। मैं ये जो बातें कह रहा हूँ शायद आपको कड़वी लग रही होंगी, किन्तु मुझे जो कहना है, वही कह रहा हूँ। इस विषय में चन्दनबाला राजकन्या की स्थिति का कुछ भाव आपको समझने की आवश्यकता है। चन्दनबाला के नगर पर जब आक्रान्ताओं ने आक्रमण किया, और उस नगर को रौंद डाला तथा चन्दनबाला व उसकी माता को पकड़कर रथ में साथ ले चले तब बन्दी की अवस्था में भी माता ने रथ में बैठे-बैठे चन्दनबाला को समझाया—"जिस देश में तुमने जन्म लिया है, जिस धरती पर तुम पली-पोसी हो, उसको एक पल के लिए भी मत भूलना और जहाँ भी जैसे भी तुम्हें अवसर मिले, उसे पुनः स्वतन्त्र कराने के लिए जितना भी बलिदान करना पड़े, उससे कभी पीछे मत हटना।" माता ने यह शिक्षा नहीं दी कि बेटी किसी तरह अपनी जान बचा लेना और आनन्द मनाना, बल्कि माता ने बेटी को राष्ट्रीयता का स्वरूप भी समझाया कि जो देश किसी भी

अन्य देश पर आक्रमण करता है वह अपने माथे पर कलंक का टीका ही लगाता है। परन्तु वह देश, जो किसी भी ऐसे आक्रमण को सिर नीचा करके सह लेता है या राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को भुला देता है, उससे भी वढ़कर कलंक का टीका अपने माथे पर लगाता है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का समर शांति-समर कहलाता है और ऐसा कलंक का दाग शांति-समर में रूधिरवारि से धोने पर ही साफ होता है। माता ने तव चन्दनवाला को कहा कि तुम्हें भी अहिंसक युद्ध के तरीके अपनाकर इस दासता के कलंक को धोना है। वाद में इतिहास बताता है कि किस शौर्य के साथ चन्दनवाला ने अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए सफल संघर्ष किया।

क्या भारतीयजन अपने विगत गौरव को भूल चुके हैं ? क्या वे राजनीतिक स्वतन्त्रता की परिष्कृति के साथ आर्थिक एवं सामाजिक विषमताओं को दूर करके आत्मिक समानता स्थापित करने के संघर्ष हेतु कटिबद्ध नहीं हो सकेंगे ? उन्हें स्मरण रखना होगा कि भारत-भूमि देव-भूमि कहलाती थी। देव का अर्थ देवता से नहीं, किन्तु देवता के समान उज्ज्वल चरित्र से था। भारतीयों का चरित्र कितना उज्ज्वल था ! और आज का रूपक ? कितना आसमान-पाताल का भेद ? और फिर भी भारतीयों में जागृति न फैले तथा उन्नति की आकांक्षा उन्हें झकझोर न डाले—यही आश्चर्य का विषय है। भारत का अतीत गुणाधारित था, पर आज जाति-भेद तथा छुआछूत जैसी वीमारियाँ इन्सान में वची-खुची इन्सानियत को भी खाए जा रही हैं। पहले के वर्ण भी गुण के अनुसार थे और कर्म के आधार पर थे। 'उत्तराध्ययन' सूत्र में इसी दृष्टि से कहा है कि—

कम्मुणा वंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने कार्यों के आधार पर होते थे, जाति या जन्म के आधार पर नहीं। यही सिद्धान्त आज भी देश-धर्म की स्थिति के साथ लागू होना चाहिए। इन्सान भी कोई अछूत होता है—यह कलंकपूर्ण धारणा है। राष्ट्रधर्म को नहीं समझने वाले कोई कट्टरपंथी छुआछूत का समर्थन कर सकते हैं, किन्तु उनकी आँखें गीता के इस श्लोक से तो खुलनी चाहिये—

विद्या विनय सम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
सुनिचैव श्वपाके, च, पंडिताः समदर्शिनः॥

कृष्ण महाराज से पूछा गया कि पंडित की क्या परिभाषा है ? उन्होंने वताया कि कोरा पंडित कुछ नहीं, विनय उसमें होना चाहिये और जब विनय और विवेक उसमें हो और वह सभी प्राणियों में समदर्शी वने, तव वह सच्चा पंडित है। जब कुत्ते में भी समानता देखने का निर्देश है—तो इन्सान को अछूत वताना सरासर निन्दनीय है।

भारत राष्ट्र के निवासी गीता की नीति सुनते हैं, आगमों की वाणी का लाभ लेते हैं और सन्तों के उपदेशामृत का पान करते हैं। फिर भी उनके मन से घृणा की भावना दूर न हो—यह समुचित नहीं है। यहाँ भाई-भाई ईर्ष्या से जलते हैं, परस्पर घृणा करते हैं, तो फिर राष्ट्रधर्म कहाँ टिकेगा ? राष्ट्रधर्म का विकास तो तब माना जाय, जब एक भाई अपने गिरे हुए भाई को गले लगाकर उसे इतना आत्मीय बना ले कि उसके दुःख को वह अपना दुःख समझकर चले और अपने सुख को उस दुःखी भाई पर लुटा दे। कवि ने कहा है कि सुख जब बांटा जाता है तो वह हजार गुना बढ़ जाता है। सज्जन पुरुष अपने सुख से नहीं, दूसरों को सुखी बनाकर ही अत्यधिक हर्षित होते हैं। इसी प्रकार दुःख को जब आपस में बांट लिया जाय तो दुःख का भार घट जाता है। उसका सुख और सबका दुःख जब सारे राष्ट्रवासियों में बंट जाय, तो कल्पना कीजिए कि क्या उनका सौहार्द, सौजन्य और समभाव स्वर्ग से भी अधिक सुखकर नहीं हो जायेगा ?

आज राष्ट्रधर्म के आदर्श को आगे लाने का दायित्व बुद्धि-वादी वर्ग पर विशेष रूप से है। किन्तु जिस तरह का शिक्षकों और शिक्षार्थियों का वातावरण बन रहा है, वह कोई विशेष उत्साहप्रद नहीं है। स्वयं बुद्धिवादियों को सुधारने की भी समस्या है। ऐसे समय देश के ब्रह्मचारी एवं महात्मा वर्ग को आगे आकर राष्ट्रधर्म की प्रेरणा फूंकनी चाहिये। इस वर्ग में जीवन्त जोश होता है और इसी जोश का प्रयोग उन्हें इस दिशा में करना चाहिये। लेकिन होश खोकर नहीं। अपने स्वयं के चरित्र एवं आचरण से उन्हें राष्ट्रधर्म का आदर्श प्रस्तुत करना चाहिये।

भारत एक विशाल राष्ट्र है, जिसमें विभिन्न धर्मों, आस्थाओं, वर्गों, वर्णों और विचारों के लोग रहते हैं, किन्तु विविधता में भी अब तक उनके बीच एकता का जो सूत्र रहा है, वह आत्मज्ञान ही रहा है। उसी आत्मज्ञान के द्वारा समानता के वातावरण को प्रभावशाली बनाने की आवश्यकता है। राष्ट्र में रहने वाले सभी वर्ग चाहे, हिन्दू हो या मुसलमान—अगर राष्ट्रीयता की आत्मीय भावना के एकसूत्र में बंधे हुए रहेंगे, तो कोई किसी का शत्रु नहीं बन सकेगा। यहाँ तो सभी धर्मों ने दिल दुःखाने तक को महापाप बताया है। इस्लाम का यह एक वचन देखिये—

मवाश दरपये आजार वहरचि च्वाही कुन।
किदर शरयिते या गैर अजी गुनाह नेस्त।।

इसी आशय की एक हिन्दी कविता भी है—

दिल किसी का मत दुखा दिल चाहे सोकर
दिल यार इस बात का, दिल अल्लाह का घर

दिल अल्लाह् का घर, घट-घट में है अल्ला
चार जन मिल बैठिये, यही यार है सल्ला
ऐन खुदा के मिलन का यह रास्ता है नर। दिल०।

भारत राष्ट्र की इस पावन धरती पर अगर एक भी नागरिक किसी दूसरे का दिल नहीं दुखावे, सबको अपनी आत्मा के तुल्य समझे और परस्पर आत्मीयता से ओत-प्रोत रहे, तो कहिये किसी भी छेद से स्वार्थ अन्दर घुस सकेगा ? और स्वार्थ अन्दर नहीं आ सकेगा तो क्योंकर झूठ, कपट और प्रपंच अपना घिनौना सिर ऊपर उठा सकेंगे, तथा क्योंकर सत्ता और पूँजी का मोह मनुष्य को पिशाच बना सकेगा ?

समत्व, समानता या साम्य भावना इस राष्ट्रधर्म की मूल आत्मा है और जब तक मूल को ठुकराया जाता रहेगा, शाखाओं और उपशाखाओं को सींचने से फल कभी नहीं आयेगा। दुनिया भर की योजनाएँ, बाँध, पुल और सड़कें दिलों को नहीं जोड़ सकेंगी। दिलों को जोड़ने वाला और राष्ट्र को बनाने वाला है आत्मज्ञानपूर्ण राष्ट्रधर्म। इसी के पालन से मनुष्य, मनुष्यता के सांचे में ढलेंगे और वे ही सच्चे राष्ट्र का निर्माण कर सकेंगे। इसके लिए परमात्मा का निर्मल स्वरूप सदा अपने सामने रखिये, ताकि आप अपनी आत्मा का स्वरूप उस दर्पण में देखते हुए सतत जागृत रह सकें।[1]

जिस नगर में नैतिकता की दृष्टि से सुव्यवस्था नहीं है, जहाँ सब लोग स्वच्छंद और उद्दण्ड हैं, एक-दूसरे को सताने वाले हैं, तो ऐसे नगर के बीच वह साधक श्रुत और चारित्र धर्म की आराधना नहीं कर सकता है। चाहे साधक कैसा भी क्यों न हो, परन्तु अभी आध्यात्मिक शक्ति का माध्यम शरीर है। अतः शरीर का जहाँ निर्वाह करना है, उस स्थान का वायुमण्डल भी तो शुद्ध होना चाहिए। यदि नगर सुव्यवस्थित है, अर्थात् नैतिक धरातल के साथ है, नगर के रहने वालों में एक-दूसरे का सहयोग है, सहानुभूति है, मानवीय धरातल पर शांति है, तो उस नगर में आध्यात्मिक जीवन का साधक अपनी पवित्र साधना करते हुए वहाँ जो चरम लक्ष्य साधता है, वह सिर्फ उसके लिए ही नहीं होता, परन्तु जन-समुदाय के लिये भी वह शुद्ध और आदर्श वायुमण्डल तैयार करने वाला बनता है।

ग्राम-धर्म और नगर-धर्म की सुव्यवस्था के वर्णन की तरह ही राष्ट्रधर्म के विषय में भी समझना चाहिये। जिस राष्ट्र में व्यवस्थित मानवीय धरातल है, आत्मीय शक्तियों के विकास का सुन्दर अवसर है, जिसमें हर एक साधक अपनी साधना को साधने में तत्पर रह सकता है, वहीं श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म की आराधना हो सकती है। यदि राष्ट्र में अराजकता है, विप्लव की

१–मन्दसौर चातुर्मास प्रवचन, ताप और तप, पृ० १८३–२००

स्थिति है, राक्षसी-वृत्तियों का दौर-दौरा है, तो वहाँ आध्यात्मिक साधक का भी टिकाव नहीं हो सकता है।

इस प्रकार दस धर्मों के वर्णन से वीतराग देव ने मुख्य तौर पर आध्यात्मिक जीवन का संकेत देते हुए नैतिक जीवन का परिमार्जन करने के लिए ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, राष्ट्र-धर्म आदि का संकेत किया है। यह संकेत एक वैज्ञानिक तथ्य को लिए हुए हैं।[1]

शरीर की दृष्टि से मनुष्य जाति का समुदाय एक है। परन्तु आज का मानव शरीर तक ही सीमित नहीं रहा है। उसने वर्णभेद की भी दीवारें खड़ी कर दी हैं—ये काले मनुष्य हैं और ये गोरे मनुष्य हैं। अरे कोई चमड़ी का काला या गोरा है, तो इससे क्या मनुष्य की आत्मा में भी भेद आ गया? यह छूत है और यह अछूत है। किसको छूत-अछूत समझते हो? उसके पीछे कोई सिद्धान्त है क्या? यदि आपने अछूत को छू लिया, तो क्या अछूत हो गये? फिर स्नान करोगे, तो पवित्र और यदि नहीं करोगे तो क्या अपवित्र रहोगे? क्या पानी अछूतपन को धो डालता है?

जो हिन्दुस्तान अखण्ड था, उसके टुकड़े-टुकड़े हो गये। अब और कितने टुकड़े करना चाहते हो, आज अलग-अलग गुट या पार्टियाँ बन गयी हैं। वे चाहे राजनीति की दृष्टि से हों या अन्य किसी दृष्टि से हों, परन्तु वे भेद की दृष्टि ही अपना रही हैं। वे आत्मा और परमात्मा के स्वरूप को नहीं समझ रही हैं। वे अपने ही भाइयों को आपस में टकरा रही है। किन्तु मानव यदि भेद और अभेद दोनों दृष्टि अपनाकर चलता रहे, तो भिन्नता नहीं आ सकती। अतः दोनों दृष्टियों से समभाव के साथ चलने का प्रयास करेंगे तो आत्मा के स्वरूप को समझ सकते हैं।

आज से अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व भगवान् महावीर के जीवन-चरित्र को देखते हैं, तो पता चलता है कि उनका स्वयं का जन्म क्षत्रिय-कुल में हुआ था। वे क्षत्रिय राजकुमार थे। उनके गणधरों को देखिये तो गौतम स्वामी ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने वाले दिग्गज विद्वान् और चारों वेदों के पाठी थे। सुधर्मास्वामी भी ब्राह्मण जाति में जन्म लेने वाले थे। धन्ना शालिभद्र का जिक्र सुनते हैं, तो वे वैश्य जाति के थे। अर्जुन माली और हरिकेशी श्रमण सरीखे व्यक्ति जाति से शूद्र थे। परन्तु उनका गुण और कर्म एक हो गया था। वे एक रूप में चलने लगे। गुण और कर्म द्वारा वहाँ कृत्रिम जाति-भेद नहीं रहा। किन्तु—

कम्मुणा बंभणो होई, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा।।

१—आध्यात्मिक आलोक, पृ० ५६

आप कह सकते हैं कि यह तो बहुत पुरानी बात है। क्या वर्तमान में ऐसी समानता प्रकट हुई है ? हाँ, ऐसी समानता कुछ तो हुई है, और कुछ आगे भी हो सकती है।

आपने अभी गांधी-युग देखा है। मैं गांधीजी के समग्र जीवन की बात नहीं कहता हूँ। उन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्त करने की दृष्टि से अहिंसा और सत्य की भावना अपनाई। वे मानव-भावना के साथ चले। उन्होंने छूआछूत त्यागने को कहा। वे स्वयं मोढ़ जाति के बनिये थे। परन्तु उनके साथ पं० जवाहरलाल नेहरू कश्मीरी ब्राह्मण थे, डॉक्टर अम्बेडकर हरिजन थे, मौलाना आजाद और खान अब्दुल गफ्फार खाँ मुसलमान थे। विनोबा भावे महाराष्ट्री ब्राह्मण हैं। जमनालाल बजाज सरीखे वैश्य भी थे। ये सब-के-सब गांधीजी के साथ घुलमिल गये। परन्तु यह स्थिति तभी बनी, जबकि गुणों के साथ अभेद दृष्टि रखी गई। व्यक्तियों में यद्यपि भेद था, परन्तु ऐसा होने पर भी गुणों की दृष्टि से समानता थी। गुणों का उन्होंने थोड़ा-सा अंश ग्रहण करके देश के सामने एक आदर्श उपस्थित कर दिया।

आज का मानव तो माँग कर रहा है। वह कह रहा है कि मानव अपने जीवन में मानवता लाये और मानव-मानव की आत्मा को समझने का प्रयास करे। अभेद-दृष्टि से मनुष्य एक भी है और भेद-दृष्टि से अनेक भी है। इसी तरह परमात्मा एक भी है और अनेक भो है इसलिए परस्पर संघर्ष मत करो। मानव यदि समन्वय की दृष्टि से चले, तो शांति का अनुभव कर सकता है।[1]

अध्यात्म के मधुर सन्देश

चूंकि आचार्य प्रवर एक आत्मद्रष्टा अध्यात्मयोगी महान् वाग्मी हैं, अत: उपर्युक्त सामाजिक एवं राष्ट्रीय विचार तो आपके आनुषंगिक विषयों पर हैं। आपका अपना मौलिक विषय तो अध्यात्म ही है। अध्यात्म को सुबोध एवं परिपुष्ट करने के लिए ही उसकी भूमिका के रूप में आप अन्यान्य संदर्भों को स्पर्शित करते हैं।

आपका सम्पूर्ण साधनामय जीवन अध्यात्म से अनुप्राणित है। अत: आपका अध्यात्म-प्रवचन अनुभूति के आलोक से उद्भासित होता है, अथवा यों कहें कि आपके प्रत्येक वचन के पीछे अध्यात्म का मधुर सन्देश निगूढ़ रहता है।

आज का युग भौतिकवाद की पराकाष्ठा का युग है। चारों तरफ विज्ञान के भौतिक अनुसन्धानों की चर्चा है। कहीं अपोलो, सोयुज और

१–आध्यात्मिक आलोक, पृ० ४१–४३

वाइकिंग जैसे गगन-स्पर्शी यानों की चर्चा है, तो कहीं हाइड्रोजन, मेगाटन एवं उद्जन जैसे महाविनाश की लीला प्रस्तुत करने वाले प्रलयंकारी अणु-आयुधों की चर्चा है। भौतिक अनुसन्धानों की इस दौड़ में मानव महाविनाश की ओर निरन्तर भागता जा रहा है। प्रथम तो भौतिक चकाचौंध से आप्लावित इस युग में आत्मा-परमात्मा जैसे शाश्वत तत्त्वों के प्रति जन-मानस में अभिरुचि का प्रादुर्भाव क्लिष्ट से क्लिष्टतर बन गया है और दूसरे में अध्यात्म-जगत् के सूक्ष्म तत्त्व हमारी भौतिक दृष्टि से परे होते हैं। इन्हें हम इन्द्रियों के माध्यम से साक्षात् नहीं कर सकते हैं। फलतः अध्यात्म तत्त्वों पर विश्वास समाप्त होता जा रहा है। वायुमण्डल इतना दूषित बन चुका है कि लगता है अध्यात्म हारता जा रहा है एवं विज्ञान भौतिकवाद जीतता जा रहा है। ऐसी स्थिति में अध्यात्म द्रष्टा एवं आत्मदर्शी साधकों के समक्ष भी एक ज्वलन्त प्रश्न मुँह बाए खड़ा है कि अध्यात्म को स्थिर कैसे रखा जाए ? अधिकांश आत्म-साधक एवं उपदेष्टा इस विषय में निराश से लगते हैं, क्योंकि अध्यात्म तत्त्व को सुगम रीत्या आज के परिवेश में प्रस्तुत करने की प्रत्येक व्यक्ति में मेधा नहीं हो पाती और जब तक आधुनिक दृष्टिकोण से उन सूक्ष्म तत्त्वों का विश्लेषण वर्तमान युगीन जनचेतना के सम्मुख न हो, वह प्रभावकारी नहीं हो पाता।

श्रद्धेय आचार्यश्री के धारा-प्रवाही अध्यात्म-प्रवचन इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं कि वे इस भौतिक वातावरण में भी अध्यात्म के प्रति कभी निराश नहीं हुए हैं। वे आज भी भौतिकवाद की वस्तुनिष्ठ परिभाषा एवं व्याख्या इस ढंग से कर जाते हैं कि व्यक्ति का मानस सहसा अध्यात्म के प्रति आकृष्ट हो जाता है, चाहे वह अध्यात्म का विरोधी परम भौतिकवादी व्यक्ति ही क्यों न हो। इसका कारण है कि आप अध्यात्म, आत्मा, परमात्मा, कर्म, विरक्ति आदि सूक्ष्म इंद्रियातीत विषयों पर भी इतनी मार्मिक एवं आधुनिक दृष्टिसम्मत तलस्पर्शी विवेचना प्रस्तुत करते हैं कि एक बार तो नास्तिक विचार भी भावाभिभूत हो जाते हैं और पराभौतिकवादी व्यक्ति को भी अध्यात्म की अद्भुत सत्ता पर बराबर विश्वास करना पड़ता है।

उदाहरण के लिए कर्म-विवेचना-सम्बन्धी निम्न प्रवचनांश में अवगाहन कर पाठक स्वयं चिन्तन करें कि कर्म-सिद्धान्त जैसे सूक्ष्म विषय पर आपश्री का प्रवचन कितना हृदयग्राही एवं भावप्रवण है—

आन्तरिक शत्रुओं से संघर्ष में

आध्यात्मिक रणभूमि में जो साधक उतर चुका हो और जिसे अपने सामने सेनापति मोहनीय कर्म की अधीनता में खड़ी कर्म समूह की सेना दिखाई दे रही हो, वैसे आदर्शोन्मुख साधक को जब योग्य सहयोगी (गुरु) का सबल

सहयोग मिल जाय, तो निश्चय ही वह उनसे कठिन संघर्ष छेड़कर अपने आदर्श की ओर प्रगति कर सकता है। अपने ही शुभाशुभ योगों से उपार्जित कर्मों का क्षय करना किसी भी रणभूमि में बड़े-बड़े योद्धाओं से अकेले लड़ने से कम शौर्य्यपूर्ण नहीं होता। अपने विचारों में, अपनी वाणी में और अपनी साधना में प्रतिपल ये योद्धा हर संभव विघ्न डालने को सामने आते हैं और उसी समय उनके घनत्व को समझ कर अपने सुदृढ़ संयम से उन पर प्रहार करना और उन्हें परास्त करते जाना ही आध्यात्मिक रण-भूमि की सफलता कही जाती है।

जब ये आन्तरिक शत्रु साधक की आध्यात्मिक शक्ति को दबोचने के लिये आगे बढ़ते हैं, उस वक्त निपुण बुद्धि वाला सहयोगी अगर साधक का आत्मिक रथ चला रहा हो, तो फिर साधक पैने बाणों से इन शत्रुओं को प्रबल वेग से छेद सकेगा।

यह संघर्ष है जड़ और चेतन का

जब तक आपकी दृष्टि अंतर्मुखी नहीं बने, तब तक भले ही यह संघर्ष आपको छोटा-सा दिखाई दे, किन्तु इस विचार में एक प्रकार से शास्त्रों का समूचा रूप समाया हुआ है। योग्य सहयोग की अपेक्षा, उस आध्यात्मिक स्तर पर ही नहीं, बल्कि इस विराट् विश्व में जीवन-संचालन करते हुए पग-पग पर रहती है।

इस लोक के अन्दर छः प्रमुख तत्त्व माने गये हैं, जिन्हें एक दृष्टि से लोक-संचालक कहा जा सकता है। ये हैं धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्ति-काय, पुद्गलास्तिकाय, काल एवं जीव-चैतन्य। पहले पाँच अजीव हैं। अजीव वह, जो चेतना रहित होकर सुख दुःख को वेदे नहीं, पर्याप्ति, प्राण, योग उपयोग तथा कर्मरहित और जड़ लक्षण वाला हो। जीव का लक्षण चेतना व उपयोग युक्त, सुख दुःख का वेदक, पर्याप्ति, प्राण का धर्ता, आठ कर्मों का कर्ता और भोक्ता तथा शाश्वत होता है। जीव का कभी विनाश नहीं होता तथा ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य के भावों में वह विगत काल में जीता रहा, वर्तमान में जी रहा है और आगामी काल में सदैव जीता रहेगा।

पहले के पाँच तत्त्वों के आधार पर सारा संसार बना है और उनके साथ सम्बन्धित होकर यह छठा जीव तत्त्व उसे चला रहा है। इस तरह यह छः खिलाड़ियों का लोक है। पाँचों जड़ तत्त्व गति, स्थिति, अवकाश, रचना और समय के प्रतीक हैं, तो छठा-चेतन तत्त्व संचालक है। यदि निरपेक्ष भाव से संचालन हो तो दोनों तत्त्वों में सामंजस्य बैठकर संसार भौतिक एवं आध्यात्मिक

दोनों प्रकार की उन्नति कर सकता है। किन्तु चेतना-शक्ति की दुर्बलता यही होती है कि जड़ में उसकी अपेक्षा और आसक्ति पैदा हो जाती है—वह उनमें व्यामोहित हो जाती है। तब वैसा मोह अन्य सारे कर्मों को न्योता देता है और चेतन को जड़लिप्त बना देता है। इसे ही जीवन का पतन कहते हैं कि जो संसारी जीव को संसार में उलझा देता है, उसे सिद्ध नहीं बनने देता।

सिद्ध बनने के लिये इसी पतनावस्था से चेतन को संघर्ष करना पड़ता है—जड़ मोह से संबद्ध कर्मों से लड़ना पड़ता है। इसी कारण आध्यात्मिक विकास जड़-चेतन के संघर्ष से ही आरम्भ होता है।[1]

आपको ऐसा लगता होगा कि कभी-कभी मैं आपको इन वैज्ञानिक तथ्यों के साथ उलझन में डालने की कोशिश करता हूँ, किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। हकीकत में मैं इनको सुलझाने की कोशिश कर रहा हूँ। आप वैज्ञानिक तथ्यों को कर्म-सिद्धान्त की तुलना में परखिये, उनका अध्ययन और मनन कीजिये, फिर कुछ-कुछ स्पष्टीकरण सामने आयेगा कि वैज्ञानिक चरण भी घूम-फिर कर उधर ही बढ़ रहे हैं, जिधर केवलज्ञानी विचरण कर चुके हैं और अपने ज्ञान का आलोक इस विश्व को प्रदान कर चुके हैं।

विश्व में जितनी भी दार्शनिक विचारधाराएँ हैं, उनमें न्यूनाधिक मात्रा में कर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। किन्तु जिस वैज्ञानिक पुष्टता से उसका विश्लेषण जैन दर्शन ने किया है, उतनी गम्भीरता और स्पष्टता अन्यत्र नहीं मिलेगी। इस कर्म-सिद्धान्त का मानना है कि आत्मा जब शुद्ध अवस्था में होती है, तब उसके कर्म-बंध नहीं होता है। दूसरी ओर जड़ भी अपनी शुद्ध अवस्था में चेतन से सर्वथा पृथक् होता है। अनादि काल से संसारी आत्मा जड़-चेतन के संयोग पर चल रही है, जिससे अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार उसके साथ कर्म-बन्ध का अवसर आता रहता है।

कर्म का रूप तब पैदा होता है जब जड़ का संयोग आत्मा के साथ होता है। पहले ये कार्माण वर्गणा के पुद्गल रूप होते हैं। जब वे आत्मा के साथ बंधते हैं और सजीवता ग्रहण करते हैं, तब कर्म कहलाते हैं। इसीलिये जिन आत्माओं के साथ कर्म लगे हुए हैं और उन कर्मों के साथ जो शरीर है, वह सजीव शरीर कहलाता है।

अजीव कर्म-वर्गणा का सजीव रूप

अब इसमें प्रश्न यह आ सकता है कि अजीव कार्माण वर्गणा के पुद्गल

१—जयपुर चातुर्मास प्रवचन, पावस प्रवचन, भाग ४, पृष्ठ ४४-४५।

सजीव कैसे वन जाते हैं ? उत्तर यह है कि तदनुरूप कार्य से कर्म आए और आत्मा के साथ संयुक्त होकर सजीव वन गये। इसका प्रमाण 'भगवती सूत्र' में दिया गया है। गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया कि "रूवी आया, अरूवी आया ?" तो प्रत्युत्तर में भगवान् ने कहा - "रूवी वि आया, अरूवी वि आया।" अर्थात् आत्मा रूपी भी है और अरूपी भी है। यह सापेक्ष कथन है। अपेक्षा यह है कि सव ही शरीर हैं, जो संसारी आत्माएँ हैं और गति-सजीव शरीर को कोई सर्वथा जड़ कहे, तो ऐसा कहने वाले को असत्य लगता है। तो प्रभु ने इस शरीर-अवस्था की स्थिति को आपेक्षिक दृष्टि से रूपी चैतन्य कहा है। जितने परमाणु आत्मा के साथ आकर लगें और शरीर रूपी में रासायनिक प्रक्रिया में संयुक्त हुए, तो उन्होंने सजीव रूप ग्रहण कर लिया।

यहाँ आप यह सोच सकते हैं कि अजीव तत्त्व सजीव में कैसे और सजीव तत्त्व अजीव में कैसे ? इसमें समझने की बात यह है कि जब अजीव तत्त्व सजीव के साथ हुआ, तो उस वक्त उसकी पर्याय का चैतन्य शक्ति की पर्याय के साथ मिश्रण होने से वह सजीव कहलाने लगा। शास्त्रीय दृष्टि से यह नहीं है कि सर्वथा चैतन्य जड़ और जड़ चैतन्य हो गया। जड़ सदा जड़ और चैतन्य सदा चैतन्य रहेगा, परन्तु पर्याय की दृष्टि से उसके संयोग के साथ रूपी आत्मा होने का भान पड़ता है। यह भी ध्यान रखें कि संयोग सम्मिलित नहीं होता। शरीर पर वस्त्र धारण किया यह संयोग है। किन्तु वस्त्र शरीर रूप में एकमेक नहीं हो जाता। संयोगित होकर भी अस्तित्व पृथक्-पृथक् रहता है।

कर्म के अनुरूप वैज्ञानिक खोज

वताया जाता है कि वैज्ञानिकों ने आजकल एक विषाणु की खोज की है, जो कई प्रकार का होता है। उसके लिये वैज्ञानिकों का कथन है कि वे अणु निर्जीव होते हैं। किन्तु वे मानते हैं कि जव विषाणु सजीव कोशिका के अन्दर प्रवेश करते हैं तो वे सजीव वन जाते हैं। यदि वे ही विषाणु निर्जीव कोशिका में रखे जाते हैं तो वे निर्जीव ही रहते हैं। इसमें उनका तात्पर्य यह है कि ये विषाणु दोनों तत्त्वों को जोड़ने वाले भी वनते हैं। सजीव कोशिका और निर्जीव कोशिका—ये शब्द वैज्ञानिक क्षेत्र के हैं। शास्त्रीय दृष्टि से कोशिका एक स्कंध कहा जाता है, जो सजीव और निर्जीव दो तरह का वनता है। जैसे विज्ञान इन्हें जोड़ने में विषाणु की कल्पना करता है और विषाणु के आवरण प्रोटीन आदि मानता है, वैसे ही कर्म-सिद्धान्त की दृष्टि से इनके स्थान पर मैं लेश्या को जोड़ रहा हूँ, जो कार्माण वर्गणा के रूप में निर्जीव थी, किन्तु जव आत्मा के साथ वह संयुक्त हुई, तो सजीव वन जाती है। जव वे लेश्यागत परिणाम पुनः आत्मा से विलग होते हैं, तो पुनः वे निर्जीव वन जाते हैं।

कर्म-सिद्धान्त की इस परिपक्वता के साथ वैज्ञानिक खोज की आप तुलना करेंगे, तो प्रतीत होगा कि यह खोज अभी तक बहुत अपरिपक्व है। वैज्ञानिक लोग इतनी खोजों के बाद भी अनखोजा एक तत्त्व ऐसा मान रहे हैं कि वह सजीव और निर्जीव कोशिका के साथ जुड़ने का काम कर रहा है। इस स्थान पर जब लेश्या की वर्गणा को इसका माध्यम मान कर सोचेंगे तो इस जुड़ने वाले तत्त्व के सम्बन्ध में स्पष्ट जानकारी होने लगेगी। कषायों की स्थिति पर भी इस संदर्भ में चिन्तन करना पड़ेगा। तब स्पष्ट होगा कि जैन-दर्शन के इस कर्म-सिद्धान्त की दृष्टि कितनी पैनी और सूक्ष्म रही है। इस दृष्टि तक भी अपने प्रयोगात्मक ढंग से पहुँचने में अभी तक वैज्ञानिकों को बहुत समय लगेगा।[1]

आत्मा और चित्त शक्ति

आत्मा की शक्ति उसके संबंध और आचरण को कितनी बोधगम्य भाषा में रूपकबद्ध अभिव्यक्ति दी गई है, इसका भाव प्रवाही आस्वादन प्रस्तुत है—

विचार आत्मा की शक्ति है और उसका आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होता है। शक्ति तेज या मन्द हो सकती है, किन्तु समाप्त नहीं होती, क्योंकि वह आत्मा का गुण है तथा गुण और गुणी के संबंध में विच्छेद नहीं होता। इसको ठीक से समझने के लिये सूर्य और सूर्य की किरणों का तादात्म्य संबंध देखें। सूर्य से सूर्य की किरणें अलग नहीं की जा सकती हैं। किरणें सूर्य की तद्रूप होती हैं। प्रकाश से रिक्त सूर्य का अस्तित्व नहीं होता तो जहाँ सूर्य है, वहाँ किरणों का अस्तित्व होगा ही। उसी प्रकार चिंतन, विचार या इच्छा-शक्ति आत्मा के साथ तादात्म्य संबंध में रही हुई होती है। वस्तुतः चिंतन ही तो चेतना है और चिंतनहीनता आत्मशून्यता का ही तो रूप माना जाता है।

हाँ, सूर्य की किरणें जिस वातावरण को छूती हैं, वैसा रंग और रूप वे अपने में अवश्य भर लेती हैं। उदयाचल पर्वत की लालिमा को जब वे किरणें प्रभातकाल में अपने अंक में भर लेती हैं, तो वे सर्वत्र अरुणिम बन जाती हैं, इसी प्रकार मस्तिष्क के विचार भी जिन संस्कारों के रंग-ढंग में ढलते हैं उन्हीं का रूप-स्वरूप भी पकड़ लेते हैं। इसीलिये कहा गया है कि विचार आत्मा का गुण है, तादात्म्य संबंध से जुड़ा हुआ है। लेकिन जैसे संस्कारों का धरातल मस्तिष्क को मिलेगा, वैसा ही स्वरूप विचार-गति का बनता जायगा। अतः समस्या विचारों के संशोधन करने की है, उनमें यथोचित परिवर्तन लाकर उन्हें विकासोन्मुखी बनाने की है।

१—पावस प्रवचन, भाग ४, पृष्ठ १६६-१६८।

आत्मा का शुद्ध स्वरूप भी सांसारिक पदार्थों के संपर्क में आ जाने से रंग-विरंगा वना हुआ है। शुद्ध श्वेत वर्ण चितकवरा वन गया है और आत्म-स्वरूप भ्रान्त-सा दिखाई देता है। भ्रांत इस कारण कि मूल-स्वरूप के प्रति तो विस्मृति आ गई और साधारण रूप से मानव यही समझने लग गया है याने कि शरीर-सुख ही सव कुछ है। शुद्ध स्वरूप आत्मा का गुण है और वह आत्मा के तादात्म्य रूप से सम्वन्धित है, किन्तु उनके साथ जो अशुद्धता संलग्न हो गई है, उसे परिमार्जित करना आवश्यक है।

अशुद्ध स्वरूप का परिमाजन

इस अशुद्ध स्वरूप का परिमार्जन दृढ़ निष्ठा के साथ किया जाना चाहिये और इस विश्वास के साथ कि आत्मा अनन्त शक्तियों की त्रिकाल द्रष्टा है। ये शक्तियाँ पर-पदार्थों से अनुरंजित हो जाती हैं, किन्तु ज्योंही उनकी अशुद्धता का परिमार्जन कर दिया जाय तो वे सूर्य की किरणों की तरह प्रकाशमान हो उठती हैं। तभी आत्मा का वास्तविक रूप सत्-चित् और आनन्द के रूप में प्रकट होता है।

इस उद्देश्य के लिये दो वातों की जरूरत होती है। एक तो मस्तिष्क में उभरने वाले विचार-प्रवाह को संशोधन और परिमार्जन की नई दिशा देनी होगी, तो दूसरे साता-वेदनीय के बंध और उदय की आवश्यकता होगी, जिससे विचार और आचार की सहज ही में उत्कृष्टता वन सके। चलते दोनों हैं—एक जो डामर की सड़क पर चलता है और दूसरा जो ऊवड़-खावड़ कँटीले मार्ग पर। किन्तु पहला सहज ही तीव्र गति से आगे वढ़ता है और दूसरा जव तक वहुत ही मजवूत इरादे का नहीं हो, तो रुक जाता है—न भी रुके, तो उसकी चाल धीमी और कष्टदायक रहती है। इस तरह असाता वेदनीय और साता-वेदनीय का रूपक होता है। साता-वेदनीय गति के लिये डामर की सड़क वना देता है, जिस पर चाल तेजी से और सुख से हो हो सकती है। इस तथ्य पर कुछ सोचा जा चुका है कि साता-वेदनीय कर्म को वाँधने के उपाय क्या हैं और सर्व प्राणियों पर अनुकम्पा रखने एवं जरूरतमंद को उदार मन से दान देने के लिये मनुष्य को अपने आचरण में क्या-क्या परिवर्तन लाने होंगे।

इसी अनुक्रम में सराग-संयम का प्रसंग आया है। आत्मा समभाव में रमण करने लगे—उस स्थिति को संयम कहते हैं। यह वृत्ति उच्चतर वनती हुई साधु अवस्था तक पहुँचती है और इसकी परिपूर्ण अवस्था अरिहंत भगवान की होती है। किन्तु साधु वन जाने पर अपनी दुर्वलताओं के साथ वह देश-संयम से पूर्ण संयम की ओर वढ़ सकता है। यह निरन्तर संशोधन और परिमार्जन की अवस्था होती है कि अशुद्धता हटकर वहाँ शुद्धता प्रसारित होती जाय। इस

अशुद्ध अवस्था में जो राग की थोड़ी-बहुत मात्रा बनी रह जाती है, उस अपेक्षा से सराग-संयम की व्याख्या की जा सकती है।

परिमार्जन की प्रक्रिया में बाह्य रूप से शरीर के प्रत्येक अवयव में भी संयम की झलक दिखाई देती है। इसीलिये शास्त्रकारों ने "हत्थ संयमे, पाय संयमे" का संकेत दिया है। संयम में इन्द्रियों पर सम्यक् प्रकार से नियंत्रण होना चाहिये, किन्तु फिर भी, जब तक छद्म अवस्था रहती है, तब तक प्रशस्त राग की दशा भी बनती है। इससे रंजित आत्मा साधना के पथ पर अग्रसर होती है, तो संयम से आत्मा की शुद्धि और साता-वेदनीय का बंध दोनों होते हैं। इसे ही सराग-संयम कहा गया है। पूर्ण आत्म-नियंत्रण की स्थिति में पूर्ण संयम कहलाता है। परिमार्जन की प्रक्रिया की यह अन्तिम अवस्था होती है।

"धर्मानुरागरत्ता" का महत्त्व

शास्त्र का पाठ है कि पहले श्रावक कैसे होते थे? वे "धर्मानुरागरत्ता" होते थे, अर्थात् धर्म के अनुराग में अनुरक्त होने के कारण वे सत् सिद्धांतों के प्रचार-प्रसार में भी लगते थे, जिससे कि सामूहिक रूप से भी समाज में आत्म-विकास का मार्ग प्रशस्त बन सके। जो धर्म को अपने जीवन में जितना उतार सके, उतारे और अपने जीवन को शुद्ध बनावे, किन्तु उसके आगे भी उसका कर्तव्य समाज के प्रति यह होता है कि वह धार्मिक विचारधारा का अधिकाधिक प्रचार एवं प्रसार करते हुए अधिक-से-अधिक मात्रा में जन-जीवन में भी संशोधन एवं परिमार्जन की प्रक्रिया प्रारम्भ करे। धर्मानुराग में रत रहने का यही व्यापक अर्थ हो सकता है।[1]

प्रभुकृपा

प्रभुकृपा की आलंकारिकता का विवेचन आचार्य श्री के शब्दों में—

कवि आनन्दघन जी ने प्रार्थना में कहा है कि भगवान् की कृपा-दृष्टि हुई, तो मुझे दर्शन हो जायेंगे। इससे यह प्रश्न उठता है कि क्या वहीं दर्शन है, जहाँ प्रभु की कृपा-दृष्टि है और जहाँ प्रभु की कृपा-दृष्टि नहीं है तो वहाँ दर्शन नहीं हैं? क्या प्रभु की आत्मा के ऊपर अकृपा है या क्या वे कृपालु नहीं हैं? अथवा क्या वे उसी पर कृपा करते हैं, जो उनकी भक्ति करता है, और अन्य पर नहीं? अगर इस प्रकार की वृत्ति प्रभु में मान ली जाय तो उनका स्वरूप शुद्ध माना जायगा या अशुद्ध?

१—पावस प्रवचन, भाग ४, पृ० १२१—१२३

यदि भगवान् कृपा-अकृपा के प्रपंच में पड़ते हों, तो शायद वे भगवान् ही नहीं रहेंगे। फिर तो उनकी तुलना उस अधिकारी से की जा सकती है, जो रिश्वत के जरिये कृपा या अकृपा करता है। अतः प्रभु-कृपा के कथन का सही आशय यह है कि हम अपनी आन्तरिक कृपा को बनावें। अन्तर के चेतन प्रभु की कृपा हुई, तो आत्म-दर्शन अवश्य हो जायेंगे।

एक दृष्टि से भगवान् दो तरीके के हैं। एक तो शुद्ध परमात्मा जो अष्ट-कर्म से रहित शुद्ध अवस्था में आनन्दपूर्वक निर्वाण स्थिति में विराजमान हैं। वे तटस्थ द्रष्टा होते हैं। संसार के किसी भी पदार्थ से उनका लाग-लगाव नहीं होता। दूसरे भगवान वे, जो अपने ही अन्तर में बैठे हुए हैं—प्रत्येक के अन्तर में बैठे हुए हैं। ये भगवान् कर्मलिप्त होने के कारण अभी तेजवान न दिखाई देते हों किन्तु ज्यों ही कर्मों का आवरण हटता है, इनका तेज प्रकट होते-होते उसी अन्तिम बिन्दु तक पहुँच जाता है जो स्वयं प्रभु का तेज होता है। अतः जागरण अवस्था में अपने ही आत्मप्रभु की जितनी अधिक कृपा होगी, उतने ही शीघ्र उसके दर्शन सुलभ हो सकेंगे—इसमें कोई सन्देह नहीं है।

प्रभु कृपा तो सूर्य-किरण सी होती है

सूर्य का प्रकाश आपके सामने व्यापक रूप से आ रहा है और यह सभी के पास समान रूप से पहुँच रहा है। क्या प्रकाश-दान में उसकी कोई भेद-भरी स्थिति है? सूर्य अपनी गति से आकाश में समभाव से चलता है, किन्तु ज्ञानी पुरुष उस फैले हुए प्रकाश से अपना मार्ग ढूँढ़ लेते हैं। इसके विपरीत जो अज्ञानी, मोहग्रस्त और सुषुप्त बने रहते हैं, वे उल्लू की तरह उस फैले हुए प्रकाश को भी ग्रहण नहीं कर पाते हैं। जैसे प्रकाश को प्राप्त करने में सूर्य की कृपा या अकृपा का कोई अर्थ नहीं है, उसी प्रकार प्रभु के स्वरूप को समझकर उससे प्रेरणा पाने में भी प्रभु की कृपा या अकृपा का प्रश्न ही नहीं उठता।

प्रभु-कृपा का यही अर्थ लिया जा सकता है कि उन्होंने जिस आदर्श साधना से स्वयं को कर्मावरण से मुक्त किया, उस आदर्श-साधना से कोई भी प्रेरणा ले सकता है, बशर्ते उसके भीतर के नेत्र खुले हों। अतः प्रभु कृपा की इस दृष्टि से सूर्यकिरण के साथ तुलना की जा सकती है, जो सभी के लिये उपयुक्त होती है।[१]

मनःसाधना के संदर्भ में

आध्यात्म साधना का मुख्य केन्द्र "मन" है। यह नीतिवाक्य अत्यंत तथ्य पूरक है कि "मनोविजेता जगतो विजेता"। किन्तु मन की साधना सुगम नहीं

१–पावस प्रवचन, भाग ४, पृ० ६६–६७

है। अनेकानेक साधक मनोनिग्रह के विविध साधना-मार्गों का अवलंबन लेते हैं, परन्तु अधिकांश साधक मन की साधना के विषय में हताश और निराश हो पथविचलित हो जाते हैं। ऐसे साधकों के लिए आचार्य श्री की वाणी कोमल किंतु साहस भरे शब्दों में प्रस्फुटित होती है।

आज का साधक प्रभु की भक्ति एवं सेवा करने बैठता है और सोचता है कि सेवा की साधना का प्रसंग बनता नहीं है। अतः वह मन को स्थिर करने का प्रयास करता है। उस प्रयास में जब उसको आंशिक सफलता भी नहीं मिलती है, तब अधिकतर वह या तो मनोनिग्रह के अप्राकृतिक उपायों की ओर बढ़ जाता है अथवा ऊबकर मनोनिग्रह के अभ्यास को ही छोड़ बैठता है। आखिर में जाकर वह कहना शुरू कर देता है कि मन कभी वश में नहीं हो सकता है।

वास्तव में मन को वश में कर पाना एक टेढ़ी खीर है। आप किसी एक विषय पर कुछ गहराई से विचार करना चाहते हैं अथवा सिर्फ प्रभु के नाम की एक माला ही एकचित्त से फिरा लेना चाहते हैं और मन को रोककर उसे आप उसमें लगाना चाहते हैं, लेकिन होता क्या है कि आपने मन को लगाया एक विषय या प्रभु के नाम में और दूसरे ही क्षण वह दौड़ जाता है आपके कारखाने में कि वहाँ के उत्पादन को कैसे हल्की जात का बनाया जाय, जिससे खर्चा कम बैठे और मुनाफा ज्यादा आवे। वहाँ से मन को किसी तरह खींचखाँच कर लावें और फिर से प्रभु के नाम में जुटावें, किन्तु वह फिर अगले ही क्षण आपके पुत्र के विवाह की चिन्ता में भाग जायगा कि अभी तक पचास हजार का माल देने वाले लड़कियों के पिता तो आ चुके हैं—अब और माल के लिये ठहरा जाय या सम्बन्ध तय कर लिया जाय। आप फिर वहाँ से उसे खींच कर माला में पिरोना चाहते हैं और वह बार-बार इधर-उधर भागता रहता है। अक्सर पहले-पहले नतीजा यह निकलता है कि चाहे आप माला फिराने बैठे हैं या सामायिक लेकर, उस क्रिया का समय पूरा हो जाता है, परन्तु लगता है कि अन्तःकरण से तो उस क्रिया की साधना हुई ही नहीं। शरीर जरूर क्रिया में बैठा दिख रहा था, किन्तु मन तो न जाने कहाँ-कहाँ छलाँगें लगाता फिर रहा था।

मन की गति इतनी चंचल होती है कि वह एक क्षण में अगणित स्थानों की सैर कर आता है और जितनी चंचलता अधिक होती है उतने ही विविध विचार तो कर लिये जायेंगे, किन्तु उनमें से किसी एक विचार का भी सफल कार्यान्वियन हो—इसकी आशा कम ही रहती है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब तक मन की इस चंचलता को समाप्त न कर दें तथा उसकी गति पर कठोर निग्रह लागू न कर दें, साधना की सफलता का वातावरण नहीं बन सकेगा।

आत्म-साधना की ओर जिसने आगे कदम बढ़ाया है, उसके सामने दो ही विकल्प रहते हैं कि या तो वह अरिहन्त परमात्मा की शरण में जाकर उनकी प्रार्थना एवं निज-नियंत्रण के आधार पर मन को एकाग्र बनाने का अभ्यास करे तथा उस एकाग्र चित्तता से प्रभु की भक्ति और सेवा साधे अथवा मन की गोता-खोरी में उलझ कर अपनी साधना की स्थिति को खो बैठे। प्रायः कई साधकों के ऐसे भाव बन जाते हैं कि जब तक मन की चंचलता समाप्त न हो और उसे वश में न कर सकें, तब तक साधना के क्षेत्र में आगे कुछ भी नहीं किया जाना चाहिए। किन्तु निराशा के ऐसे अंधकार में डूबने की जरूरत नहीं है, क्योंकि अरिहन्त परमात्मा के आदर्श स्वरूप को गहराई से हृदयंगम करते रहें तो शीघ्र ही मन वश में होकर रहेगा। उनका आदर्श स्वरूप इतना रोचक एवं अनुप्रेरक है कि एक बार ज्ञान-दृष्टि से उसे समझने और परखने का प्रयास कर लिया जाय, तो मन में उसे निजात्मा के लिये भी पा लेने की अडिग ललक पैदा हो जाती है। यह ललक ही मन को इतनी मजबूती से उस दिशा में मोड़ देगी कि वह पथ भ्रष्ट होने की कोशिश तक नहीं करेगा।

यह मानकर चलिये कि संसार में एक भी ऐसा कार्य नहीं, जिसे संकल्पवान् और साहसी पुरुष पूरा न कर सकें। अरे, साहसी पुरुष ही तो असंभव को भी संभव करके दिखाते हैं। फिर मन की चंचलता पर रोक लगाने का काम कोई असंभव काम नहीं है। अरिहन्त परमात्मा के दिव्य स्वरूप में मन को एकाग्र करने के अभ्यास से चंचलता को धीरे-धीरे समाप्त करते जाना कठिन नहीं होता। दुनिया में ऐसा कोई तत्त्व नहीं, जिसकी स्थिति का पता नहीं लगाया जा सके। यह पता लगाने का काम भौतिकता की दृष्टि से ही नहीं होता, उसमें आध्यात्मिक जीवन की परिपुष्टि का ज्ञान भी आवश्यक होता है। बल्कि यों कहा जाय कि आध्यात्मिक क्षेत्र किसी भी तत्त्व का पता लगाने में कभी असफल नहीं होता, जबकि भौतिक विज्ञान की कहीं भी सम्पूर्ण रूप से पैठ नहीं होती है। जो उसने पता लगा लिया है, वह कहीं भी पूर्ण नहीं है। मन के सम्बन्ध में ही देखिये कि विज्ञान न तो इसके स्वरूप का अब तक ठीक पता लगा पाया है, न वह मन की चंचल गहराइयों में ही उतर कर उसकी गति के बारे में कोई अनुमान लगा सका है, किन्तु आध्यात्मिकता के लिये मन ऐसा कोई दुरूह तत्त्व नहीं, जिसका वह पता नहीं लगा सके, बल्कि मन की गति के प्रत्येक रूप का पूर्ण विवेचन आध्यात्मिक क्षेत्र में खोजा हुआ मिलेगा। इसलिये निराशा का कोई कारण नहीं कि मन को वश में किया नहीं जा सकता।

मन को स्थिर करने की सचोट विधि का उल्लेख आध्यात्मिकता में है। मन के परिणामों की चंचलता कई प्रकार से मनुष्य के सामने आती है। उस

चंचलता को समाप्त करने के लिये कई लोग अलग-अलग तरीकों में साधना की विधियाँ अपनाते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि इसके लिये त्राटक किया जावे। त्राटक का नाम शायद आपने नहीं सुना होगा। किसी भी एकान्त स्थान में दीवार पर अमुक चिह्न अंकित करके उसी की ओर एकटक दृष्टि साधकर मन में एकाग्रता लाने का जो प्रयास किया जाता है, उसे त्राटक विधि के नाम से पुकारा जाता है। दृष्टि को एक स्थान पर केन्द्रित करके चित्त को एकाग्र करने की इस विधि को हठयोग का ही एक प्रकार समझा जाना चाहिये। एक तो यह बड़ी ही स्थूल विधि है और इससे देखा गया है कि आँखों की नजर खराब करने के अलावा चंचलता समाप्त करने की दृष्टि से कोई लाभ नहीं होता। इस विधि से आत्म-शान्ति को भी कोई खास तरह की प्रेरणा नहीं मिलती है।

एकाग्रता लाने के लिये प्राणायाम की विधि भी अपनाई जाती है। प्राणायाम के तीन रूप मुख्य हैं—रैचक, पूरक और कुम्भक। श्वास-निरोध के माध्यम से ये विभिन्न प्रक्रियाएँ पूरी की जाती हैं। अतः प्राणायाम का मुख्यतः सम्बन्ध शरीर के साथ होने से इसका रूप भी स्थूल ही रह जाता है जो मन की सूक्ष्म क्रियाओं को प्रभावित कर सके, ऐसा कम ही देखा जाता है। प्राणायाम से यह अवश्य है कि श्वास पर कुछ काबू पा लिया जा सकता है। कई वक्त तो कुम्भक आदि के प्राणायाम की प्रक्रिया से मस्तिष्क की बारीक नसें फट जाती हैं और साधक जीवन भर के लिये या तो विक्षिप्तता का बोझ मोल ले लेता है अथवा अपने जीवन से ही हाथ धो बैठता है। ऐसा कुप्रभाव किसी गलत प्रक्रिया से हो जाता है।

समाधि के द्वारा भी कई लोग मानसिक नियंत्रण करना चाहते हैं। समाधि में वायु को कपाल में चढ़ा लेते हैं और फिर पंच भूत में से एक-एक तत्त्व की साधना की जाती है। इसमें भी श्वास-क्रिया का ही मुख्य प्रभाव रहता है। समाधि के द्वारा दिल की धड़कन तक को रोक लेते हैं। किन्तु ये सारे उपाय बाहरी स्थिति पर आधारित होने से अपने स्थूल रूप में ही शरीर की अमुक क्रियाओं को नियंत्रित करते हैं। ये मन की सूक्ष्म चंचलताओं का निग्रह करके उसे स्थायी रूप से सद्विचारणा में स्थिर कर सके हों, ऐसा नहीं पाया गया है।

हठयोग की अपेक्षा साहजिक योग की स्थिति के साथ यदि मन की चंचलता को समाप्त करने की कोशिश की जाय तो चंचलता से निवृत्ति मिल सकती है। साहजिक योग की प्रक्रिया के लिये केवल बाहरी साधनों के ऊपर ही अवलम्बित नहीं रहना है, बल्कि बाहरी साधनों की सहायता के बाद साधना को अन्तर की कड़ियों से जोड़ना पड़ता है।

मन ऐसा चंचल तुरंग है, जिस पर नियंत्रण न कर सको, तो वह न जाने कहाँ-कहाँ और कैसी-कैसी स्थिति में गिराता रहता है, जिसका कोई अनुमान भी नहीं। परन्तु यदि इसी तुरंग को आप एकाग्रता की लगाम लगा सकें, तो फिर इस तुरंग के समान शक्तिशाली एवं गतिशाली भी दूसरा साधन नहीं मिलेगा। लगाम से पूरी तरह नियंत्रित यह तुरंग फिर आत्म-विकास-पथ पर इतनी सन्तुलित और स्वस्थ गति से चलेगा कि फिर आपकी चरम यात्रा आसान वन जायगी।

कहा गया है कि "मन एव मनुष्याणां कारणं वंधमोक्षयो:।" मनुष्य के वन्ध या मोक्ष का कारण मन ही होता है। मन का चंचल घोड़ा वेकावू है, तो वह वन्ध कराता जायगा, जिसके कारण आत्मा कर्मों से वंधकर जन्म-मरण के चक्र में भ्रमित होती रहेगी। मगर अगर यही घोड़ा कावू में आ जाता है, तो फिर इसी एकाग्र मन के जरिये मोक्ष तक की महायात्रा सफलतापूर्वक पूरी की जा सकती है।

अन्तर की कड़ियों को जोड़कर ही मन की चंचलता को मेटा जा सकता है, ऐसा मेरा मानना है। वाहर के साधन मन पर मार कर सकते हैं, मगर उसकी चंचलता को रोक नहीं पायेंगे। ये अन्तर की कड़ियाँ जव अरिहन्त परमात्मा के दिव्य स्वरूप-चिन्तन के साथ जुड़ती हैं, तव उनका सीधा प्रभाव मन की चंचलता पर पड़ता है। एकाग्रता ही चंचलता की विपरीत स्थिति होती है। जव एकाग्रता आ जाय, तो चंचलता का अभाव हो जायगा। भगवान् के दिव्य स्वरूप में मन जव एकाग्र होता है, तो स्वाभाविक रूप से उसकी चंचलता समाप्त हो जाती है।

आन्तरिकता के इस जीवन्त प्रयोग को एक दृष्टान्त से समझिये। एक छत का पंखा विजली के करेन्ट से चल रहा है। उसकी कितनी तीव्र गति होती है, चंचलता होती है! उसके चलते वक्त यदि गर्मी का तापमान वढ़ जाय और वह साधारण सीमा से ऊपर चला जाय तो पंखे की हवा का अनुभव भी कैसा वन जायगा ?

मैंने तो सुना है, स्वयं ने कभी अनुभव नहीं किया। किन्तु आप ही लोगों में से कहते हैं कि वैसी स्थिति में पंखें की हवा भी इतनी ज्यादा गरम हो जाती है कि उसे सहन करना मुश्किल हो जाता है। इसका मतलव यह हुआ कि तव पंखा वन्द कर देने की जरूरत पैदा हो जाती है।

अव कल्पना कीजिये कि उस पंखे को वन्द करने का भार ऐसे आदमी पर आ गरा है जो यह नहीं जानता कि इस चलते हुए पंखे को वन्द कैसे किया

जा सकता है ? तब वह पहले अपने शरीर की ताकत का प्रयोग करना चाहेगा, किन्तु उसका परिणाम क्या होगा कि या तो वह बिजली का झटका खायेगा या पंखे की पत्तियों का धक्का खाकर शरीर के किसी अंग को नुकसान पहुँचायेगा। सोचिये, वह अपने हाथ से उसे नहीं रोककर किसी रस्से की सहायता से उसे रोकने की कोशिश करता है तो भी उसे सफलता नहीं मिलेगी। पंखा टूट तो जायेगा, किन्तु करेन्ट रहते हुए अन्य किसी विधि से वह रुकेगा नहीं।

किन्तु, जो उसके सही भेद को जानता है वह तत्काल उसके बटन को बन्द कर देगा और तुरन्त ही पंखा रुक जायगा। पंखें के चलने के मुख्य कारण को जो नहीं समझ पाया, तो वह उसे बन्द भी नहीं कर सकेगा। बिजली का करेन्ट उस पंखे के चलने का मुख्य कारण है और उस कारण को समझ कर जो जब चाहे पंखा चला सकता है और उसे बन्द कर सकता है। सूत्र छोटा-सा है, किन्तु जब तक चित्त में जमे नहीं, तो बाधा बड़ी बनकर ही हमारी सफलता के बीच में खड़ी रहती है।

आप बाहरी पंखे का रूपक तो समझ गये हैं, किन्तु अब अन्दर के रूपक को समझने की भी कोशिश कीजिये। आपके अन्दर भी मन का पंखा घूम रहा है। उस मन के पंखे को पकड़ने के लिये लोग तरह-तरह की विधियाँ प्रयोग में ला रहे हैं। पंखे को पकड़ने की चेष्टा या रस्से से उसे रोक लेने की कोशिश को आप त्राटक कहिये, प्राणायाम, समाधि या हठयोग का कोई अन्य साधन कहिये, बात एक सी ही है। इन विधियों से पंखे पर चोट की जा सकती है या स्वयं के शरीर पर भी चोट खाई जा सकती है, किन्तु बिजली के करेन्ट को बन्द नहीं किया जा सकता है, जिसके बिना पंखा बन्द होता नहीं। बिजली का करेन्ट है परिणामों की चंचलता और उसका बटन है आत्मनिग्रह। इसके लिये साहजिक योग कारगर बन सकता है। आत्मनिग्रह के आदेश से ही परिणामों की गति हो सकेगी। तब वह गति सार्थक रूप में होगी। परिणामों की बिजली का करेन्ट जब नियंत्रित गति से चलेगा, तो मन का पंखा भी आवश्यक रीति से ही घूमेगा।

आत्मनिग्रह को प्राप्त करने के लिये नियमित साधना का क्रम बनाना होगा। चौबीस घंटों में से अगर एक घण्टा भर भी यह सोचा जाय कि मन रूपी पंखे का बटन कहाँ है और उसका उपयोग कैसे किया जा सकता है, तथा इसे जानने के बाद उस बटन को काम में लाने की कला का अभ्यास किया जाय, तो फिर कैसे सम्भव होगा कि मन का पंखा मनमाने तौर पर चंचल गति से घूमता ही जाय और किसी से रुके नहीं ? पंखे का चलना फिर पंखे के हाथ में नहीं होगा, बटन के काबू में होगा। बस इसी बटन को पाने और उसका

सदुपयोग करने की स्थिति बन जाय तो समझिये कि अरिहन्त परमात्मा की भक्ति और सेवा का एक बहुत बड़ा भेद हाथ लग गया है। जब तक आपमें मन को समझ कर उसकी चंचलता को रोकने की कला हाथ में नहीं आयेगी, तब तक चाहे कितनी ही अन्य विधियों का आप प्रयोग कर लें, वास्तविक सफलता हाथ नहीं लगेगी।

बुनियादी तौर पर मैं यह बताना चाहता हूँ कि मन के परिणामों की चंचलता को समाप्त करने के लिये पहले उन परिणामों को चंचल बनाने वाले कारणों को भलीभांति समझ लेना होगा। तब बाद में उनसे संघर्ष करके उन कारणों को मिटाना पड़ेगा। ऐसे कौन-से कारण हैं—कौन-से निमित्त बन रहे हैं, जिनसे परिणाम चंचल होते रहते हैं ? ऐसे कौन-से ढंग हो सकते हैं, जिनके द्वारा चंचल परिणामों के समय भी विचलित होने से रुका जा सकता है ? इस सारी प्रक्रिया को ध्यान में रखकर उन मूलभूत कारणों पर पहले अंकुश लगाना होगा।[1]

अध्यात्म में नैतिक स्वर

आध्यात्मिक जीवन का अर्थ है आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता में विश्वास करते हुए संसार की समस्त आत्माओं को आत्मवत् समझना जहाँ "आत्मवत सर्वभूतेषु" की भावना का प्रादुर्भाव होता है, वहीं आत्म विकास के द्वार उद्-घाटित होते हैं, और जहाँ आत्मवत् भावनाएँ होंगी, वहीं जीवन में नैतिकता का अनुशीलन सहज संयोगिक होगा। आज आध्यात्मिक ह्रास का एक कारण नैतिक पतन की पराकाष्ठा भी है। मूल को न सींचकर शाखा-प्रशाखाओं को सींचने के समान ही आज अधिकांश धर्मोपदेशक अध्यात्म की भूमिका बिना ही गगन-चुम्बी अट्टालिकाएँ खड़ी करने का प्रयास करते पाये जाते हैं।

किन्तु यह तथ्यात्मक सत्य है कि जन-जीवन में नैतिक निष्ठा उत्पन्न किये बिना अध्यात्म का तरु अथवा भवन खड़ा नहीं रह सकता है। ऐसी स्थिति में यह नितान्त आवश्यक है कि अध्यात्म-उपदेशक नैतिक परिष्करण के दायित्व को भी भूमिका-शुद्धि के रूप में अपने हाथ में लें।

नैतिक ह्रास के इस युग में श्रद्धेय आचार्यश्री ने समाज और राष्ट्र को ही नहीं सम्पूर्ण मानव जाति किंवा विश्व को "समता दर्शन" की अप्रतिम देन दी है। इसकी विस्तृत चर्चा तो हम एक स्वतन्त्र प्रकरण में प्रस्तुत कर चुके हैं, किन्तु प्रकृत में हम उन मुद्दों का स्पर्श कर रहे हैं, जिनमें आचार्यश्री अपने आम अध्यात्म-प्रवचनों में नैतिक जागरण की अध्यात्म मूलक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

१–ताप और तप, पृष्ठ १२६-१२७।

नैतिक पतन का मूलाधार है आर्थिक असमानता एवं आर्थिक अभाव। आज का युग "अर्थ युग" बन गया है। सम्पूर्ण मानव-समाज अर्थ के पीछे बेतहाशा भागा जा रहा है। अर्थोपलब्धि के लिए वह कैसे-कैसे घिनौने कृत्य करता जाता है, इसकी ओर यदि दृष्टिपात करें, तो लगता है आम इन्सान के पास नैतिकता नाम की कोई चीज नहीं रह गई है। आज इन्सान-इन्सान नहीं; केवल नोट (अर्थ) छापने की मशीन भर रह गया है।

अनैतिक सम्पदा में आनन्द खोजने वाले तथाकथित पूँजीपतियों की मनोवृत्तियों एवं उनके कुत्सित कर्मों का पर्दाफाश करते हुए आचार्यश्री ने समाज के अग्रगण्यों को बड़े सचोट शब्दों में सीख दी है :—

सब में रहने वाली आत्माएँ योग्यता की दृष्टि से समान हैं। परन्तु उन आत्माओं ने क्वचित् अर्थ को ही ग्रहण किया, अत: विचित्रता पैदा हुई। यदि संसार की सभी आत्माएँ साँसारिक पदार्थों में न उलझकर अध्यात्म-जीवन के पूर्ण लक्ष्य को ग्रहण करें और ऐसा चिन्तन करें कि जितनी भी आत्माएँ हैं, वे सब मेरी जैसी आत्माएँ हैं, मेरे तुल्य हैं, तभी कल्याण हो सकता है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो योग्यता की दृष्टि से वे परमात्मा के तुल्य हैं और जब ऐसी स्थिति है, तो इन आत्माओं के साथ द्वन्द्व क्यों करूँ, धोखेबाजी क्यों करूँ? यदि मैं आध्याध्मिक जीवन की दृष्टि से चिन्तन नहीं करता हूँ, तो मैं परमात्मा के साथ धोखा करता हूँ। मैं मनुष्य को नहीं ठगता हूँ, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से परमात्मा को ठगता हूँ। मैं अपने पड़ोसियों को धोखा देकर प्रसन्न होता हूँ, तो आध्यात्मिक दृष्टि का चिन्तन मुझे बताता है कि तू आध्यात्मिक नहीं है, भौतिक है। तू पड़ोसियों को अपने तुल्य नहीं समझ रहा है। यदि समाज की विषमता को देखकर खुश होता है, तो समझना चाहिए कि वह भौतिक है, आध्यात्मिक नहीं है, अज्ञानी है। समाज मेरे भाइयों का समूह हैं। मैं अपनी हवेली में बैठकर गुलछर्रे उड़ाता हूँ और यह सोचता हूँ कि मेरे पास तो पक्का मकान है, तीन मंजिली हवेली है, मैं तो सब तरह से सुखी रह सकता हूँ। मेरे पास में रहने वाले गरीबों की झोपड़ियाँ भले ही जलें, नष्ट हों, मेरा क्या बिगड़ता है? यदि इस प्रकार का चिन्तन है, तो यह बहुत बड़े अज्ञान का चिन्तन है। वह नहीं सोच पाता है कि यह हवेली बनाई किसने है? इसको बनाने वाले कौन हैं? क्या स्वयं मेहनत करके बनाई है यह हवेली? इसके निर्माण में उसने अपने शरीर का श्रम लगाया है या श्रम करने वाले दूसरे हैं? जिन्होंने श्रम करके हवेली को बनाया है, वे व्यक्ति झोपड़ियों में रह रहे हैं। उनको कितना क्या कष्ट हो रहा है, आवश्यक सामग्री भी उनको मिल रही है या नहीं? उनकी दशा कैसी है? यदि वे इसमें सहयोग नहीं देते तो तीसरी मंजिल पर नहीं बैठा जा सकता था। तीसरी मंजिल पर बैठाने का श्रेय किसी को है तो

उन श्रम करने वाले व्यक्तियों को ही है। याद रखना चाहिए कि पड़ौसियों और श्रम करने वालों के साथ आत्मीयता का व्यवहार नहीं रखा तो आप भी क्या सुरक्षित रह सकेंगे ?

आज हिन्दुस्तान की दशा बड़ी विचित्र है। जिस देश का अधिकांश भाग गाँवों में रह रहा है, उन ग्रामीण व्यक्तियों की दशा क्या है ? वे क्या सोच रहे हैं ? वे जैसे-तैसे अपने पेट पर पट्टी बाँध कर जीवन बिता रहे हैं ? इनके जीवन की दशा दयनीय हो रही है।

परन्तु यह सब देखने-सोचने, की फुर्सत किसको है ? कहावत है—"मरे जो दूजा, हम करायें पूजा।" दूसरे लोगों की कैसी भी दशा हो, हमको इसकी कोई परवाह नहीं। हमारा उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं। परन्तु हमारा ऐसा सोचना ज्ञान के साथ है या अज्ञान के साथ है ? क्या इन भाइयों के साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है ? वे भाई जिस रोज सम्बन्ध नहीं रखेंगे, उस दिन ज्ञात होगा कि हमारी क्या दशा बन रही है ? हमें जिन्दा रहने का अवसर तभी मिलेगा, जब उन व्यक्तियों के साथ आत्मीय-सम्बन्ध बनाये रखेंगे। भले ही आज वे आर्थिक दृष्टि से कमजोर हैं परन्तु सब हमारे साथी हैं। इनके साथ हर व्यक्ति की आत्मीय भावना होनी चाहिए और चिन्तन करना चाहिए कि ये मेरे भाई हैं, मैं इनका भाई हूँ।

आज के अधिकांश भाई यही सोचते हैं कि मजदूरी का काम तो मजदूरों का है। हम मेहनत-मजदूरी क्यों करें ? यह व्यर्थ का बड़प्पन मध्यम-वर्ग में विशेष रूप से देखने में आता है। अरे ! मजदूरी करना कोई छोटा काम नहीं है ! इस झूठी प्रतिष्ठा के भ्रम में फंसे हुए मध्यम वर्ग की स्थिति क्या है ? यह वर्ग बड़ी बुरी तरह से पिसा जा रहा है। उसकी आमदनी के जरिए टूट रहे हैं और दो पाटों के बीच में जैसे दाने पिस जाते हैं, वैसे ही मध्यम वर्ग पिसा जा रहा है। ऐसी दयनीय स्थिति में भी मध्यम वर्ग अपनी झूठी इज्जत को लेकर चल रहा है और अभी तक भी इस वर्ग में जागृति नहीं आई है। इसने कुरीतियों का भारी बोझ बढ़ा लिया है और व्यर्थ के कार्यों में फिजूल खर्च कर रहा है। कष्ट पाते हुए भी वह कुछ नहीं विचार रहा है। अरे ! लौकिक रीति-रिवाजों की बात तो दूर रही, आत्मशुद्धि के लिए की जाने वाली तपस्याओं के पीछे भी झूठी प्रतिष्ठा और कुरीति का भूत लग गया है। कोई बहिन तपस्या कर रही है। उसने अठाई आदि कर ली, तो उसके पीछे भी कितना क्या किया जाता है, उसका हिसाब आप जानते होंगे ! तपस्या तो आत्मशुद्धि के लिए होती है, परन्तु उसके पीछे भी बड़े-बड़े आडम्बर होने लगे हैं। यह भी क्या तपस्या है ! ऐसी स्थिति कभी पैदा नहीं करनी चाहिए।

प्रत्येक व्यक्ति को सोचना चाहिए कि मेरे पास सम्पत्ति का या शक्ति का

जो कुछ संचय है, उसका स्वल्प-से-स्वल्प भाग मैं अपने लिए ग्रहण करूँ और जो कुछ शेष बचे, वह अन्य अभावग्रस्त व्यक्तियों के लिए समवितरण में काम आये। मैं सबके साथ सहानुभूति रखते हुए चलूँ। यदि इस प्रकार की भावना मानव के मस्तिष्क में आ जाती है, तो वह अध्यात्म के धरातल पर अपने-आपको टिकाये रख सकता है और संकटग्रस्त दुःखी व्यक्तियों के आँसू भी पोंछ सकता है। वह अध्यात्म-मार्ग, श्रेयमार्ग पर आरूढ़ हो सकता है। यदि वह इस प्रकार का चिन्तन नहीं करेगा, तो स्वयं आध्यात्मिक मार्ग से गिरेगा साथ ही दूसरों को भी गिराने में सहायक (निमित्त) बनेगा।

कोई व्यक्ति कितना भी सम्पत्ति-सम्पन्न क्यों न हो, परन्तु उस सम्पत्ति को यदि कायम रखना है, तो जितनी भी जनोपयोगी सामग्रियाँ हैं, उनके यथा-अवसर समवितरण में आस्था होनी चाहिये। तभी समता-दर्शन की भूमिका पर आध्यात्मिकता का साकार रूप बन सकता है।

अतः आज के मानव, चाहे वे किसी भी दशा में हों, किसी के पास पैसे का धन हो, बुद्धि का धन हो, उन सबको अपने-अपने धन का सदुपयोग करना चाहिये। यदि अपने पड़ौस में, गाँव में, राष्ट्र में रहने वाले भाइयों के साथ सद्व्यवहार किया, समवितरण किया, तो बन्धुओं तभी आपकी आध्यात्मिक सम्पत्ति सुरक्षित रहेगी।[1]

चित्त का अर्थ चैतन्य है और उसका शुद्ध अर्थ है ज्ञान। ज्ञान उस तत्त्व से अलग नहीं है। ज्ञान उसका गुण है। वह ज्ञानवान सत् है और सत् का ज्ञाता कहलाता है। यदि वह ज्ञान की पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, चरम सीमा को पा लेता है, तो वह आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है। ये आत्मा की तीन अवस्थाएँ हैं—सत्, चित्त और आनन्द। जो इन तीनों अवस्थाओं से परिपूर्ण है, वह परमात्मा है। जो इनमें से दो अवस्थाओं—सत् और चित्त से युक्त है, वह आत्मा है। उसमें भी पूर्णता प्राप्त करने का सामर्थ्य समाया हुआ है, परन्तु अभी वह कर्मों से आच्छादित है। उस पर मोह और माया का आवरण लगा हुआ है। वह अपने आनन्द को पाने के लिए छटपटा रही है। वह देखती है कि मेरा प्रिय आनन्द कहाँ है। वह इस आनन्द की खोज में जहाँ भी राह मिलती है, वहीं बढ़ती है। उसको पता लगा कि अमुक वस्तु में आनन्द है, तो अपने समस्त जीवन की शक्ति लगाकर वह उस स्थान पर पहुँचने की कोशिश करती है, क्योंकि वह आनन्द की भूखी है। परन्तु वहाँ पहुँचने पर भी कष्ट मिलता है और आनन्द की उपलब्धि नहीं हो पाती है, तब वह घबरा कर सोचती है कि यहाँ आनन्द नहीं है, पहाड़ की चोटी पर आनन्द है। लेकिन पहाड़ के इर्द-गिर्द जंगली जन्तु हैं और भयावने दृश्य हैं। वहाँ पहुँचना शक्य नहीं है। परन्तु उसे

१—आध्यात्मिक आलोक, पृ० ३०-३२

यह विश्वास हो जाता है कि पहाड़ की चोटी पर आनन्द की अनुभूति होने वाली है, तो वह शरीर की भी परवाह नहीं करती है और पहाड़ की चोटी पर पहुँचने की कोशिश करती है। वहाँ पहुँचने पर भी आनन्द का अनुभव नहीं होता है। इसी प्रकार समुद्र की गहराइयों में गोते लगाकर अथवा आकाश में उड़ानें भर कर वह आनन्द प्राप्त करना चाहती है, लेकिन उसे वहाँ पर भी आनन्द नहीं मिलता है।

यह सब तो मृगतृष्णा के पीछे भटकना है। जैसे ग्रीष्म-ऋतु में मृग को प्यास सताने लगती है, तब वह पानी की खोज में इधर-उधर दूर-दूर तक दृष्टि दौड़ाता है। रेतीले मैदान में सूर्य की किरणों की चमक से उसे प्रतीत होता है कि वहाँ पानी हिलोरे ले रहा है। अतः वह सारी शक्ति लगा कर पानी पीने के लिए वहाँ पहुँचता है। लेकिन वह देखता है कि यहाँ तो पानी नहीं है। क्या मैं भ्रांति में पड़ गया? वह फिर दृष्टि दौड़ा कर देखता है तो ज्ञात होता है कि पानी तो पीछे रह गया है। वह फिर उसी तरफ दौड़ जाता है। लेकिन वहाँ पर भी वास्तविक पानी नहीं होने से उसकी सम्पूर्ण आशाओं पर पानी फिर जाता है। सूर्य की किरणों से रेतीले मैदान में जो पानी-जैसा दृश्य दिखलाई देता है, उसको मृगतृष्णा की संज्ञा दी गई है।

भ्रांतिवश जैसे मृग पानी की खोज में दौड़ता-दौड़ता अपने आपको समाप्त कर देता है, वैसी ही दशा आज के अधिकांश मानवों की हो रही है। मनुष्य ज्ञान से युक्त है, परन्तु उसका प्रयोग वह पाँचों इन्द्रियों के विषय-सुख की प्राप्ति में कर रहा है, जिनमें वास्तविक आनन्द नहीं है, सिर्फ लुभावने दृश्य दिखलाई देते हैं।

भौतिक पदार्थों के पीछे मनुष्य भटक रहा है और मानता है कि उनको प्राप्त करने के लिए, चाहे जो साधन अपनाना पड़े, भले ही खून-पसीना एक हो जाये, परन्तु कोई परवाह नहीं। उसे तो चाहिए चन्द चांदी के टुकड़े। वह सोचता है—इनको जितना इकट्ठा कर लूँगा उतना ही आनन्द मिलेगा। वह ऐसा कभी नहीं सोचता है कि जिन्होंने काफी धन इकट्ठा कर लिया है, क्या उनको आनन्द मिल गया?

आज भारतवासियों की दृष्टि भी पाश्चात्य जगत् की तरफ लगी हुई है। वे सोचते हैं कि अमेरिका वाले आनन्द में होंगे, क्योंकि उनके पास बहुत पैसा है। परन्तु पूछिए उनसे कि आप कितने आनन्द में हैं? सुख-शांति में तो हैं? बड़ी हवेलियों में रहने वालों से भी पूछिये कि आपको सुख है या दुःख? वे अपनी सारी शक्ति लगा करके मृगतृष्णा की तरफ भाग रहे हैं। वे नहीं सोचते हैं कि यह जीवन क्यों है और क्या है? यद्यपि इन पदार्थों का सर्वथा निषेध नहीं किया

जा सकता है, परन्तु इनसे ही आनन्द मान लेना और इनसे हीं चिपक जाना, यह अज्ञान की दशा है। इसी से आत्मा के आनन्द की शक्ति दब रही है और उसका ह्रास हो रहा है। आज के मानव को सोचना चाहिए कि मैं पूरी शक्ति लगा कर इन पदार्थों को बटोर तो रहा हूँ, परन्तु इनके साथ मेरा सम्बन्ध नहीं है। ये स्थायी नहीं हैं। दुनिया चाहे जिधर भी दौड़ रही हो, परन्तु क्या हम भी उधर ही भागते जायें। दुनिया में जिधर भी जाइए, उधर यही रट लग रही है—हाय पैसा ! हाय पैसा ! हाय धन ! यदि यह धन मिल भी गया, तो वह कितने दिन तक टिकेगा ? उससे आनन्द की कितनी अनुभूति होगी ? इसका चिन्तन करना चाहिए और यदि चिन्तन किया गया, तो अनैतिकता की ओर जीवन को नहीं ले जाते हुए सोचेंगे कि यह तो साधन है—साध्य नहीं है। साधन को सीमित रखना चाहिए। पेट की पूर्ति तो हर कोई कर सकता है। मनुष्य ही करता है, केवल यही बात नहीं है। मनुष्य करता है, तो इसमें क्या विशेष बात है ? पक्षी के पास तो केवल एक चोंच होती है, परन्तु वह भी भूखा नहीं रहता है और परिवार का पोषण भी करता है। पशु भी अपना कार्य करते हैं। परन्तु मानव के पास तो दो हाथ, दो पैर और विकसित मस्तिष्क है। क्या वह भूखा रह सकेगा ?

अरे, भूख पेट की नहीं, परन्तु पेटी की है। उसके लिए इन्सान अपनी शक्ति को कहाँ लगा रहा है, और कहाँ-कहाँ भागता फिर रहा है ? यह पेटी की तृष्णा जल्दी से पूरी नहीं होती है। मनुष्य इसमें आनन्द का अनुभव करना चाहता है, इसलिए वह नैतिकता और अनैतिकता कुछ नहीं देखता है। जैसे कोई व्यक्ति सोचता है कि ईमानदारी से व्यापार करूँगा तो थोड़े से पैसे पैदा होंगे। अतः इसमें चालाकी की जाए, ताकि पैसे ज्यादा मिल सकें और वह वस्तु में मिलावट करना चालू कर देता है। ग्राहक की आँखों में धूल डालने के लिए असली घी में डालडा या अमुक जाति का तेल डालने की कोशिश करता है। इस मिलावट की दृष्टि से व्यापारी अपनी आत्मा को कितनी मैली कर रहा है ? वह सोच भी नहीं पा रहा है कि उसका जीवन मानवीय धरातल पर है, या अमानवीय धरातल पर है ? वह जीवन राक्षस का है, या मनुष्य का है ? यदि आप इसे गहराई से सोचेंगे तो प्रकट होगा कि जो व्यक्ति मिलावट करता है, वह अत्यन्त क्रूर और निर्दयी बन रहा है। कोई पैसे का गुलाम बनता है, तभी वस्तु में मिलावट करता है। इससे मानव को कितना नुकसान होता है, इसका चिन्तन वह नहीं करता है। जिसके साथ जिस पदार्थ का मेल नहीं है, यदि वह उसमें मिला दिया जाता है, तो इस संयोग से जो पदार्थ बनता है, वह जहरीला बन जाता है। इस अनुचित संयोग से न मालूम मानव के जीवन को कितनी क्षति पहुँच रही है ! इसका उसको ध्यान नहीं है। इस तरह से जो वस्तुओं में मिलावट करता है, वह चाहे किसी प्रलोभन में आकर ऐसा करता हो, परन्तु मैं अनुमान से चिन्तन करता हूँ कि ऐसा करके वह मनुष्यों के लिए

जहरीला काम करता है। ऐसा व्यापारी या कोई व्यक्ति क्या वस्तुतः देश का ईमानदार और वफादार नागरिक है ? ऐसे आदमी क्या आत्मा की खोज कर पायेंगे ? ऐसे व्यक्तियों के लिए क्या कुछ कहा जाए।

मैं सुनता हूँ कि जितनी ऊँचे दर्जे की दवाइयाँ भारत में बनती हैं, उनमें भी बेईमानी चलती है। आज नकली दवाएँ बनने लगी हैं। अरे ! रोगी रोग से त्राण पाने के लिए दवा खरीदता है, किन्तु निर्माता उन औषधियों को भी शुद्ध नहीं रहने देते हैं। मैंने यह भी सुना है कि क्लोरोमाइसिन की गोलियाँ आदि को खोलकर दुकानदार बदल लेते हैं और उनमें कुछ दूसरे तत्त्व डालकर वे गोलियाँ दे दी जाती हैं, जिससे रोगी का जीवन खतरे में पड़ जाता है, और कोई असर नहीं होता है। एक दृष्टि से देखा जाये, तो रोगी और दवा में मिलावट करने वाले आपस में एक दूसरे के भाई हैं। यह व्यापारी का दोष है, व्यापार का नहीं। जब व्यापारी इस प्रकार की मिलावट और कालाबाजारी करते हैं तो अन्य नौकरी वाले भी उनसे पीछे नहीं हैं। वे भी दूसरे व्यापारी बनने की तैयारी कर रहे हैं। इस प्रकार की दुष्प्रवृत्ति इन्सान-इन्सान के बीच चले, तो क्या वे मनुष्य हैं ? मैं तो कहूँगा कि वे मनुष्य से भी गये-बीते हैं। वे पशु से भी बदतर हैं। पशु कम-से-कम ऐसा तो नहीं करता है। बन्धुओ, जो मानवता के विरुद्ध कार्य करते हैं वे अपनी आत्मा का पतन करने वाले हैं और इसलिए ही कहना पड़ रहा है कि आज मनुष्य की दशा कितनी विषम है ! यही समाज की विषमता है।

मैं सुनता हूँ कि विदेशों में ऐसी प्रवृत्ति कम है। जो अपने देशवासी वहाँ जाकर आते हैं, वे वहाँ की ईमानदारी की तारीफ करते हुए कहते है, "क्या कहना है वहाँ की ईमानदारी का ! वहाँ दुकानें खुली हैं, लाखों का माल भरा पड़ा है। दुकान का स्वामी नहीं है, ग्राहक आता है और बिना रोक-टोक दुकान में प्रवेश करता है। उसे जो चीज चाहिए, वह ले लेता है और ईमानदारी से वहाँ पैसे डालकर चला जाता है। दुकान का मालिक आता है, माल को देखता है और पूरे पैसे प्राप्त कर लेता है।" कहिये, वह ईमानदारी क्या यहाँ के नागरिकों में है ?

'भगवती सूत्र' में तुंगिया नगरी के श्रावकों का वर्णन आया है कि वे कैसे थे। बताया गया है कि उनके घर के द्वार सदा खुले रहते थे, अर्गलायें खुली रहती थीं। इसका तात्पर्य यह है कि वे कभी भी अपने मकान का दरवाजा बन्द नहीं करते थे। इसमें कई रहस्य भरे हुए हैं। परन्तु आज वह वर्णन शास्त्रों में ही रह गया है। आज के श्रावकों की क्या दशा है ? आज के मनुष्यों की क्या अवस्था है ? क्या इसका चिंतन आज का मनुष्य कर पायेगा ?[1]

१-आध्यात्मिक आलोक, पृ० ४८-५३

विरक्ति के स्वर

उपर्युक्त सभी विषयों के आनुषंगिक प्रतिपादन के उपरांत अध्यात्म प्रवक्ता का चरम एवं परम प्रतिपाद्य होता है आत्मा की अविनश्वरता एवं भौतिक पदार्थों की क्षणभंगुरता का चित्र-सा प्रस्तुत करना। मिथ्यात्व से मोहित एवं अज्ञान से अंधी चेतना अपने अविनाशी स्वरूप को विस्मृत कर देह, धन-धान्य, परिवार, आदि नाशवान पदार्थों को बटोरने एवं उनकी साज-सज्जा में ही अपने जीवन के बहुमूल्य क्षणों को समाप्त कर देती है। अतः मिथ्यात्व एवं अज्ञान के सघन अंधकार को समाप्त करके आत्म केन्द्र से भटकी आत्माओं को स्वरूप-बोध की ओर उत्प्रेरित करना आत्मद्रष्टा प्रवक्ता का प्रमुख प्रतिपाद्य होता है। यह तभी संभव है जबकि देहादि नाशवान् पदार्थों के प्रति निर्ममत्व के भाव जागृत किए जायें तथा आत्मा के मौलिक रूप का चिंतन किया जाय।

श्रद्धेय आचार्य श्री अपने श्रोताओं में विरक्ति-बोध जागृत करने में कितने सक्षम एवं सफल रहे हैं, यह पाठक स्वयं निर्णय करेंगे, तो अधिक श्रेष्ठ रहेगा—

अन्न और जल का शरीर के साथ एक तादात्म्य संबंध है। वर्तमान शरीर अन्न के बिना नहीं रह सकता, पानी के बिना जीवन कार्य नहीं चल सकता और हवा के बिना तो यह शरीर रह ही नहीं सकता। अन्न, पानी, और हवा ये तीनों तत्त्व जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इनसे ही शरीर में प्रकाश दीखता है, किन्तु इन तीनों के साथ आध्यात्मिक दृष्टि रहनी चाहिए। आध्यात्मिक श्रद्धा के बिना जीवन का पौधा पनप नहीं सकता है। वह तो समय से पहिले ही कुम्हला जावेगा। सामग्री सभी कुछ उपलब्ध है। अन्न, जल और हवा तीनों का पूर्ण सहयोग है। ऐसी स्थिति में यदि आंतरिक जीवन की आध्यात्मिक ऊर्जा शरीर में नहीं है, तो शरीर का कोई मूल्य नहीं है। उसकी सुन्दरता उस घड़ी हाथ मलती रह जायेगी। शरीर सुन्दर है, उसका पोषण करने के लिए तीनों तत्त्व विद्यमान हैं, किन्तु आध्यात्मिक शक्ति के बिना सभी व्यर्थ हैं। जीवन में प्राणों का मूल्य होता है। इसी से सारे जीवन का मूल्य बढ़ता है। शरीर बड़ा सुन्दर है, उसके पोषण के लिए तीनों तत्त्व भी प्राप्त हैं, किन्तु एक तत्त्व के बिना आपका शरीर एक "शव" से अधिक कुछ नहीं है, उसी तत्त्व के कारण ये सारे आकर्षण हैं। संसार में जितने भी अनात्म तत्त्व हैं, उनका अपना कोई महत्त्व हो, चाहे न हो, पर आत्मा का संयोग मिलने पर उनमें एक विशेषता प्रगट हो जाती है। बाह्य तत्त्वों को अधिक बढ़ावा देने से, अन्तर की प्रगति रुक जाती है। इससे जीवन का विकास नहीं हो पाता। जब तक जीवन का विकास नहीं होगा, तब तक जीवन सुखी नहीं हो सकता। आज मानव-जीवन में जो असंतोष व्याप्त है, चारों ओर जो विषमताएँ दीख पड़ रही हैं,

इन सबकी जड़ में जीवन के महत्त्वपूर्ण मौलिक तत्त्व के प्रति उपेक्षा-भाव ही मुख्य कारण माना गया है।

माली अपने बगीचे में फलों से लदे हुए वृक्षों को देखकर बड़ा प्रसन्न होता है। उसने सभी वृक्षों की जड़ों का सिंचन किया है, तभी तो उसका परिश्रम आज फल और फलों के रूप में खिल रहा है। यदि वह मूल को सींचना छोड़कर वृक्षों की शाखाओं को सींचने लगता, तो क्या उसे फल प्राप्त हो जाते ? वृक्ष हरे-भरे रह सकते ? इस प्रश्न के उत्तर में आप यही कहेंगे कि नहीं। जड़ सींचने से ही वृक्ष हरा-भरा रहता है। शाखाओं को सीचने से आज तक कोई वृक्ष हरा नहीं रह सका है। वृक्ष की प्रत्येक शाखा अपनी जड़ से भोजन लेती है। तभी वह हरी-भरी रह सकती है। मूल यदि सुदृढ़ है तो शाखा को भी बल मिलेगा। मूल की स्थिति सुधरेगी, तो टहनी अपने आप सुधर जायेगी, क्योंकि उसका जीवन-मूल से संबंध है। जब मूल की बात को व्यक्ति समझ लेता है, तो फिर टहनी को जल पिलाने का व्यर्थ परिश्रम नहीं करता है। वह सदा मूल की सुरक्षा का ही ध्यान रखता है। उसे ही बार-बार सींचता है। इस प्रयत्न से उसका परिश्रम सफल हो जाता है। उसे फल भी प्राप्त हो जाते हैं, और वृक्ष भी रक्षित रहता है। माली कृषि-विज्ञान जानता है, अतः वह मूल को छोड़कर टहनी को कभी नहीं सींचता है। वह जानता है कि वृक्ष में जो भी हरियाली है, जड़ से आ रही है। जड़ को खुराक धरती से प्राप्त हो रही है। यद्यपि पृथ्वी में प्रत्यक्ष हरियाली नहीं दिखती है। फिर भी जड़ें मिट्टी में से ही रसग्रहण करके सारे वृक्ष को हराभरा रखती हैं। ऊपर से कितनी ही गरमी पड़ती रहे, फिर भी वृक्ष सूखता नहीं है। उसकी जड़ें सुदृढ़ और गहरी हैं। धरती में से रस खींचकर टहनियों तक पहुँचाने की उसमें क्षमता विद्यमान है। उसे शाखाओं की चिन्ता नहीं होती, वह तो सदा मूल को सुधारने में अपना ध्यान लगाये रखता है।

माली खाद-पानी कहाँ देता है ? मूल में, जड़ में।

तो, यही बात मैं आप लोगों से कह रहा हूँ कि अपने जीवन की सुरक्षा के लिए उसके मूल को सुरक्षित करिये। मूल को सुधारिये। तभी आपको अपने जीवन का सुखमय फल प्राप्त होगा। आप अपने जीवन की बगिया के माली हैं। इसकी रक्षा करना आपका सर्वप्रथम कर्तव्य है। अपने जीवन के वृक्ष को आप माली की तरह देखिये।

मनुष्य अपने शरीर को ऊपर से देखता है। अपनी सुन्दर काया को देख कर फूला नहीं समाता है। मन में सोचता है कि मेरा शरीर कितना सुन्दर है, कितना सुदृढ़ है। घण्टों-घण्टों दर्पण के सामने उसे देखता रहता है। उसे सँवारता रहता है। उसका यह सारा प्रयास टहनियों को सींचने के समान है।

विरक्ति के स्वर

उपर्युक्त सभी विषयों के आनुषंगिक प्रतिपादन के उपरांत अध्यात्म प्रवक्ता का चरम एवं परम प्रतिपाद्य होता है आत्मा की अविनश्वरता एवं भौतिक पदार्थों की क्षणभंगुरता का चित्र-सा प्रस्तुत करना। मिथ्यात्व से मोहित एवं अज्ञान से अंधी चेतना अपने अविनाशी स्वरूप को विस्मृत कर देह, धन-धान्य, परिवार, आदि नाशवान पदार्थों को बटोरने एवं उनकी साज-सज्जा में ही अपने जीवन के बहुमूल्य क्षणों को समाप्त कर देती है। अत: मिथ्यात्व एवं अज्ञान के सघन अंधकार को समाप्त करके आत्म केन्द्र से भटकी आत्माओं को स्वरूप-बोध की ओर उत्प्रेरित करना आत्मद्रष्टा प्रवक्ता का प्रमुख प्रतिपाद्य होता है। यह तभी संभव है जबकि देहादि नाशवान् पदार्थों के प्रति निर्ममत्व के भाव जागृत किए जायें तथा आत्मा के मौलिक रूप का चिंतन किया जाय।

श्रद्धेय आचार्य श्री अपने श्रोताओं में विरक्ति-बोध जागृत करने में कितने सक्षम एवं सफल रहे हैं, यह पाठक स्वयं निर्णय करेंगे, तो अधिक श्रेष्ठ रहेगा—

अन्न और जल का शरीर के साथ एक तादात्म्य संबंध है। वर्तमान शरीर अन्न के बिना नहीं रह सकता, पानी के बिना जीवन कार्य नहीं चल सकता और हवा के बिना तो यह शरीर रह ही नहीं सकता। अन्न, पानी, और हवा ये तीनों तत्त्व जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इनसे ही शरीर में प्रकाश दीखता है, किन्तु इन तीनों के साथ आध्यात्मिक दृष्टि रहनी चाहिए। आध्यात्मिक श्रद्धा के बिना जीवन का पौधा पनप नहीं सकता है। वह तो समय से पहिले ही कुम्हला जावेगा। सामग्री सभी कुछ उपलब्ध है। अन्न, जल और हवा तीनों का पूर्ण सहयोग है। ऐसी स्थिति में यदि आंतरिक जीवन की आध्यात्मिक ऊर्जा शरीर में नहीं है, तो शरीर का कोई मूल्य नहीं है। उसकी सुन्दरता उस घड़ी हाथ मलती रह जायेगी। शरीर सुन्दर है, उसका पोषण करने के लिए तीनों तत्त्व विद्यमान हैं, किन्तु आध्यात्मिक शक्ति के बिना सभी व्यर्थ हैं। जीवन में प्राणों का मूल्य होता है। इसी से सारे जीवन का मूल्य बढ़ता है। शरीर बड़ा सुन्दर है, उसके पोषण के लिए तीनों तत्त्व भी प्राप्त हैं, किन्तु एक तत्त्व के बिना आपका शरीर एक "शव" से अधिक कुछ नहीं है, उसी तत्त्व के कारण ये सारे आकर्षण हैं। संसार में जितने भी अनात्म तत्त्व हैं, उनका अपना कोई महत्त्व हो, चाहे न हो, पर आत्मा का संयोग मिलने पर उनमें एक विशेषता प्रगट हो जाती है। बाह्य तत्त्वों को अधिक बढ़ावा देने से, अन्तर की प्रगति रुक जाती है। इससे जीवन का विकास नहीं हो पाता। जब तक जीवन का विकास नहीं होगा, तब तक जीवन सुखी नहीं हो सकता। आज मानव-जीवन में जो असंतोष व्याप्त है, चारों ओर जो विषमताएँ दीख पड़ रही हैं,

इन सबकी जड़ में जीवन के महत्त्वपूर्ण मौलिक तत्त्व के प्रति उपेक्षा-भाव ही मुख्य कारण माना गया है।

माली अपने बगीचे में फलों से लदे हुए वृक्षों को देखकर बड़ा प्रसन्न होता है। उसने सभी वृक्षों की जड़ों का सिंचन किया है, तभी तो उसका परिश्रम आज फल और फलों के रूप में खिल रहा है। यदि वह मूल को सींचना छोड़कर वृक्षों की शाखाओं को सींचने लगता, तो क्या उसे फल प्राप्त हो जाते ? वृक्ष हरे-भरे रह सकते ? इस प्रश्न के उत्तर में आप यही कहेंगे कि नहीं। जड़ सींचने से ही वृक्ष हरा-भरा रहता है। शाखाओं को सींचने से आज तक कोई वृक्ष हरा नहीं रह सका है। वृक्ष की प्रत्येक शाखा अपनी जड़ से भोजन लेती है। तभी वह हरी-भरी रह सकती है। मूल यदि सुदृढ़ है तो शाखा को भी बल मिलेगा। मूल की स्थिति सुधरेगी, तो टहनी अपने आप सुधर जायेगी, क्योंकि उसका जीवन-मूल से संबंध है। जब मूल की बात को व्यक्ति समझ लेता है, तो फिर टहनी को जल पिलाने का व्यर्थ परिश्रम नहीं करता है। वह सदा मूल की सुरक्षा का ही ध्यान रखता है। उसे ही बार-बार सींचता है। इस प्रयत्न से उसका परिश्रम सफल हो जाता है। उसे फल भी प्राप्त हो जाते हैं, और वृक्ष भी रक्षित रहता है। माली कृषि-विज्ञान जानता है, अतः वह मूल को छोड़कर टहनी को कभी नहीं सींचता है। वह जानता है कि वृक्ष में जो भी हरियाली है, जड़ से आ रही है। जड़ को खुराक धरती से प्राप्त हो रही है। यद्यपि पृथ्वी में प्रत्यक्ष हरियाली नहीं दिखती है। फिर भी जड़ें मिट्टी में से ही रसग्रहण करके सारे वृक्ष को हराभरा रखती हैं। ऊपर से कितनी ही गरमी पड़ती रहे, फिर भी वृक्ष सूखता नहीं है। उसकी जड़ें सुदृढ़ और गहरी हैं। धरती में से रस खींचकर टहनियों तक पहुँचाने की उसमें क्षमता विद्यमान है। उसे शाखाओं की चिन्ता नहीं होती, वह तो सदा मूल को सुधारने में अपना ध्यान लगाये रखता है।

माली खाद-पानी कहाँ देता है ? मूल में, जड़ में।

तो, यही बात मैं आप लोगों से कह रहा हूँ कि अपने जीवन की सुरक्षा के लिए उसके मूल को सुरक्षित करिये। मूल को सुधारिये। तभी आपको अपने जीवन का सुखमय फल प्राप्त होगा। आप अपने जीवन की बगिया के माली हैं। इसकी रक्षा करना आपका सर्वप्रथम कर्तव्य है। अपने जीवन के वृक्ष को आप माली की तरह देखिये।

मनुष्य अपने शरीर को ऊपर से देखता है। अपनी सुन्दर काया को देख कर फूला नहीं समाता है। मन में सोचता है कि मेरा शरीर कितना सुन्दर है, कितना सुदृढ़ है। घण्टों-घण्टों दर्पण के सामने उसे देखता रहता है। उसे सँवारता रहता है। उसका यह सारा प्रयास टहनियों को सींचने के समान है।

वह यह नहीं सोचता कि शरीर पर यह तेज, यह चमक कहाँ से आ रही है ? अभी तक मूल के महत्त्व को उसने नहीं समझा है। इसी कारण वह बाहरी टीपटाप में उलझ रहा है। वह इस बात को भूल गया है कि जिस दिन शरीर से मूल अलग हो जायेगा, इसकी सारी सुन्दरता मुरझा जायेगी। वह मूल तत्त्व "आत्मा" है। इस आत्म-तत्त्व की सुरक्षा करने से ही जीवन की सुरक्षा होती है। इसकी शक्ति से ही शरीर सुन्दर शरीर है। इसके बिना वह केवल "शव मात्र" है।

आज का मानव इन्द्रिय-पोषण की ओर अधिक लगा हुआ है। शरीर के अंग-प्रत्यंग के बनाव-शृङ्गार में ही उसका सारा समय बीत रहा है। कभी बालों में तेल डालता हैं, कभी आँखों में सुरमा लगाता है। अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनता है, परन्तु फिर भी उसका जीवन दिनोंदिन मुरझा रहा है। उसमें तेज नहीं है, ओज नहीं है। तनिक सी धूप लगते ही उसकी चमक फीकी पड़ जाती है। क्यों ?

इसलिए कि उसकी जीवनी शक्ति प्रत्येक क्षण क्षीण हो रही है। मूल को भोजन नहीं मिल रहा है। जीवन की जड़ें सूखती जा रही हैं। समूचे शरीर का नियामक आत्मा, विकारों से घिर गया है। उसकी वास्तविक खुराक उसे नहीं मिल पा रही है। इसकी ओर ध्यान देने की विशेष आवश्यकता है। एकान्त रूप से बाहरी तत्त्वों की ओर ध्यान रखने से जीवन का आन्तरिक मूल तत्त्व "असुरक्षित" रह जाता है। जीवन के प्रत्येक भाग में विकृति आने लग जाती है। अतः बाह्य सुधार के साथ-साथ आन्तरिक शक्ति की ओर भी ध्यान दो। कर्त्तव्य पालन के द्वारा मूल का सिंचन करो। तभी आपको सच्चा सुख प्राप्त हो सकेगा। अपने आध्यात्मिक स्वरूप को भूलकर केवल बाहरी रूप-रंग का बनाव-सुधार किसी भी स्थिति में लाभदायक नहीं है।

मूल की ओर ध्यान रखने से जीवन का विकास होगा। मानसिक भावना में निखार आयेगा। धर्मशास्त्र और धर्म-गुरुओं के प्रति सच्ची श्रद्धा जागेगी। ऐसा विचार मन में कभी नहीं आयेगा कि धर्म स्थान केवल परलोक सुधारने के लिए ही है। इस लोक से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। पौष्टिक आहार से जिस प्रकार शरीर पुष्ट होता है ठीक उसी प्रकार धर्म-स्थान में आकर उपदेश-श्रवण करने से आत्मा को पौष्टिक विचार मिलते हैं। इन विचारों से आध्यात्मिक चेतना पुष्ट होती है। जीवन का संरक्षण होता है। दिन-रात के चौबीस घण्टों में से यदि एक घण्टा भी इस ओर लगा दिया तो जीवन की मूल शक्ति को बड़ा बल मिलेगा। उसका सुधार होगा। वह दिनोंदिन कल्याण के मार्ग पर प्रगति करता चला जायेगा।

बन्धुओ ! यदि ऐसी भावना आज के युवावर्ग में जागृत हो जायगी, तो वे शीघ्र ही मूल तत्त्व को पहचान जायेंगे। उनका जीवन पुष्पित-पल्लवित होकर संसार के जीवों के लिए एक "आश्रय-स्थल" बन जायेगा। जिन्हें अपनी मूल शक्ति पर भरोसा होता है, वे ही दूसरों को कल्याण के मार्ग पर लगा सकते हैं।[1]

दुनिया के कई अज्ञानी प्राणी संसार के अन्दर सुख प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। वे यही सोचते रहते हैं कि पाँचों इन्द्रियों के विषयों का संयोग मिल जाये, तो हम अपने जीवन में संसार के सुख अच्छी तरह से भोग सकेंगे। ऐसे प्राणियों की तुच्छ बुद्धि इन क्षणिक सुखों से तृप्त होने की स्थिति में ही रहती है। जब तक व्यक्ति इन तुच्छ सुखों में आसक्त बना रहता है, तब तक उसकी विचारधारा सामने दिखने वाले विषयों की तरफ ही लगी रहती है और वह इनको ही सब कुछ समझ लेता है। उसकी दृष्टि आंतरिक सुखों की ओर बहुत कम जाती है। यदि कोई जबर्दस्ती उसकी दृष्टि को उधर खींच ले और एक बार भी उसको वास्तविक आनंद का अनुभव करा दे, तो फिर वह संसार के विषयों को, इन नाशवान सुखों को तृणवत् समझकर आंतरिक दिव्य सुख का आनंद लेने लगेगा।

जिन प्राणियों का यह ध्यान है कि इस संसार में इन्द्रिय-जनित सुख प्राप्त करने के लिए लक्ष्मी की आवश्यकता है और जितनी संपत्ति एकत्र कर ली जाएगी, उतनी ही सुख की अभिवृद्धि होगी, वे इसी भावना को लेकर लक्ष्मी के पीछे बुरी तरह भागते हैं, परन्तु वे समझ नहीं पाते हैं कि लक्ष्मी कहाँ है और वह किसके चरणों में रहती है ?

लक्ष्मी का एक नाम चंचला भी है। जिसका नाम ही चंचला है, वह स्थिर व्यक्ति के साथ तो स्थायी रूप से रह सकती है, परंतु अस्थिर व्यक्ति के साथ टिक नहीं सकती। स्तम्भ यदि मजबूत है तो झंडा कितना ही चंचल हो, वह उसके सहारे टिका रह सकता है, परन्तु यदि स्तम्भ डोलायमान है, तो फिर झंडा तो उड़नेवाला है ही। उसका कोई ठिकाना ही नहीं रहेगा। लक्ष्मी रूपी झंडा, जिसको कमला भी कहा गया है, यदि स्थिर चरणों के साथ है, तो उसकी चंचलता भी समाप्त हो सकती है और वह स्थायी रूप से उन स्थिर चरणों में सदा के लिए बनी रह सकती है। यदि उसके चरण ही स्थिर नहीं हैं, तो फिर वह कमला स्थिर कैसे रह सकती है ? कवि ने रूपक दिया है कि—

चरण कमल कमला बसे रे, निर्मल स्थिर पद देख।
समल अस्थिर पद परिहरे रे, पंकज पामर देख।।

१—पावस प्रवचन, भाग २, पृ० ८८–९१

दुनिया के लोग समझते हैं पंकज यानी कमल पर लक्ष्मी का निवास है और वह कमल का सहारा लेकर चलती है, परन्तु ज्ञानी जनों का कथन है कि कमल के सहारे लक्ष्मी टिक नहीं सकती, क्योंकि कमल स्वयं चंचल है। कमल कीचड़ से पैदा होनेवाला है और जो कीचड़ से पैदा होनेवाला है, उसके साथ लक्ष्मी कब टिक सकती है ? लक्ष्मी तो निर्मल बुद्धि को देखकर ही स्थायी रह सकती है। परमात्मा के चरणों का सहारा लक्ष्मी ने लिया, कमला ने लिया, तो क्या समझकर लिया ? इसीलिए कि प्रभु के चरण निर्मल हैं। उनमें मल नहीं है और वे स्थिर हैं, कभी भी विचलित होने वाले नहीं हैं। ऐसे प्रभु के चरणों में कमला बसने लगी और उसने पंकज को छोड़ दिया, क्योंकि वह मल-युक्त था।

चंचला कमल को छोड़कर प्रभु के चरणों में पहुँची। यह एक अलंकार है। इस अलंकार के माध्यम से आप वास्तविक सुख की सिद्धि को, लक्ष्मी को समझिए। आत्मा को वास्तविक सुख दिखानेवाली वह कमला आध्यात्मिक लक्ष्मी है। उस लक्ष्मी को निर्मल चरण ही पसंद हैं। वह प्रभु के चरणों को निर्मल समझकर ही उनमें स्थिर है।

हाड़, माँस, रक्त, आदि से बने मनुष्य के चरण तो नाशवान हैं। ये चरण स्थिर रहनेवाले नहीं हैं, परन्तु उन सिद्ध परमात्मा के चरण तो श्रुत और चारित्र रूप हैं। श्रुत और चारित्र रूप चरण परमात्मा की विराट् शक्ति के अटल स्तम्भ हैं। जिस व्यक्ति को परमात्मा का स्वरूप पसन्द है, जिसको स्थायी शांति चाहिए और जो सदा के लिए आध्यात्मिक लक्ष्मी को पाना चाहता है, वह प्रभु के श्रुतधर्म और चारित्रधर्म रूप इन दोनों परम पवित्र चरणों को ही ग्रहण करेगा।

श्रुत का तात्पर्य है—आत्मा और परमात्मा का सही विज्ञान। इस संसार में कौन-से पदार्थ ग्रहण करने योग्य हैं, कौनसे छोड़ने योग्य है और कौनसे जानने योग्य है, इस प्रकार के सही आध्यात्मिक विज्ञान के साथ जो निर्मल ज्ञान है, उस निर्मल ज्ञान के साथ वैसा ही विश्वास भी है, तो वह श्रुत रूपी चरण है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से संसार के पदार्थों का ज्ञान किया, फिर उनमें से त्यागने योग्य पदार्थ का त्याग करके और ग्रहण करने योग्य पदार्थ का ग्रहण करके समग्र जीवन को उस आध्यात्मिक सुख के लिए लगा लिया, तो वह चारित्र रूपी चरण है।

ये दोनों मूल आध्यात्मिक शक्तियाँ हैं। इन दोनों शक्तियों के सहारे ही आत्मा चरम सीमा की अवस्था में परमात्मा बन सकती है। उसकी आराधना के लिए ही यह मनुष्य तन है। इस मनुष्य जन्म में जिसने प्रभु के चरणों की आराधना को समझ लिया, वह स्थायी रूप से लक्ष्मी को पा लेगा। वह स्थायी

सुख दिलाने वाली लक्ष्मी के साथ सदा के लिए संबंधित हो जाएगा। फिर कभी सुख उससे अलग नहीं होगा। आध्यात्मिक लक्ष्मी उससे दूर नहीं होगी। वह सदा के लिए प्रतिक्षण अनन्त सुख का आनन्द लेता रहेगा। इसी भावना के साथ जिन आत्माओं का विज्ञान प्रबुद्ध हो गया, वे आत्माएँ चाहे प्रारम्भ में सत्संगति का योग न बैठने के कारण अन्य तरीकों से संसार के नाशवान सुख को पकड़ कर चलती रही हों, परन्तु जैसे ही भीतर की जागृति हुई, कि वे उसी समय संसार के इन नाशवान सुखों को नाक के श्लेष्म की तरह त्यागकर अपने दिव्य सुख की खोज में लग गईं।

हम प्राचीन काल की कथाओं में पढ़ते हैं और ऐतिहासिक पृष्ठों को उलटने का प्रसंग आता है, तो उनमें ऐसे दिव्य पुरुषों का स्वरूप चमकता हुआ दृष्टिगत होता है कि प्रारंभ में नाशवान गंदी वासना में निमग्न प्राणी कालान्तर में निमित्त पाकर किस प्रकार प्रबुद्ध हो गए। इस विषय में अनेक रूपक हैं। उनमें से महात्मा तुलसीदास का रूपक आपके सामने रखता हूँ।

महात्मा तुलसीदास के प्रारंभिक जीवन की घटना को आप सुनेंगे, तो आपको पता लगेगा कि वे किस प्रकार इन पाँचों इंद्रियों के विषयों में लिप्त थे। जैसे कि अन्य साधारण व्यक्ति संसार के संबंध को जोड़कर चलते हैं और तरुणाई में मोह के नशे में रहते हैं, वैसे ही थे तुलसीदास। कोई विरले ही पुरुष ऐसे होंगे जो इस मोह के नशे से ऊपर उठकर इस मदिरा पर अपनी आत्मा का अंकुश लगा पायें।

सुबाहुकुमार का प्रसंग शास्त्रीय दृष्टि से आप सुनते ही रहे हैं। उन्होंने समृद्धिशाली परिवार में जन्म लिया। अनेक रमणियों के साथ उनका विवाह-सम्बन्ध हुआ। वे पाँचों इन्द्रियों के विषयों में लिप्त रहे। परन्तु जैसे ही उनको ज्ञान हुआ कि यह मनुष्य-तन इन नाशवान सुखों के पीछे नष्ट करने के लिए नहीं है, तो तत्क्षण वे जागृत हो गए। वे भरा-पूरा घर और रमणियों को छोड़कर आध्यात्मिक लक्ष्मी की साधना में चल पड़े।

कथा की दृष्टि से महात्मा तुलसीदास का विषय भी कुछ ऐसे ही प्राणियों जैसा था। तरुणाई में उनका विवाह हो गया। फिर विवाह के प्रसंग से वे इतने दीवाने बने कि एक दिन उनकी अंतरात्मा वासना से व्याप्त हो गई। वे सोचने लगे कि मेरी धर्मपत्नी तो पीहर में है और मैं यहाँ घर में हूँ। कैसे, क्या किया जाए ? उन्हें कुछ नहीं सूझ रहा था।

आकाश में घनघोर बादल छाये हुए थे। भयंकर अन्धेरी रात थी। साँय-साँय करके चारों ओर से हवा चल रही थी। बड़ा भयावना दृश्य था। कोई व्यक्ति बाहर नहीं निकल सकता था, परन्तु तरुण तुलसीदास के मस्तिष्क में

काम की आँधी ने इस प्रकार धक्का दिया कि वे घर से चल पड़े । उनके सामने केवल एक ही लक्ष्य था कि किसी प्रकार से भी मैं धर्मपत्नी के पास पहुँचूं ।

वे विकट मार्ग को पार करके अपने ससुराल पहुँचे । गाँव में सभी प्राणी रात्रि की सुनसान अवस्था में निद्रा ले रहे थे । सब घरों के दरवाजे बन्द थे । इस स्थिति में वे अपनी ससुराल के नजदीक पहुँचे । वहाँ का दरवाजा भी बन्द था । आधी रात के समय आवाज लगाकर दरवाजा खुलवाना उचित नहीं था । वे कुछ देर इधर-उधर देखते रहे ।

अचानक उनकी दृष्टि बिजली की चमक में दीवार पर पड़ी । उन्होंने देखा कि वहाँ एक रस्सी लटक रही है और उसको पकड़ कर ऊपर चढ़ा जा सकता है । उन्होंने वह रस्सी पकड़ी, परन्तु वह रस्सी नहीं थी, सर्प था । खैर ! उसके सहारे ऊपर चढ़ गए । उनको यह भी भान नहीं रहा कि यह जहरीला जंतु है और काट सकता है । परन्तु उन्होंने कोई परवाह नहीं की और वे येन-केन प्रकारेण अपनी धर्मपत्नी के पास पहुँचे । कथा-भाग में ऐसा वर्णन है ।

पति को अचानक अपने कमरे में देखकर पत्नी आश्चर्य-चकित हो गई । उसने कहा, "नाथ ! इस भयंकर रात्रि में आप यहाँ कैसे ?" उन्होंने सब बात कही तो स्त्री ने पूछा—"यहाँ कौनसी रस्सी है ?"

देखा गया तो प्रकट हुआ कि वह रस्सी नहीं, एक जहरीला जंतु था । फिर पति का स्वागत करते हुए पत्नी ने कहा, "आपने मुझे अनुगृहीत किया । इसके लिए मैं आपकी बहुत कृतज्ञ हूँ । परन्तु नाथ ! आपको इतना भी भान नहीं रहा कि यह जहरीला जंतु काट लेगा, तो प्राणांत हो जाएगा । क्या ही अच्छा होता कि आपका जैसा ध्यान मेरी तरफ है, वैसा ही प्रभु के चरणों में होता । यदि ऐसा कर पाते तो आपका बेड़ा पार हो जाता—

अस्थि चर्ममय देह मम, तासों ऐसी प्रीति ।
वैसी जो श्रीराम में, होत न कहुँ भवभीति ।।

इस गंदी वासना के प्रति आपका जितना ध्यान है, उतना ही यदि प्रभु की ओर हो, तो आपको किसी प्रकार भव-बाधा नहीं रहेगी ।" तुलसीदास ने पत्नी के इतने से वाक्य सुने और उनकी आत्मा में जागृति आ गई ।

उसी समय तुलसीदास ने कहा "प्रिये, तुमने बहुत सुन्दर बात कही है । आज से तुम मेरी गुरु हो और मैं तुम्हारा शिष्य हूँ । तुमने अच्छा बोध दिया ।" और वे उसी समय चल पड़े ।

जब तक आध्यात्मिक ज्ञान का सही भान नहीं हुआ, तब तक ही उनकी यह दशा थी । आगे चलकर वे महात्मा तुलसीदास के नाम से विख्यात हुए ।

उपर्युक्त प्रवचन-उद्धरणों में आचार्य श्री के अतल प्रवचन-सागर से कुछ मणिमुक्ता ही यहाँ प्रस्तुत किए गए हैं। मैं यह सोचता हूँ कि आचार्य श्री के वैचारिक जीवन-दर्शन की थाह पाने के लिए ये पर्याप्त होंगे।

"हाथ कंगन को का आरसी" अथवा "प्रत्यक्षे किं प्रमाणं" के अनुसार जिन पाठकों को आचार्य श्री के वैचारिक जगत का साक्षात्कार करना हो, वे उस महामहिमा मंडित व्यक्तित्व का प्रत्यक्ष दर्शन कर आज भी अपनी नेत्रतृषा को परितृप्ति से आप्यायित कर सकते हैं तथा आपके वैचारिक परिवेश को व्यापक अर्थों में समझ सकते हैं।

आचार्य श्री के विशाल पांडित्य, विचक्षण प्रतिभा, गंभीर विचारणा, अपूर्व तर्कणा-शक्ति एवं तलस्पर्शी अध्ययनशीलता की अनुपम छाप आपके प्रवचनों में स्थान-स्थान पर पाई जाती है। आज के विद्वत् समाज पर इसका प्रभाव अंकित है।

आचार्य श्री का विचार-परिमल इतना व्यापक, विराट् एवम् मनोमुग्धकारी है कि उसकी सौरभ, सामाजिक, पारिवारिक, राष्ट्रीय, नैतिक, आत्मिक, आध्यात्मिक, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक एवं परा आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में समान रूप से परिव्याप्त है। वास्तव में आचार्य श्री के मुखकमल से निःसृत प्रत्येक शब्द एवं उसकी हर क्रियान्विति अपने आप में गुणार्थक उपदेश है, जिसके द्वारा प्रत्येक आगंतुक सहजतया आप्लावित हो, भाव-विभार हो जाता है।

• • •

प्रश्न कुछ :
उत्तर आचार्यश्री के

प्रश्न मेरे - उत्तर आचार्यश्री के

युग पुरुष वह होता है जो युग की पुकार को, तत्कालीन समस्याओं एवं ज्वलन्त प्रश्नों को समझ कर उन्हें समाहित करने की क्षमता रखता हो।

आज का युग वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास का युग है। एक दृष्टि से इसे हम आध्यात्मिक संक्रान्ति काल भी कह सकते हैं, क्योंकि आज अध्यात्म के समक्ष संख्यातीत प्रश्न मुँह वाए खड़े हैं, जो अध्यात्म को वैज्ञानिक तुला पर तोलना चाहते हैं। अध्यात्मवादियों के समक्ष यह चुनौती खड़ी है कि वे अध्यात्म को वैज्ञानिक परिवेश प्रदान करें।

आज का सामाजिक परिवेश भी अध्यात्म से कटा-कटा-सा जा रहा है। अध्यात्म एवं सामाजिकता के सम्बन्ध टूट-से गये हैं। स्थिति यहाँ तक उत्पन्न हो गई है कि समाज और अध्यात्म दो भिन्न-भिन्न किनारों पर खड़े दिखाई दे रहे हैं। ऐसी स्थिति में अध्यात्मवादियों के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वे समाज को वह दिशा प्रदान करें, जिससे वर्तमान समाज अध्यात्म की ओर उन्मुख हो सके, अपनी सड़ी गली अन्ध परम्पराओं से मुक्त हो सके।

यही नहीं, आज आध्यात्मिक क्षेत्र स्वयं ही स्वयं के लिये प्रश्न वाचन बन गया है। कुछ रूढ़ धारणाओं एवं क्रियाकाण्डों ने आज के युवा मानस के समक्ष अनेक ज्वलन्त प्रश्न खड़े कर दिये हैं।

इन सभी स्थितियों में एक युग पुरुष के समक्ष क्या कर्त्तव्य आ पडते हैं और वह उनका कैसा मार्मिक चिन्तन प्रस्तुत करता है, यह हम यहाँ पढ़ेंगे।

वर्तमान परिवेश को आन्दोलित करने वाले कुछ मौलिक प्रश्नों का ही समाधान यहाँ प्रस्तुत है, जिसके माध्यम से हम आचार्यश्री के व्यक्तित्व के उस पक्ष से परिचित होंगे, जो उनके अन्तर-बाह्य, अध्यात्म-समाज दोनों पक्षों को उजागर करता है।

प्रश्न—१

निर्ग्रन्थ श्रमण-संस्कृति का उद्‌भव किस युग की देन है? वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उसके सांस्कृतिक मूल्यों पर प्रकाश डालने की कृपा करें।

उत्तर

प्रश्न अति मौलिक है। उत्तर की गम्भीरता तक पहुँचने के लिये आवश्यक है कि शब्दशः व्याख्या का आश्रय लिया जाए। चूँकि प्रश्न, निर्ग्रन्थ श्रमण-संस्कृति के सन्दर्भ में पूछा गया है, अतः संस्कृति शब्द पर कुछ दृष्टिपात आवश्यक है।

निर्युक्ति की दृष्टि से संस्कृति का अर्थ होगा सम्यक् कृति। अर्थात् शुद्ध संस्कार-सम्पन्न कृति, संस्कृति कहलाती है। "कृति" शब्द यहाँ किन्हीं मौलिक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। "कृति" क्रिया के भावात्मक या प्रत्यक्ष रूप को कहते हैं और "सम" उपसर्ग है।

लाक्षणिक दृष्टि से अंग्रेजी का कल्चर शब्द हिन्दी के संस्कृति शब्द का प्रति रूप माना जा सकता है। कल्चर का अर्थ है, वह गुण जो उत्पन्न किया गया हो, संस्कृति का भी कुछ-कुछ यही अर्थ है, जिसे हम सामान्य भाषा में संस्कार कहते हैं।

इस प्रकार संस्कृति का अर्थ हुआ अच्छी कृति। समाजगत सामूहिक श्रेष्ठ कृतियाँ भी संस्कृति कही जा सकती हैं। व्यक्ति की कृतियों में चेतना का सम्पुट रहता है, अतएव समष्टि की कृतियों में चेतना अवश्यम्भावी है। समाज की समष्टि रूप से विकासोन्मुखी चेतनामयी कृतियाँ ही संस्कृति हैं।

संस्कृति को मुख्य दो धाराओं में विभक्त किया जा सकता है। एक भौतिक और दूसरी आध्यात्मिक। भौतिक सुखों तथा संस्कृति के ऊपरी आवरणों में भौतिक संस्कृति का दर्शन किया जा सकता है—नाटक, खेल-कूद, अध्ययन, साहित्य, मानवीय व्यवहार, रहन-सहन, पहनाव एवं रीति-रिवाज आदि भौतिक कर्मों में संस्कृति की छाप स्पष्ट परिलक्षित होती है, जिसे सभ्यता के नाम से पुकारते हैं। इसके विपरीत आध्यात्मिक संस्कृति से तात्पर्य है, मानवता की अन्तरात्मा और उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा का प्रयत्न। इसमें ऐसे सभी आचारों, अभ्यासों एवं उपकरणों का समावेश हो जाता है, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आध्यात्मिक उत्थान में सहायक सिद्ध हों। महान् विचारक श्री मैथ्यू आरनाल्ड के अनुसार "इसके मूल में पशुता से भिन्न अन्तः-करण की मानवता, सतत विकासशीलता, अखिल-मानव समाज की सामूहिक उत्क्रान्ति एवं मानव की समग्र शक्तियों के व्यापक विस्तार की भावना छिपी हुई है।"

यथार्थ में अध्यात्म संस्कृति समाजबद्ध मानव की वह श्रेष्ठतम उपलब्धि है, जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, विनयशीलता, सात्विकता आदि समाविष्ट हैं।

इस प्रकार मनुष्य की श्रेष्ठतम साधनाओं को संस्कृति की संज्ञा दी जा सकती है। भारतवर्ष के भूतपूर्व राष्ट्रपति सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन् ने संस्कृति की एक विचित्र-सी व्याख्या की है। उनके अनुसार "स्कूलों-कॉलेजों तथा सभी शिक्षण-संस्थानों में जो कुछ पढ़ा जाता है, वह भुला देने के पश्चात् जो कुछ शेष रह जाए, वही संस्कृति है।"

वस्तुतः संस्कृति मात्र रीति-रिवाज, नृत्य-गायन, त्यौहार एवं वेश-विन्यास ही नहीं है, संस्कृति इनकी अन्तरात्मा हैं। प्रसिद्ध साहित्यकार सम्पूर्णानन्दजी ने "संस्कृति" की व्याख्या करते हुए कहा है कि संस्कृति वह सांचा है, जिसमें समाज के विचार ढलते हैं, वह बिन्दु है, जहाँ से जीवन की समस्याएँ देखी जाती हैं। संस्कृति विभिन्न संस्कारों द्वारा व्यक्ति की प्रतिभा और योग्यता के पूर्ण विकास में समुचित योग देती है।

संक्षेप में कहें तो व्यक्तित्व की पतनोन्मुखी वृत्ति का नाम है विकृति अथवा निकृति तथा विकासोन्मुखी आदर्श व्यक्तित्व की कृति का नाम है संस्कृति। संस्कृति व्यक्ति का आत्म-परिष्कार करती है, तो सभ्यता जिसे हमने भौतिक संस्कृति के नाम से पुकारा है, उसे बाह्य जीवन के व्यवहारों में अधिक शिष्ट, समृद्ध एवं उन्नत बनाती है। संस्कृति आत्मिक विकास की युग-युगान्तर से चली आ रही अवस्थाओं को अनुसूचित करती है, तो सभ्यता दैहिक एवं भौतिक क्रम को स्पष्ट करती है।

"संस्कृति" शब्द की उपर्युक्त विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अध्यात्म संस्कृति न किसी क्षेत्र-विशेष की देन होती है और न किसी काल विशेष की। चूँकि निर्ग्रन्थ श्रमण-संस्कृति एक गंगा के निर्मल प्रवाह की तरह धारा प्रवाही संस्कृति है, अतः उसके काल-सम्बन्धित छोर को पाना उतना ही कठिन है, जितना कि सृष्टि के आदिकाल को। इस दृष्टि से निर्ग्रन्थ श्रमण-संस्कृति प्रवाह की अपेक्षा से अनादिकालीन संस्कृति है। उसके अनुसार अनन्त युग बीत गये हैं और प्रत्येक युग में यह अपने अस्तित्व में कायम रही है। हाँ, संस्कृति के इस प्रवाह में सरित धारा के प्रवाह की तरह ह्रास-विकास अवश्य हो सकता है। कोई काल अपना सांस्कृतिक मूल्य बहुत अधिक बना लेता है, तो किसी काल में संस्कृति अति मन्थर गति से चल पाती है अर्थात् बौद्धिक युग संस्कृति के विकास का युग माना जा सकता है, जिसमें युग के सांस्कृतिक मूल्य प्रस्थापित होते हैं।

जैन दर्शन के अनुसार काल को दो भागों में विभक्त किया गया है जिसे आज की भाषा में प्राक्ऐतिहासिक एवं ऐतिहासिक काल कहते हैं। जैन दर्शन उसे अकर्मभूमिक एवं कर्मभूमिक काल के नाम से पुकारता है। आपेक्षिक दृष्टि

से निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति कालातीत संस्कृति है, किन्तु काल चक्र के प्रवाह में इसका कभी आविर्भाव तो कभी तिरोभाव होता रहा है।

जैसा कि शब्द से ही स्पष्ट है, निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति "श्रम" की सस्कृति ह, अतः इसका सम्बन्ध कर्मभूमिक काल से अधिक है। भारतीय दर्शनों के सिंहावलोकन से ज्ञात होता है कि "निर्ग्रन्थ" एवं "श्रमण" जैन दर्शन के मौलिक शब्द हैं तथा जैन दर्शन में ये लाक्षणिक अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं।

"निर्ग्रन्थ" का शाब्दिक अर्थ होगा ग्रन्थि रहित अर्थात् गांठ रहित और इसका लाक्षणिक अर्थ होगा राग-द्वेष, कषाय-कल्मष की गांठों का छेदन करने वाला साधक। "श्रमण" शब्द उसी साधक की श्रमपूर्ण साधना का अभि-व्यंजक है। व्युत्पत्ति के अनुसार "श्राम्यति इति श्रमण" अर्थात् जो श्रमजीवी है, वह श्रमण है। तात्पर्य यह है कि जो राग-द्वेषादि आन्तरिक विकारों की ग्रन्थियों के शमन में निरन्तर श्रमरत है, वह निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति का समुपासक है।

उपर्युक्त शब्द-व्याख्या के आधार पर यह निष्कर्ष फलित होता है कि निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति "श्रम" अर्थात् कर्म की संस्कृति है अतः इसका सम्बन्ध अकर्म से नहीं कर्मभूमिक युग से अधिक है और इस प्रकार इसका वर्त्तमानिक रूप आदि तीर्थंकर प्रभु ऋषभदेव के द्वारा प्रदत्त माना जा सकता है।

चूँकि, प्रभु ऋषभ देव के पूर्व कर्म अर्थात् श्रमपूर्वक जीवनयापन की व्यवस्था नहीं थी, अतः वह युग युगलिक-अकर्म भूमिकाल से पुकारा जाता है। जैन परम्परा अथवा ऐतिहासिक दृष्टि के अनुसार प्रभु ऋषभदेव से पूर्व का युग ऐसा युग था, जब मनुष्य का अपना जीवन प्रकृति पर ही आधारित था, उस समय वह न कर्म करना जानता था और न उसका कर्म पर विश्वास ही था। उसकी प्रत्येक आवश्यकता प्रकृति से पूरी होती थी। भूख-प्यास से लेकर जीवन की हर समस्या में वह प्रकृति के सहयोग पर ही जीता था। कल्पवृक्षों के माध्यम से प्राप्त सामग्रियों के आधार पर अपना जीवन निर्वाह करता था। इस प्रकार उस आदि युग का मानव प्रकृति के हाथों खेला था। उत्तरकालीन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि उस युग के मानव की आवश्यकताएँ अति सीमित थीं। उस समय भी पति-पत्नी होते थे, किन्तु उनका वह वैवाहिक सूत्र सामाजिक बन्धनों से असम्बद्ध था। जन्म से भाई-बहिन ही समय की परिपक्वता के अनुसार पति-पत्नी का रूप ले लेते, किन्तु उनको एक-दूसरे पर कोई उत्तर-दायित्व का बोध एवं भार नहीं होता था। एक-दूसरे से सहारा पाने की भावना उनमें नाम मात्र को भी नहीं होती थी। एक प्रकार से वह युग उत्तरदायित्व-हीन तथा सामाजिक एवं पारिवारिक सीमाओं से मुक्त एक स्वतन्त्र जीवन

था। कल्पवृक्षों के द्वारा तत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी, अतः किसी को भी उत्पादन-श्रम एवं उत्तरदायित्व की भावना से बांधा नहीं गया था, सभी अपने में मस्त एवं आनन्दित थे।

अकर्म भूमि के उस अकर्मण्यकाल में मनुष्य अनेक सागरों अर्थात् असंख्य वर्षों तक चलता रहा, मानव की पीढ़ियाँ-दर-पीढ़ियाँ बीत गईं, किन्तु फिर भी उस जाति का विकास नहीं हुआ। उनका जीवन क्रम उसी नपीतुली रेखा में परिबद्ध रहा। विकास का एक चरण भी वह नहीं बढ़ा सका। यद्यपि उनके जीवन में लालसाएँ और आकांक्षाएँ कम थीं, अतः संघर्ष भी कम थे। कषाय की परिणतियाँ कम थीं, पूरा जीवन सरलता एवं भद्रता से व्याप्त था। किन्तु ये सब गुण उनमें ज्ञानपूर्वक नहीं थे, तत्कालीन नैसर्गिक प्रकृति ही वैसी थी। उसकी प्रकृति ही शान्त एवं शीतल थी।

भौतिक दृष्टि से सुखी होते हुए भी उनके जीवन में ज्ञान एवं विवेक का अभाव था। वे केवल शरीर-निर्वाह के क्षुद्र घेरे में बन्द थे। आत्मोत्कर्ष के लिये संयम-विवेक एवं साधना का आदर्श उनके जीवन से कोसों दूर था।

संक्षेप में वह युग अतिवासना का युग नहीं, तो साधना का युग भी नहीं था। उस जीवन में पतन के द्वार नहीं थे किन्तु उत्थान के द्वार भी अवरुद्ध थे। जीवन की यह निर्माल्य दशा त्रिशंकु की तरह महत्त्वहीन ही मानी जाती है। यही कारण है कि उक्त अकर्म युग में कोई भी आत्मा मोक्षगामी नहीं बन सकती थी।

कालः पचति भूतानि, कालः संहरति प्रजा।
कालः सुप्तानि जार्गति, कालोहि दुरतिक्रमः॥

कालवादियों के इस सिद्धान्त के अनुसार, जिसे जैन दर्शन सापेक्ष सत्य मानता है, कालक्रम के प्रवाह में पदार्थों में नूतनता-पुरातनता का संचार होता है। यही स्थिति अकर्म भूमि की समाप्ति और कर्मभूमि के उदय का हेतु बनती है। धीरे-धीरे कल्पवृक्षों का युग समाप्त हुआ, क्योंकि कालस्थिति के अनुसार प्रकृति के उत्पादन क्षीण होने लगे और उपभोक्ताओं की संख्या बढ़ने लगी। जब आवश्यक उत्पादन कम होते हैं और उपभोक्ताओं की संख्या अधिक होती है, तो संघर्ष अनिवार्य है। यही स्थिति उस युग में भी बनी। पारस्परिक प्रेम एवं स्नेह टूटकर घृणा, द्वेष, कलह और द्वन्द्व बढ़ने लगे। संघर्ष की ज्वालाएँ झुलसने लगीं, चारों ओर हाहाकार मचने लगा, अभावों से पीड़ित जनता त्राहि-त्राहि करने लगी।

मानव जाति की उस संकटापन्न वेला में, संक्रमण की उन घड़ियों में, संकटहर्ता, जन-त्राता आदि तीर्थंकर प्रभु ऋषभदेव ने मानवीय भावना का

उद्‌बोधन दिया। तत्कालीन संत्रस्त मानव जाति के लिये उनके करुणापूर्ण स्वर थे कि अब हमें प्रकृति की परावलम्बनता से ऊपर उठना होगा। स्वयं के पुरुषार्थ के बिना इस दयनीय स्थिति से उपराम नहीं पाया जा सकेगा, अतः यह आवश्यक है कि अब अपने पैरों पर खड़ा हुआ जाये। प्रभु ने कहा अब युग बदल गया है। वह अकर्म-युग का मानव कर्म-युग (पुरुषार्थ युग) में प्रवेश कर रहा है। अभी तक पुरुष अपने हाथों का उपयोग भोग में, खाने में ही कर रहा था, अब उसे खाने के साथ कमाने-उपार्जन के पुरुषार्थ पर भी सन्नद्ध होना होगा। उसकी भुजाओं में ही वह शक्ति है, जिसके सम्यग् उपयोग से इस संक्लेश-मय स्थिति से मुक्ति पाकर आनन्द प्राप्त किया जा सकता है।

मानव-मानव के मन में व्याप्त निराशा, दौर्बल्य एवं दैन्य स्थिति के उस काल में प्रभु ऋषभदेव ने युग को एक नया मोड़ दिया। सम्पूर्ण मानव जाति को जो धीरे-धीरे अभाव ग्रस्त हो रही थी, प्रकृति की पराधीनता के फंदे में फंस कर अपनी स्वतन्त्र स्थिति को भुला बैठी थी, कर्म-उत्पादन का मंत्र दिया, श्रम और स्वतन्त्रता का मार्ग दिखाया और मानवीय चेतना फिर से सुख और समृद्धि के साथ आनन्द की सांस लेने लगी। जनजीवन अश्रम की पराधीनता से निकल कर श्रम की स्वतन्त्रता में जीने लगा।

भगवान् ऋषभदेव की उस अनन्त करुणा का प्रतिफल था कि मनुष्य अकर्मभूमि से कर्मभूमि में प्रविष्ट हुआ और उसके चारों ओर अपने ही श्रम से निष्पन्न भौतिक आनन्द की स्रोतस्विनी वहने लगी। प्रभु ने तत्कालीन परि-स्थितियों का अपने ज्ञान से अवलोकन किया और एक प्रजापालक नृपति के दायित्व के आधार पर मानव जाति को अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं के प्रति पूर्णरूपेण अपने आप पर निर्भर करने के लिये पुरुष को ७२ एवं नारी को ६४ कलाओं का अल्पारम्भ के रूप में मधुर संदेश दिया ताकि अपने अभावों की सम्पूर्ति के साथ जन-मानस अपने दायित्वों को भी भलीभांति समझ सके।

इस प्रकार उस नये युग का नया संदेश जन-जीवन में नई चेतना का आदर्श बन गया, सर्वत्र सुख-समृद्धि का उल्लास छा गया। अभी तक का मानव सामाजिक दायरों से अपरिचित था, अब उसमें सामष्टिक समूहगत व्यवहारों के प्रति सजगता फैलने लगी, इतना सब कुछ हो जाने पर जीवन के अध्यात्म पक्ष के बोध से जनता अभी भी अपरिचित थी। भौतिक उपादानों के उपार्जन एवं उपभोग के परिज्ञान तक ही उसका बोध सीमित था। इसके अतिरिक्त जीवन का कोई अविनाशी तत्त्व है और उसके विकास के प्रति सजग होना मानव-जीवन का अनिवार्य अंग है, इस विषय का परिबोध उन्हें सर्वथा नहीं था।

ऐसी स्थिति में प्रभु ऋषभदेव ने अध्यात्म का मधुर संदेश दिया। वस यहीं से भरत-क्षेत्र की अपेक्षा से निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति का उद्भव माना जा सकता है।

प्रभु ने अपने संदेश में गृहस्थावस्था में रहते हुए जीवन जीने की कला अर्थात् भौतिक विज्ञान से जीवन को सुख एवं शांतिमय बनाने का बोध देने के पश्चात् जीवन के दूसरे चरण में जन-मानस को अध्यात्म की ओर प्रेरित किया कि "जीवन का उद्देश्य केवल भौतिक समृद्धि ही नहीं है, अपितु जीवन का प्रथम लक्ष्य है, स्वरूप बोध। हम शारीरिक, पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों के संकुचित घेरे तक ही सीमित न रहें, जीवन की विराटता को समझ कर सभी आत्माओं के प्रति आत्मोपम्य की भावना का विस्तार करें। इसके लिये आवश्यक है कि पारिवारिक, सामाजिक सम्बन्धों के बीच एक-दूसरे की आत्मा को समझने का प्रयास हो। केवल शरीर और उसकी आवश्यकताओं को ही महत्त्व नहीं देकर आत्मिक पवित्रता के प्रति भी सजग बनें। शरीर-निर्वाह के लिये जितना किया जाना आवश्यक है, वह भी आसक्तिपूर्वक नहीं, कर्तव्य समझ कर किया जाय। शरीर एवं इन्द्रियों के साथ रहते हुए भी उनके दास नहीं, स्वामी बनकर रहा जाय, भोग के झूले में मस्त होकर योग की महत्ता को न भुला बैठें। भव्य गगन-चुम्बी अट्टालिकायें, ऊँचे सिंहासन एवं विशाल ऐश्वर्य के मध्य रहते हुए भी इनके गुलाम न बन जायें। जब भौतिक सम्पदा को ही सब कुछ मान लिया जाता है, तो विद्वेष एवं भटकाव बढ़ते हैं। धन एवं सत्ता मूर्तिमान शैतान हैं, जब ये सर पर चढ़ बैठते हैं तो इन्सान को भी शैतान बना देते हैं। अतः जीवन का लक्ष्य भोग नहीं, योग है।"

प्रभु ऋषभदेव के उपर्युक्त संदेश में निर्ग्रन्थ श्रमण-संस्कृति की अध्यात्म-वादी धारा के प्रमुख सूत्र हैं, जिन्हें प्रभु ने स्वयं जीवन में आत्मसात् करके दिखाया। वे संदेश केवल उपदेश मात्र नहीं थे। राजकीय वैभव, भव्य भवन तथा समस्त भौतिक सुखों को छोड़कर सर्व प्रथम वे स्वयं साधना पथ पर अग्रसर हुए। उनकी वह साधना तितिक्षा की दृष्टि से अत्यन्त कठोर साधना थी। साधना में प्रवेश का अर्थ है, भौतिक सुख-लिप्सा के प्रति निरीह बन जाना, अतः देहासक्ति को छोड़कर उन्होंने जंगलों में भ्रमण प्रारम्भ किया। अपने छद्मस्थ काल अर्थात् कैवल्य की उपलब्धि के पूर्व तक मौनव्रत स्वीकार किया ताकि सामान्य जन-मानस उनकी हर क्रिया से कुछ सीख ले सके।

तपःसाधना में गति करते हुए यदाकदा वे नगरों में भिक्षार्थ प्रवेश करते, तो श्रमण-मर्यादा से अपरिचित भावुक जनता यह सोचकर कि अन्नादि पदार्थों

के आविष्कर्ता महाप्रभु को भोजनादि सामान्य पदार्थ क्या समर्पित करें, हाथी-घोड़े एवं रथ सम्मुख करते और निवेदन करते कि आप जंगलों में भ्रमण करते हुए थक गये होंगे, अतः इन पर आसीन हो, हमें कृतार्थ करें।

प्रभु मौनपूर्वक शांतभाव से आगे बढ़ जाते पर एक सीख दे जाते कि निर्ग्रन्थ श्रमण को इन साधनों की आवश्यकता नहीं होती। अगर ये इनका उपयोग करते, तो जंगलों में क्यों जाते ?

इसी प्रकार बहुमूल्य आभूषण आदि पदार्थों के परित्याग से अपरिग्रह का तथा अपनी हर क्रियान्विति से किसी भी चेतना को संक्लेश नहीं पहुँचाने से अहिंसा का मूर्त उपदेश अपने जीवन के आचरणों द्वारा ही प्रस्तुत कर देते। बस यही निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति का आधार-स्तंभ है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान युगीन निर्ग्रन्थ श्रमण-संस्कृति का मूल उद्गम आज से असंख्य वर्ष पूर्व इतिहास की पहुँच से परे, ऋषभदेव द्वारा हुआ और उत्तरवर्ती तीर्थंकरों ने उसे समय-समय पर संबल प्रदान कर अद्यावधि तक अक्षुण्ण बनाए रखा।

चूँकि, यह प्रतिपादन प्रागैतिहासिक है, अतः सहसा आज के वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर ही जीनेवाला जन-मानस इस पर विश्वास नहीं कर पायेगा। किन्तु ऐतिहासिक युग-पुरुष तीर्थंकर महावीर के युग की जो विरासत हमें मिली है, उससे तथा कुछ वेदकालीन सांस्कृतिक संकेतों के माध्यम से, आनुमानिक तौर पर उस युग की साँस्कृतिक चेतना का साक्षात्कार किया जा सकता है।

प्रश्न के पूर्वार्ध की सामान्य विवेचना में निर्ग्रन्थ श्रमण-संस्कृति के उद्भव के काल-संबंधी विवेचन के पश्चात् वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उसके साँस्कृतिक मूल्यों पर प्रकाश डालने का आग्रह है, जिसे संक्षेप में समाहित करने का प्रयास है।

प्रश्न के पूर्वार्ध के उत्तर में बताया जा चुका है कि निर्गन्थ श्रमण-संस्कृति का उद्भव तत्कालीन अराजकता के परिष्कार, अभावग्रस्त हिंसक वृत्तियों से संत्रस्त मानव समुदाय के परित्राण एवं आत्मिक आनन्द की उपलब्धि हेतु हुआ था, जिसके मूल में अहिंसा के स्वर रहे हुए हैं।

इतने विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि निर्ग्रंथ श्रमण-संस्कृति की साँस्कृतिक विरासत में अहिंसा सिद्धान्त का मूल्य सर्वाधिक है, अथवा यों कहें, निर्ग्रन्थ श्रमण-संस्कृति अहिंसा-दर्शन का ही अपर पर्याय है, और अहिंसा का साँस्कृतिक मूल्य प्रत्येक युग में अपना समान महत्त्व रखता है। हाँ, जब कभी हिंसा की पैशाचिक बर्बरता बढ़ जाती है, मानव-मानव संत्रस्त एवं भयाक्रान्त

हो उठता है, उस समय अहिंसा-दर्शन की महत्ता उपयोग की दिशा में कुछ बढ़ जाती है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में निर्ग्रन्थ श्रमण-संस्कृति किंवा अहिंसा-दर्शन की उपयोगिता सर्व विदित है।

आज का युग लोकतंत्र का युग है, कोई भी इन्सान अपने पर किसी के शासन तन्त्र को स्वीकारना नहीं चाहता। पर ऐसा क्यों है? इसलिये कि प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वतन्त्र अस्तित्व चाहता है, उसे गुलामी एवं असमानता से सख्त नफरत है। यह समानता ही लोकतंत्रात्मक शासन प्रणाली का आधार है। प्रजातन्त्र का अर्थ ही है प्रजा के द्वारा, प्रजा के लिये, प्रजा का शासन, जिसमें सभी व्यक्ति अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का बोध कर पाते हैं। जहाँ भय, आतंक, घृणा और वैर समाप्त हो जाते हैं, सभी में समानता का बोध जागृत होता है, और चारों ओर प्रेम, करुणा, दया, ममता एवं स्नेह की वर्षा होने लगती है।

बस, यही मधुर अध्यात्म आत्मतंत्र का संदेश देती है निर्ग्रन्थ श्रमण-संस्कृति, जिसे हम अहिंसा, अनेकान्त एवं आत्म-परिष्कार के नाम से पुकारते हैं, और आधुनिक परिप्रेक्ष्य में जिसकी सर्वाधिक उपयोगिता है।

वर्तमान युगीन जन-चेतना पर दृष्टिपात करें, तो परिलक्षित होता है कि चारों तरफ अभावों की आग धू-धू करके जल रही है। इन्सान चाहे दिन हो या रात, शरीर कँपा देने वाला शीत हो या देह झुलसा देने वाली गर्मी, हमेशा कहीं पत्थर फोड़ रहा है, कहीं लोहा पीट रहा है, कहीं खेत खोद रहा है, तो कहीं कारखाने की चारदीवारी में पसीना बहा रहा है। और यह सब प्रयास उन सब अभावों की आग को शान्त करने के लिये हो रहे हैं। पर इन उपायों के जो परिणाम हैं, वे सब हमारे सामने स्पष्ट हैं।

"पारस्परिक मनोमालिन्य, अनैतिक जीवन का ताण्डव नृत्य, हिंसा की बर्बरता, आक्रान्ताओं की पैशाचिकता, एक ओर साधनहीन व्यक्तियों का शोषण और दूसरी ओर साधनों का भयंकर अपव्यय एवं दुरुपयोग। इन सभी कारणों से असमानता-जनित अशांति एवं अराजकता का साम्राज्य अठखेलियाँ कर रहा है।"

इस भयंकर संत्रासपूर्ण वातावरण में अगर परित्राण का मार्ग कहीं उपलब्ध हो सकता है, तो वह अहिंसामूलक निर्ग्रंथ श्रमण-संस्कृति की पुनीत छाया में ही।

क्या लौकिक और क्या लोकोत्तर, दोनों ही प्रकार के मंगल-जीवन की आधार-शिला भगवती अहिंसा ही है। अहिंसा मानवीय चिन्तन की उच्च

भूमिकाओं का सर्वोच्च विन्दु है। व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज, समाज से राष्ट्र और राष्ट्र से विश्व-बन्धुत्व का जो विकास हुआ है अथवा यत्किंचित् हो रहा है, उसके मूल में अहिंसा-सिद्धान्त की पवित्र भावना काम कर रही है। मानव सभ्यता के उच्चतम आदर्शों का सही सही मूल्यांकन अहिंसा के रूप में ही किया जा सकता है। हिंसा, विनाश, अधिकार-लिप्सा, असहिष्णुता, स्वार्थान्धता के विष से उत्पीड़ित संसार में अहिंसा ही सर्व-श्रेष्ठ अमृतमय विश्राम-भूमि है, जहाँ पहुँचकर मनुष्य शान्ति को साँस लेता है। स्व-पर को समान धरातल पर देखने के लिये अहिंसा की निर्मल आँख का होना नितान्त आवश्यक है।

संसार के समस्त धर्मों ने किसी-न-किसी रूप में अहिंसा-दर्शन को स्वीकार किया है, किन्तु निर्ग्रन्थ श्रमण-संस्कृति का तो यह प्राण ही है। निर्ग्रन्थ संस्कृति और अहिंसा-दर्शन एक दूसरे के पर्याय माने जा सकते हैं।

'प्रश्न व्याकरण' सूत्र के अनुसार निर्ग्रन्थ श्रमण-संस्कृति के प्रवचन का उद्देश्य ही अहिंसा-दर्शन का प्रतिपादन है।

"सव्व जग जीव रक्खण दयट्ठायाए
पावयणं भगवया सुकहियं।"

इस उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्पष्ट कहा जा सकता है कि आज हाइड्रोजन, उद्जन एवं न्यूट्रान वमों के विनाशकारी युग में भ्रातृत्व-भाव, विश्व-वात्सल्य, समता-दृष्टि, आत्मोत्कर्ष एवं परम शान्ति का मधुर संदेश देने वाली निर्ग्रन्थ श्रमण-संस्कृति के साँस्कृतिक मूल्य कितने गहरे हैं और वर्तमान परिप्रेक्ष्य में वे अपना दार्शनिक जगत् में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि निर्ग्रन्थ श्रमण-संस्कृति का संदेश न किसी युग-विशेष के लिये है और न किसी सम्प्रदाय विशेष के लिये, अपितु यह संदेश युग-युगीन संदेश है, जो जन-जीवन, आत्मा-परमात्मा, आदि के प्रति चिरन्तन सार्वकालिक साँस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करता है।

यद्यपि कालप्रवाह के कारण इसकी बाह्य पथ-दिशा में पात्र की योग्यतानुसार साधना में अभिरुचि की न्यूनाधिकता का वर्गीकरण मुख्य-गौण भाव से दृष्टिगोचर होता है, और सामयिक परिवर्तन अथवा मोड़ आते रहते हैं, तथापि इसकी आत्मा, इसकी अन्तरंग जलराशि में कभी परिवर्तन नहीं आता। वह तो युगोंयुगों से पिपासार्त प्राणियों की पिपासा को शान्त करने वाली चिरन्तन शाश्वत धारा है, जिसके द्वारा मानव-जगत् ही नहीं, सम्पूर्ण प्राणि वर्ग, पथ का आलोक प्राप्त कर, चिरशान्ति की साँस ले सकता है।

प्रश्न—२

जैन दर्शन की साधना पद्धति में ध्यान-योग के स्वरूप, महत्त्व एवं उपयोगिता पर कुछ विस्तृत विवेचन करने का अनुग्रह करें।

उत्तर

स्वरूप :—साधना-पद्धति में, चाहे वह जैन-दर्शन की हो अथवा अन्य किसी दर्शन की, ध्यान अनिवार्य अंग है। बिना ध्यान के साधना ही नहीं, संसार के किसी भी कार्य में सफलता अर्जित नहीं की जा सकती है। अतः साधना और ध्यान का अविनाभावी सम्बन्ध है। उसमें जैन-दर्शन की साधना तो ध्यान से ही अनुप्राणित है। या यों कहें, वह ध्यान की साधना है। भगवान् महावीर एवं उनके साधक-जीवन पर दृष्टिपात करें, तो ज्ञात होगा कि उन्होंने तथा उनके साधकों ने महीनों ध्यान-योग की साधना में बिताए थे। चूँकि, ध्यान शब्द अभिव्यन्जना का नहीं, अनुभूति का विषय है, अतः उसे परिभाषित करना अथवा उसके स्वरूप का कथन कर पाना उतना ही कठिन है, जितना कि एक जन्मान्ध व्यक्ति को किसी रंग-रूप अथवा प्रकाश का साक्षात्कार कराना। जन्मान्ध व्यक्ति, जिसने कभी किसी भी वस्तु के रूप का अवलोकन नहीं किया हो, उसे हम लाख प्रयास करके भी प्रकाश तो क्या अन्धकार का भी बोध नहीं करा सकते कि "प्रकाश ऐसा होता है।" ठीक उसी प्रकार अनुभूति के अभाव में "ध्यान" शब्द को स्वरूप की दृष्टि से व्याख्यायित नहीं किया जा सकता है तथापि अनेकानेक ऋषि-महर्षियों एवं पूर्वाचार्यों ने ध्यान को विविध रूपों एवं आयामों में व्याख्यायित किया है। बस, इसी दिशा में यहाँ पर भी वही सामान्य प्रयास है।

"ध्यान" का सामान्य अर्थ होता है विचारों का केन्द्रीकरण, विविध दिग्गामी विचार-प्रवाह को एक व्यवस्थित दिशा प्रदान करना। विशेष अर्थों में "ध्यान" प्रत्येक जीवन-चेतना की अवश्यम्भावी वृत्ति है। जहाँ जीवन है, वहाँ भला-बुरा चिन्तन अवश्यम्भावी है और जहाँ भले-बुरे का चिन्तन है, वहाँ ध्यान सहज घटित होता है। इस प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षण में ध्यान की धारा दिशा-परिवर्तन के साथ निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। कभी उसमें सक्रियता बढ़ जाती है, तो कभी घट जाती है, किन्तु चिन्तन-धारा को ही "ध्यान" संज्ञा दी जाती है। चिन्तन की उस धारा की प्रमुख दो ही दिशाएँ हैं—एक निम्न, दूसरी ऊर्ध्व। निम्नगामी विचार-प्रवाह की भी दो धाराएँ हैं—एक तो अत्यन्त निकृष्टता की ओर ले जाती है, दुर्गति में पहुंचाती है। उसको अप्रशस्त एवं अशुभ कहा जाता है। दूसरी आत्मिक संपरिपूर्णता की अपेक्षा से तो न्यून कही जा सकती है, किन्तु आत्मिक परिपूर्णता में सहायक होने से तथा लोक-परलोक-संबंधी भौतिक उपलब्धियों का कारण होने से प्रशस्त। उस सर्व

आपेक्षिक अथवा ऊर्ध्वगामी को अशुभ और ऊर्ध्वमुखी विचार-प्रवाह को शुभ ध्यान कहा जाता है और जो विचार-प्रवाह केवल ऊर्ध्वगामी हो, उसे शुभ ध्यान कहा जाता है। विचारों की अशुभता के सामान्य परिणाम भयंकर, क्रूरतापूर्ण होते हैं। अशुभता चेतना को उसके मूल स्वभाव से निकृष्ट स्थिति में भटकाने का कार्य करती है।

निम्नगामी विचार-प्रवाह की अपेक्षा प्रशस्तता जो शुभी भी कहलाती है भौतिक उपादानों की समुपलब्धि में कुछ सहयोग कारण है। परलोक सम्बन्धी समृद्धि एवं आत्मिक संपरिपूर्णता में यह ध्यान भी साधारण निमित्त वनता है। किन्तु संपरिपूर्ण अध्यात्म-साधक के लिये, जो लोक-परलोक की भावना से ऊपर उठ जाता है, यह ध्यान अनावश्यक हो जाता है।

जब जीवन के चरम विकास का लक्ष्य निर्धारित हो जाता है और तदनुरूप स्वरूप-उपलब्धि की दिशा में स्थायी शान्ति की प्राप्ति हेतु विचार प्रवाह चलता है, तो वह शुभ ध्यान की कोटि में आता है। इस ध्यान-प्रवाह में भी प्रारंभ में प्रशस्त संकल्पों एवं विचारों की बहुलता रहती है, किन्तु जब चरम-विकास की दृढ़ता वृद्धिगत होती जाती है, तब प्रशस्त संकल्पनात्मक भावनाओं की क्रमशः अल्पता एवं अनुभूतिमूलक आत्मिक ज्योति की प्रबलता एवं प्रचुरता बढ़ जाती है। जैसे-जैसे आत्मिक अनुभूति का आलोक स्पष्ट होता है, वैसे-वैसे आत्मीय चेतना की अमरता एवं दिव्य शक्तिमत्ता का बोध जागृत होता है। समग्र विश्व के प्रति सहज उपेक्षा-भाव के साथ स्वरूप उपलब्धि की सक्रियता बढ़ती है। विनश्वर पदार्थों की उपेक्षा के साथ जीवन को विमुक्त करने से सम्यग् बोध होता है।

ध्यान की इस प्रारम्भिक भूमिका का स्पर्श होने के पश्चात् ध्यान की गहराई में प्रवेश पाने हेतु विभिन्न विधियों का अवलम्बन लिया जाता है। प्रारम्भ में अध्यात्मोन्मुख ध्यान-धारा में अवगाहन के लिये आदर्श जीवन के विघातक अलीक प्रवंचन, आसक्ति, मोह, भावनिद्रा, आदि दुर्विचार रूप शत्रुओं को सत्य, सरलता, अनासक्ति, निर्ममत्व एवं समतारूप भावों के द्वारा परास्त करना होता है तथा इन्हीं प्रशस्त भावों के द्वारा आत्म-जागृति की साधना की जाती है।

जैसे बड़े नगरों की अत्यन्त दुर्गन्धपूर्ण नाली के पानी में अवगाहन करने वाला व्यक्ति, अपने बहुमूल्य वस्त्रों के साथ ही उत्तम स्वास्थ्य से भी वंचित रहता है, वैसे ही अलीक आदि मलिन विचारों के प्रवाह में डुबकियाँ लगाता हुआ इन्सान प्रशस्त ध्यान की अमूल्य साधना रूप स्वास्थ्य को संपादित नहीं कर पाता है। अतः ध्यान-साधना के जिज्ञासुओं के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि पहले अपने वर्तमान जीवन में प्रवहमान अन्ध श्रद्धाओं, मलिन विचारों

एवं असत् आचारों में संशोधन-परिवर्तन करें। इसके बिना पुनीत आध्यात्मिक मार्ग पर गति असम्भव है।

अशुद्ध श्रद्धा एवं मलिन विचारों के परित्याग का अर्थ श्रद्धा एवं विचारों की मूल शक्ति के त्याग से नहीं, अपितु उनके संशोधन से है। सागर का क्षार आदि का जीवन-नाशक तत्त्वों के घोल-युक्त पानी को संशोधित (फिल्टर) कर जीवनी-शक्तिदायी रूप में परिवर्तित करने के समान विचारों में संशोधन किया जाता है। यह विचार-शुद्धि का मार्ग है; विचार-शून्यता का नहीं।

ध्यान-साधना की भूमिका का दूसरा चरण है, जीवन व्यवहार का सम्यक् अवलोकन। अनायास उठनेवाली विचार-तरंग का अवलोकन करते हुए उसके गूढ़ रहस्यों का विश्लेषण करना तथा उनके सम्यक् वर्गीकरण एवं फलाफल अथवा हिताहित का निर्णय करना होता है। शुद्ध एवं हितप्रद विचारों को, जो शाश्वत परम शान्ति के हेतु हैं, दृढ़तर बनाना तथा अन्य विचार-तरंगों को भी उसी दिशा में मोड़ने का प्रयत्न करना साधना के इस बिन्दु की आवश्यकता है। विचारों के अनुरूप ही आचरण के सोपानों पर बढ़ते जाना भी ध्यान-साधक के लिये आवश्यक होता है।

बाह्य दृश्य पदार्थों को देखने, सुनने, आदि के द्वारा जो व्यवहार बनता है, उस पर स्वीकृत निर्णय के अनुसार सजग रहने का अभ्यास भी ध्यान-साधक के लिए अपेक्षित होता है।

जीवन के व्यावहारिक क्रिया-कलापों में समुचित परिवर्तन के साथ ही साधना के अन्तरंग रूप के परिष्कार पर बल दिया जाना चाहिये। ध्येय के स्वरूप की गरिमा को समझकर उसके साथ स्वरूप का तुलनात्मक अंकन करने के लिये आवश्यक है कि अपनी आन्तरिक वृत्तियों का सूक्ष्म दृष्ट्या अवलोकन किया जाये।

बिखरी हुई मानसिक वृत्तियों को सम्यक् निर्णीत ध्येय-बिन्दु पर केन्द्रित करने के लिये प्रारंभ में विधिपूर्वक श्वास-प्रश्वास-प्रक्रिया का अवलम्बन भी लिया जा सकता है। श्वासानुसन्धान पर अभ्यास के स्थिर होने पर प्राण-केन्द्रों, उनके क्रिया-कलापों और व्यवहारों को ठीक समझने का प्रयास किया जाय। तदनन्तर विचार-प्रवाह के संशोधित रूप से जाज्वल्यमान्, उज्ज्वल प्रशान्त स्वरूप का साक्षात्कार करते हुए अन्त में आपेक्षिक निराकार ध्येय की उपलब्धि का प्रयत्न प्रारंभ होता है।

इस प्रकार क्रमिक संशुद्धि-प्रक्रिया के द्वारा आत्म स्वरूप के साक्षात्कार के सोपानों पर यथाशक्ति आरोहण को सहजिक प्रक्रियाओं के साथ वरण करना

ही ध्यान की प्रारम्भिक भूमिका के रूप में अंकित किया जाता है। यह ध्यान का प्रारम्भिक रूप भी माना जाता है।

आधुनिक युग में विभिन्न-ध्यान-साधकों ने अपने-अपने प्रयोग पर ध्यान-योग को व्याख्यायित किया है। हठयोग, कर्मयोग, राजयोग, ज्ञानयोग, लययोग, शब्दयोग आदि उसी के रूप माने जा रहे हैं। इसी प्रकार इसकी षड्चक्र-भेदन, कुण्डलिनी–जागरण, सुषुम्ना-संबोधन, खेचरी मुद्रा, आदि प्रायोगिक विधियाँ काफी प्रचलित हुई हैं, किन्तु वे अधिकांशतः वैयक्तिक प्रयोग पर ही आधारित हैं। यह आवश्यक नहीं कि एक व्यक्ति की प्रयोग-विधि किसी अन्य के लिये भी सार्थक हो जाए। अतः प्रचलित-प्रणालियों में बहुत कुछ संशोधन, परिवर्तन एवं परिवर्धन अपेक्षित है।

यद्यपि इन प्रयोग-विधियों में कुछ प्राचीन ग्रन्थों का आधार भी लिया जाता है, किन्तु ग्रन्थों में जो कुछ विवेचन उपलब्ध होता है, वह बीज अथवा ताले के रूप में ही है, जिसकी कुंजी (चाबी) अनुभवी साधकों के पास ही रह जाती है। अतः जैसे विधिवत् कुंजी के अभाव में ताला नहीं खुल सकता है, उसी प्रकार अनुभवी साधक गुरु के अभाव में ध्यान-साधना भी अभीष्ट फल-दायिनी नहीं सिद्ध हो पाती है।

ध्यान-साधना की इसी दुरूहता के कारण जैन दर्शन में हठयोग, राजयोग, आदि को अधिक महत्त्व न देकर सहजयोग को महत्त्व दिया गया है। आज ध्यान-साधना की क्लिष्टताओं का मुख्य कारण भी यही है कि अधिकांश साधक सहज योग की साधना से अनभिज्ञ हैं, जबकि सहजयोग ही विशिष्ट योग है और वही ध्यान-साधना की मूलभित्ति है। जैन दर्शन के व्याख्याता एवं अनुसर्ता भी अधिकांशतः ध्यान-विवेचना में हठयोग, आदि के प्रसंगोपात वर्णन को ही प्रमुखता देकर मौलिक सहजयोग से प्रायः तटस्थ बनते जा रहे हैं। फलस्वरूप ध्यान, जो जीवन-विकास का परम पवित्र, अमोघ साधन है, पल्लवित-पुष्पित नहीं हो पा रहा है।

आधुनिक ध्यान-साहित्य के अवलोकन से कभी-कभी लगता है कि कुछ व्यक्ति अपनी क्षुद्र प्रतिष्ठा की प्यास को शान्त करने के लिये ध्यान जैसी पवित्र क्रिया का दुरुपयोग कर रहे हैं और सामान्य जनता को दिग्भ्रमित कर अपनी स्वार्थपूर्ति कर रहे हैं।

सहजयोग की ध्यान-साधना साधक को इन सभी छलनापूर्ण वृत्तियों से बचाकर सहज जीवन की ओर गतिशील करती है। वास्तव में ध्यान की विभिन्न पद्धतियों में सहजयोग का जो महत्त्व है, वह अलौकिक है और उसी के द्वारा व्यक्ति स्वप्रतिष्ठित होकर परम सत्य एवं शाश्वत शांति को उपलब्ध हो सकता

है। यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतिभासित हो सकता है, किन्तु अनुभूति का आलोक इन शब्दों की सत्यता को प्रमाणित कर सकता है।

महत्त्व—जैन दर्शन से उपदर्शित ध्यान-योग किंवा सहजयोग का कितना महत्त्व है, यह तो अनुभूति का विषय है। अतः सम्यक् ध्यान-साधक ही उसकी अनुभूति का रसास्वादन कर सकता है। किन्तु यह ध्रुव सत्य है कि आज के भौतिक जगत् में विज्ञान के क्षेत्र में अग्नि, विद्युत, भाप, गैस, तेल, अणु-विस्फोटक लैसर, आदि का जितना महत्त्व है, उससे सहस्राधिक महत्त्व (साधना के क्षेत्र में) ध्यान का है।

हठयोग, कर्मयोग, आदि अन्यान्य साधना-पद्धतियों में एकान्तिक आग्रह-मूलक दृष्टि का प्राधान्य होने से, विकृति एवं विक्षिप्तता की अधिक संभावनाएँ रहती हैं, जबकि सहजयोग इन सभी विकृतियों से अलग हटकर अपना महत्त्व स्थापित करता है।

जैनागमों में सहजयोग की मौलिक प्रक्रियाओं का आध्यात्मिक अनु-संधानपूर्वक वैज्ञानिक विवेचन वटवृक्ष की शाखाओं की भाँति बहुआयामी विस्तार में उपलब्ध होता है।

सांकेतिक रूप से ध्यान का वर्गीकरण आगम की भाषा में यों हुआ है—

"चउविहे झाणे पण्णते तंजहा—अट्ठ झाणे, रुद्दे झाणे, धम्मे-झाणे, सुक्के झाणे।" (स्थानांग सूत्र—४) आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म ध्यान, और शुक्लध्यान। इन चारों ध्यानों के स्वरूप एवं भेद-प्रभेदों का विस्तृत विवेचन उत्तरवर्ती साहित्य में उपलब्ध होता है, जो जैन-दर्शन कथित ध्यान की महत्ता पर गहरा प्रकाश डालता है।

आवश्यकता है नितनूतन आविष्कर्ता वैज्ञानिकों की भाँति अन्तरंग खोज के प्रति संपूर्ण समर्पणा की। जैसे भौतिकी अनुसंधानों में अनुरक्त वैज्ञानिक अपनी शारीरिक एवं पारिवारिक दृष्टि तक के प्रति अनासक्त बनकर केवल आविष्कर-णीय तत्त्व के प्रति ही तन्मय हो जाता है, ठीक उसी प्रकार ध्यान-साधक के लिये भी आवश्यक है कि वह केवल ध्यान की शब्दात्मक एवं भेदात्मक विवेचना तक ही अटक कर नहीं रह जाये, अपितु ध्यान में ध्येय के प्रति संपूर्ण रूप से समर्पित हो जाये। सर्वतोभावेन समर्पणा के आधार पर ही ध्यान के अनुभूति-मूलक महत्त्व को हृदयंगम किया जा सकता है।

उपयोगिता—शरीर-निर्वाह के लिये शुद्ध अन्न, जल एवं वायु (ऑक्सीजन) की जो उपयोगिता है, वही उपयोगिता अध्यात्म के लिये ध्यान की है।

कहा जा चुका है कि ध्यान की मुख्य दिशाएँ दो हैं—शुभ और अशुभ। जिस प्रकार दूषित अन्न, जल एवं वायु व्याधि एवं दुःख के कारण बन जाते हैं, उसी प्रकार दुर्ध्यान एवं दुश्चिन्तन आत्मिक शांति के क्षेत्र में व्याधि, शोक, संक्लेश आदि के निमित्त बन जाते हैं। जैसे शुद्ध वायु आदि आवश्यक जीवनोपयोगी तत्त्वों के अभाव में शारीरिक ऊर्जा को क्षति पहुँचती है अथवा ऊर्जा क्षीण हो जाती है। उसी प्रकार प्रशस्त ध्यान किंवा पवित्र विचारों के अभाव में चेतनागत ऊर्जा अथवा भाव प्राण की शक्ति क्षीण होती चली जाती है। अतः पवित्र विचारयुक्त ध्यान प्रारंभिक ध्यान-साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है।

चिन्तन की पवित्र धारा जीवनगत राग-द्वेषात्मक कूड़े-करकट को ध्वस्त करती है। फलस्वरूप जीवन में नैतिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक जागरण होता है, जो जीवन निर्माण में पाथेय का कार्य करता है।

चिन्तन की वही पवित्र धारा जिसे हमने ध्यान की संज्ञा दी है आगे विकासोन्मुख होती हुई सागर की अतुल गहराई में रूपान्तरित हो जाती है, जहाँ ध्याता और ध्येय एकाकार बन जाते हैं, साधक साध्य में रूपान्तरित हो जाता है।

इस प्रकार संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि ध्यान के मौलिक स्वरूप, महत्त्व एवं उसकी उपयोगिता को आधुनिक ध्यान-साधक ठीक से हृदयंगम कर अनुभूति के प्रकाश का वरण करें तो ध्यान साधना में आशातीत सफलता मिल सकती है।

प्रश्न—३

धर्म और विज्ञान परस्पर विरोधी हैं या पूरक ?

उत्तर

चूँकि प्रश्न युगसापेक्ष है, अतः उत्तर में सापेक्षता होनी सहज है। वैसे जैन दर्शन अनेकान्त दर्शन है, अतः वैज्ञानिक विश्लेषण भी अनेकान्त दर्शन के आधार पर धर्म का विरोधी अथवा पूरक हो सकता है।

अगर विज्ञान की शाब्दिक व्याख्या की जाये, तो वह होगी "विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानम्" अर्थात् विशेष ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से विज्ञान धर्म का विरोधी नहीं हो सकता है, क्योंकि ज्ञान आत्मा का मौलिक धर्म है और विशेष ज्ञान-आत्म-परिष्कार का ही कारण बनता है, किन्तु विज्ञान शब्द का आज जो भौतिक आविष्कारों के लिए रूढ़ अर्थ में प्रयोग हो

रहा है, उस विज्ञान शब्द से धर्म का सम्बन्ध उसके प्रयोग की दिशा के आधार पर पूरक अथवा विरोधी दोनों अर्थों में हो सकता है।

धर्म की मौलिक परिभाषा है—आत्म-स्वरूप में लीनता। जैनागमों में "वत्थुसहावो धम्मो" के अनुसार वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा गया है, किन्तु यहाँ हम जिस धर्म के सम्बन्ध में विचार कर रहे हैं, वह है शुद्ध चैतन्य का स्वरूप-रमण रूप स्वभाव अर्थात् परम चेतना का आत्म-भाव। शुद्ध चैतन्य इस दृष्टि से कि संसारगत कर्मयुक्त चेतना को सापेक्ष दृष्टि से रूपी भी माना गया है। रूपी का धर्म आत्मा का शुद्ध स्वभाव नहीं बन सकता है। अस्तु, धर्म से तात्पर्य है—राग, द्वेष, मोह, ममत्व आदि दुष्प्रवृत्तियों से रहित आत्मा का मूल स्वभाव।

इसके विपरीत आज के रूढ़ अर्थ वाला विज्ञान आत्म धर्म को गौण कर भौतिक ऊर्जा के विकास-परिष्कार से अधिक सम्बन्धित है, अतः दोनों का कोई मौलिक सम्वन्ध स्थापित करना समन्वय की अति होगी तथापि विज्ञान को उसके उपयोग के आधार पर धर्म की बाह्य परिधि में अथवा आत्म-कल्याण सम्पादन में सहयोगी माना जा सकता है, वशर्ते कि उस भौतिक विकास का उपयोग जनकल्याण, जनशांति एवं चेतना के परम विकास के लिये हो।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, आदि सिद्धान्त धर्म के मूर्त्त रूप हैं। विज्ञान यदि इन सिद्धान्तों की सुरक्षा का कवच बनता है और सम्पूर्ण मानव समाज के संत्रास को समाप्त करने का कार्य करता है तो वह निश्चित धर्म किंवा जीवनोत्थान के मार्ग में पूरक बनकर उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

तात्पर्य यह है कि मात्र विज्ञान अपने आप में धर्म का न पूरक हो सकता है, न विरोधी। उसका प्रयोगकर्त्ता ही उसमें पूरकता अथवा विरोध का समारोप करता है। कलम सत्य-लेखन में प्रयुक्त हो सकती है और असत्य-लेखन में भी। सौ रुपये का उपयोग किसी अपंग को सहयोग देकर भी किया जा सकता है और शराब पीकर पागल बनने में भी। वास्तव में पदार्थ अथवा साधन अपने आप में न बुरे होते हैं न अच्छे। उसका प्रयोग करने वाला जिस दिशा में चाहे, उनका उपयोग कर सकता है।

ठीक यही स्थिति वैज्ञानिक अनुसंधानों की है। वर्तमान विज्ञान ने भौतिक साधनों के विकास में आशातीत सफलता अर्जित की है, इसलिए वर्तमान युग का अपर नाम ही वैज्ञानिक युग बन गया है। मानव-जीवन को सुखी और समृद्ध बनाने हेतु विज्ञान ने अनेकानेक भौतिक सुविधाएँ उपस्थित की हैं, इसमें दो मत नहीं हो सकते।

वैज्ञानिक गवेषणाओं के द्वारा शल्य-चिकित्सा का जो विकास हुआ है, उसमें मरणासन्न व्यक्ति का उपचार हो सकता है और उसकी रक्षात्मक प्रक्रिया के द्वारा अहिंसा को पुष्ट किया जा सकता है। यातायात एवं समाचार-संचार के साधनों द्वारा दुर्भिक्ष से पीड़ित क्षेत्रों में आवश्यक साधन-सामग्री पहुँचाकर हजारों प्राणियों के प्राण बचाये जा सकते हैं। इसी प्रकार विज्ञान की अन्य अनेक सृजनात्मक उपलब्धियों पर सन्तोष व्यक्त किया जा सकता है और उन्हें धर्म में पूरक माना जा सकता है।

शक्ति (ऊर्जा) पर जब तक विवेक और नीति का नियन्त्रण रहे, तभी तक उसकी उपयोगिता है। दुष्टता के साथ उसकी दुरभिसंधि जुड़ जाने पर विकास एवं जन-कल्याण के स्थान पर विनाश एवं संहार के दुष्परिणाम ही उपस्थित होंगे।

आज के वैज्ञानिक विकास को देखकर सामान्य जनमानस एक ओर प्रसन्नता से झूमता दिखाई देता है, तो दूसरी ओर इसके सम्भावित दुष्प्रयोग की विभीषिका से चिन्ताग्रस्त भी दिखता है।

क्षुद्र स्वार्थी मनुष्यों ने विशेषकर सत्ता-लोलुप राजनीतिज्ञों ने वैज्ञानिक आविष्कारों का भयंकर अणु-आयुधों के रूप में, जो दुरुपयोग किया है, वह निश्चित ही जन-साधारण में विज्ञान के प्रति घृणा का कारण बन गया है। हिरोशिमा और नागासाकी पर बम वर्षा से विनाश का जो ताण्डव नृत्य हुआ है, वह विज्ञान के प्रति सहज भयाक्रान्तता का भाव पैदा कर देता है। निकट भविष्य में हुए वियतनाम-युद्ध में वैज्ञानिक अस्त्रों का जो दुरुपयोग हुआ और उसके द्वारा लाखों निरपराध प्राणी स्वाहा हो गये, यह किसी से छिपा नहीं है।

विज्ञान का सहारा पाकर मानव दैत्य बनता जा रहा है। घातक अस्त्रों के निर्माण ने मानवी संस्कृति को, जिसे विकसित होने में लाखों वर्ष लगे, विनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है। अपनी सामान्य-सी सत्ता-लिप्सा के कारण, वैज्ञानिक साधनों का नर-संहार के रूप में जो उपयोग हो रहा है, वह धर्म का पूरक नहीं, घातक ही कहा जा सकता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि इस विध्वंसनात्मक स्थिति में विज्ञान को दोषी मानकर क्या हेय मान लेना चाहिए ? इसका छोटा-सा उत्तर होगा एकान्त रूप से ऐसा नहीं माना जा सकता है। प्रश्न हो सकता है कि भौतिक विज्ञान जो कि आंशिक सत्य की खोज है, वह हेय अथवा सर्वथा बुरा कैसे हो सकता है ? बुरा तो वह इंसान है, जो अपने निहित स्वार्थ के लिए विज्ञान का दुरुपयोग करता है। आपरेशन के चाकू से यदि रक्षात्मक भावना से आपरेशन किया जा रहा है,

तो वह उस चाकू का सदुपयोग होगा और उसी से स्वार्थवश किसी का गला काटा जाय तो वह उसका दुरुपयोग होगा। इसमें चाकू को दोषी कैसे कहा जा सकता है ? दोषी तो उसका उपयोगकर्त्ता है।

जिन लेजर किरणों के रचनात्मक उपयोग से कैंसर जैसे दु:साध्य रोगों पर नियन्त्रण पाया जा सकता है, आँख की पुतली या किसी कोने में ट्यूमर आदि हो जाने पर एक सैकण्ड में हजारवें भाग में आपरेशन द्वारा रोगी को रोग-मुक्त किया जा सकता है, उन्हीं लेजर किरणों के विध्वंसक उपयोग द्वारा महाविनाश की लीला प्रस्तुत की जा सकती है। वैज्ञानिकों के अनुसार लेजर किरणों का युद्ध अणुयुद्धों से सस्ता पड़ेगा और पलक झपकते ही अभीष्ट क्षेत्र के सैनिक और नागरिक ही नहीं, वृक्ष, फसल, घास-पात सब भस्म हो जायेंगे। लेजर किरणों का प्रयोग एक ऐसा जादुई चिराग-सा है जो सृजन और विनाश दोनों क्षेत्रों में विस्मयकारी भूमिका अदा कर सकता है। रूस और अमेरिका दोनों देशों के हजारों वैज्ञानिक सैकड़ों प्रयोगशालाओं में इस महाशक्ति की साधना में अहर्निश जुटे हुए हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति-शोध-अनुसंधान-संस्था के निदेशक डॉ० फ्रेकवारनेवी ने संसार को चेतावनी दी है कि जिस क्रम और उत्साह से प्रकृति विजय के अन्तर्गत मारक शक्तियाँ विकसित और उपलब्ध कराने की होड़ चल रही है, उसके परिणाम घातक होंगे।

जैन दर्शन की अनेकान्त शैली से कहें तो विज्ञान धर्म का पूरक भी हो सकता है और घातक भी। जो वैज्ञानिक प्रयोग अहिंसा, सत्य, आदि की प्रतिष्ठा में सहयोग प्रदान करते हैं वे धर्म एवं मानव-कल्याण के पूरक हैं, और जो प्रयोग क्षुद्र स्वार्थों से प्रेरित हो विनाश लीला की रचना कर रहे हैं, वे धर्म और मानव-कल्याण में बाधक हैं। अतः आवश्यक है कि वैज्ञानिक प्रयोग पर आत्म-दर्शन एवं विवेकपूर्ण सम्यग् निर्णय का नियन्त्रण रहे, ताकि प्रचण्ड वैज्ञानिक शक्ति का जन-कल्याण एवं विश्व-कल्याण के लिए समता के धरातल पर सही उपयोग हो सके।

प्रश्न—४

आत्म-साधना की दृष्टि से जैन धर्म की यह ध्रुव मान्यता है कि प्रत्येक आत्मा समान रूप से शक्ति-सम्पन्न है, फिर लिंग-भेद को मुख्यता देकर साधना में समान होते हुए भी साध्वी को द्वितीय स्थान क्यों दिया गया ?

उत्तर

यह सत्य है कि जैन दर्शन की मौलिक मान्यता के अनुसार संसार की

सभी आत्माएँ स्वरूप की दृष्टि से समान हैं। भगवान् महावीर का स्पष्ट उद्घोष है कि "अप्पसम मन्निज्ज छप्पिकाए" अर्थात् संसार की समस्त आत्माओं को अपनी आत्मा के तुल्य समझो, अथवा "एगे आया" संसार की सभी आत्माएँ स्वरूप की दृष्टि से एक हैं। जो अनन्त ज्योति स्वरूप परमात्मा का है, वही संसार की एक छोटी-से-छोटी आत्मा का भी है।

इतना होते हुए भी संसार के समस्त प्राणियों में कर्म-जनित इन्द्रिय एव देह सम्बन्धित भेद-रेखा भी स्पष्ट दिखाई देती है। एक वनस्पति की क्षुद्रतम योनि में रहने वाली आत्मा है, तो दूसरी कीड़ों-मकोड़ों, पशु-पक्षी की देह में रहने वाली आत्मा है और इससे विकसित मानव देहधारी और देव वपुधारी आत्माएँ भी हैं। ये सब भिन्नताएँ स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। इतना ही नहीं, मानव तन-धारी आत्माएँ भी सभी समान कहाँ हैं ? उनमें भी कर्म-जनित, वर्गजनित अनेकानेक भिन्नताएँ देखी जाती हैं।

उपर्युक्त भिन्नताओं का कारण जैन दर्शन में प्राणियों के अपने-अपने शुभाशुभ कर्म को माना गया है। अपने पूर्वाजित कर्म के आधार पर ही विभिन्न प्रकार के शारीरिक रचना-भेद एवं संगठन-भेद उत्पन्न होते हैं। एक पुरुष की शारीरिक रचना सुगठित एवं सुडोल होती है, उसके देह की मजबूती फौलादी होती है। इसके विपरीत दूसरा व्यक्ति कुरूप, विकलांग, वीभत्स एवं कमजोर शरीर वाला होता है। इसके पीछे जो कारण हैं, वे अपने-अपने पूर्वोपार्जित कर्म हैं। प्रारम्भ में भले ही हम इसे आनुवंशिक संस्कार अथवा प्राकृतिक उपादान मान लें, किन्तु वैसा संयोग भी कर्म-जनित ही हो सकता है।

तात्पर्य यह है कि दैहिक भिन्नता का मुख्य कारण जैन धर्म में कर्म को माना गया है और यही स्थिति स्त्री-शरीर और पुरुष-शरीर की रचना भेद के सन्दर्भ में है। स्त्री और पुरुष की शारीरिक भिन्नता भी कर्म जनित है।

अब प्रश्न यह उठता है कि किस प्रकार के कर्म के कारण स्त्री-शरीर की उपलब्धि होती है और किस कर्म के कारण पुरुष शरीर की। इस प्रश्न के उत्तर की गहराई में जाने के लिए आगमिक कर्म-सिद्धान्त का आश्रय अपेक्षित होगा।

आगम के अनुसार स्त्रीवेद कर्म का बन्धन मायाचार की प्रधानता से होता है और वह भी प्रथम एवं द्वितीय गुणस्थान जैसी विचारों की निम्न स्थिति में, जबकि पुरुषवेद के बन्धन का कारण सरल प्रकृति होता है और गुणस्थान की दृष्टि से नवें गुणस्थान जैसे उच्च भावों तक होता है।

इस आगमिक सैद्धान्तिक दृष्टिकोण के आधार से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्री-शरीर की उपलब्धि निम्न विचारों के कारण होती है, और पुरुष देह

का निर्माण उच्च विचार-जनित होता है। इस भेद-रेखा को प्राकृतिक शरीर रचना के माध्यम से भी स्पष्ट समझाया जा सकता है। प्राकृतिक दृष्टि से स्त्री शरीर स्वसुरक्षा में पराश्रित रहता है। स्त्री शरीर की यह प्राकृतिक कमजोरी है कि वह अपने शील की सुरक्षा प्राण देकर ही कर सकती है, अन्यथा बलात्कारी आक्रामक से बचना उसके सामर्थ्य के बाहर है। पुरुष पर कोई उसकी इच्छा के बिना आक्रमण कर उसे चारित्रिक पतन की ओर नहीं ले जा सकता। यह और ऐसे ही कुछ अन्य प्राकृतिक तथ्य यह मानने को बाध्य कर देते हैं कि शारीरिक दृष्टि से स्त्री का दूसरा स्थान है।

प्रश्न हो सकता है कि यह सब तो देह-रचना से सम्बन्धित ऊपरी भेद-रेखा है, किन्तु साधना के क्षेत्र में देह-रचना और वह भी पूर्वजन्मोपार्जित कर्म का क्या सम्बन्ध है ? वन्दन केवल शरीर को तो किया ही नहीं जाता है, वन्दन में वन्दनीय के गुणों की मुख्यता होती है।

जिज्ञासा समीचीन है। वन्दन एवं सत्कार भाव में भावात्मक दृष्टि की मुख्यता रहती है। शरीर की दृष्टि से कोई कैसी ही आकृति वाला क्यों न हो, वन्दन का भाव उसमें निहित गुणों के प्रति ही होगा, किन्तु वह वन्दन भावात्मक होगा और उस भावात्मक वन्दन में मतभेद की गुंजाइश भी नहीं है। भाव-वन्दन, जो गुणों के आधार पर होता है, वह एक पचास वर्ष का दीक्षित मुनि भी दो दिन की दीक्षा पर्याय वाली साध्वी को करता है। प्रतिदिन 'णमो लोए सव्वसाहूणं' का उच्चारण जो पच्चीसों बार होता है, एक आचार्य भी करते हैं, उसमें साधु-साध्वी को कोई भेद-रेखा नहीं खींची गई है। प्रातः और सन्ध्या प्रतिक्रमण में पंचपदों की वन्दना में साधु-साध्वी सभी को वन्दन किया जाता है। इस प्रकार भाव-वन्दन का जहाँ तक प्रसंग है, वह एक सामान्य साध्वी के प्रति भी साधु का होता ही है।

किन्तु द्रव्य वन्दन, जो देहपिण्ड एवं वर्तमान साधना स्तर के आधार पर होता है, वह साधु के द्वारा दीर्घ दीक्षा पर्याय वाली साध्वी को भी नहीं होता है। इसका कारण वर्तमान देहपिंड और तदनुरूप भावना जगत् है। वीतराग सिद्धान्त किसी एकान्तिक आग्रह को नहीं मानता है। वहाँ प्रत्येक क्रिया को द्रव्य और भाव दो दृष्टियों से आंका जाता है। भाव-वन्दन में समर्पित होते हुए भी द्रव्य-वन्दन नहीं करना वीतराग-सिद्धान्त की गम्भीर सैद्धान्तिक दृष्टि पर आधारित है। जिन पूर्व कर्मों के परिणाम-स्वरूप वर्तमान पुरुष अथवा स्त्री का शरीर मिला, उन्हीं कर्मों के अनुसार देह के अनुरूप भावनाएँ बनती हैं। जैनागमों के अनुसार पुरुष, स्त्री और नपुंसक दैहिक व्यक्तियों के बीच मोह-जनित भावनाओं का बहुत अधिक अन्तर होता है, और यह सैद्धान्तिक अव-धारणा है कि गुणों का तारतम्य मोह की न्यूनाधिकता पर अवलम्बित है।

मोहनीय, प्रसंगतः वेद मोहनीय की जिसमें जितनी न्यूनता रहती है, भावात्मक दृष्टि से साधना में वह उतनी ही उच्चता का वरण करता है, और मोह की जितनी उत्कृष्टता रहती है, उतना ही वह गुणात्मक क्षेत्र में अविकसित माना जाता है।

दीक्षा-पर्याय सम्बन्धी ज्येष्ठत्व एवं कनिष्ठत्व भी किसी सीमा तक मोह-जनित भावना के तारतम्य पर आधारित होता है। चूँकि पुरुष, स्त्री और नपुंसक वेद के उदय में वैकारिक भावनाएँ क्रमशः अधिकाधिक होती हैं, अतः तीनों की गुणात्मक स्थिति भी उसी अनुपात से न्यूनाधिक होती हैं। आगमों में पुरुष, स्त्री और नपुंसक की वैकारिक भावनाओं को अग्नि से उपमित करते हुए कहा गया है कि पुरुष वेद-जनित वैकारिक भावना तृणाग्नि के तुल्य होती है और स्त्री वेद-जनित वैकारिक भावना करिषाग्नि के समान होती है, जबकि नपुंसक वेद-जनित वैकारिक भावना अरण्य-दाह (दावाग्नि) के समान होती है। जैसे घास के तिनके आग से शीघ्र प्रज्वलित होते हैं और पुनः शान्त भी शीघ्र हो जाते हैं, वैसे ही पुरुष में वैकारिक भावनाओं का वेग तीव्रता के साथ आता है, किन्तु वह क्षणिक होता है। इसके विपरीत करिषा (कण्डा) प्रज्वलित भी धीरे-धीरे होता है, और उपशांत भी शनैः-शनैः होता है। ठीक उसी प्रकार स्त्री वेदोदय-जनित भावना कुछ अधिक वैकारिक एवं स्थायी होती है। इसी प्रकार नपुंसक वेद अरण्य-दाह अर्थात् भयंकर वन के जलने के समान बहुत अधिक स्थायी विकारों वाला होता है।

इस प्रकार भावात्मक दृष्टि भी मुख्यतया स्त्री को द्वितीय स्थान ही प्रदान करती है। यद्यपि उपर्युक्त मोह-जनित भावनाओं का कथन बहुलता का है, उसमें कुछ आपवादिक उदाहरण मिल सकते हैं, किन्तु आम्र-वन में सौ आम्र-वृक्षों के साथ पाँच-दस नीम के वृक्ष होते हुए भी उसे आम्रवन ही कहा जाता है।

इस प्रकार भावों की इस दृष्टि से मोह-कर्म का उदय पुरुष वेद में सबसे अल्प होता है और मोह की अल्पता की प्रधानता के कारण पुरुष को ज्येष्ठत्व स्वतः प्राप्त हो जाता है, क्योंकि पूर्व जन्मोपार्जित वेद मोहनीय कर्म के अनुरूप ही देह की उपलब्धि होती है।

इतना सब कुछ होते हुए भी कभी-कभी मुनि की अपेक्षा साध्वी, साधना में विशेष प्रगति कर सकती है, जहाँ उसके पूर्व कर्म एक तरफ छूट जाते हैं। किन्तु यह उसका वर्तमान पुरुषार्थ के द्वारा भावात्मक विकास होता है, वर्तमान शरीर की निर्मिति के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है और उस स्थिति को पूर्व में भाव-वन्दन के प्रसंग में स्वीकार किया जा चुका है। परन्तु व्यक्ति-पिण्ड-शरीर वन्दन का जहाँ तक प्रसंग है, उसमें पुरुष का ज्येष्ठत्व मानना पड़ेगा।

यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि भावात्मक साधना में अथवा गुणस्थानों के आरोहण में समान स्थिति होते हुए भी द्रव्य देह-पिण्ड की दृष्टि से द्रव्य-वन्दन पुरुष को ही होगा। कोई विरक्त आत्मा भावों की दृष्टि से उत्कट वैराग्य के क्षणों में सातवें गुणस्थान में पहुँच जाती है, तो भी वन्दन-व्यवहार साधु पोशाक के आधार पर षष्ट गुणस्थानवर्ती मुनि को ही होगा। षष्ट गुणस्थान वर्ती मुनि भावात्मक दृष्टि से अपने से श्रेष्ठ समझते हुए भी सप्तम गुणस्थानवर्ती वैरागी को नमस्कार नहीं करता है।

इस प्रकार गृहस्थाश्रम में स्थित तीर्थंकर एक सामान्य मुनि से ज्ञान एवं श्रद्धा की दृष्टि से अधिक योग्य होते हैं, तथापि वे साधुओं द्वारा वन्दनीय नहीं होते हैं। वैसे ही साध्वी, भावों की दृष्टि से कुछ उच्चस्थिति पर पहुँच जाए, तथापि वन्दन ज्येष्ठ पदयुक्त मुनि को ही करेगी।

इन्हीं उपर्युक्त दृष्टिकोणों से जैनागमों में पुरुष को गुणात्मक, देहात्मक एवं भावात्मक दृष्टि से प्रधान मानकर ज्येष्ठत्व प्रदान किया गया है। जिन आगमों की पुनीत छाया में हमारी समस्त साधना गतिशील है, अतः इन्हीं आगमों में उपदर्शित संघीय व्यवस्था को झुठलाया नहीं जा सकता है।

स्थानांग आदि सूत्रों में दस कल्प (मर्यादाओं) का विवेचन हुआ है। उसमें पुरुष ज्येष्ठत्व कल्प का भी वैधानिक प्रारूप है।

कुछ आधुनिक विचारकों का कथन है कि नियम-मर्यादाओं का निर्धारण पुरुष ने किया है, अतः उसने अपने को महान् अथवा ज्येष्ठ घोषित कर दिया है, किन्तु ये विचार छिछली बुद्धि के हैं। मर्यादाओं का निर्धारण किसी सामान्य व्यक्ति के द्वारा नहीं हुआ है बल्कि परम वीतरागी सर्वज्ञ-सर्व द्रष्टा महाप्रभु के द्वारा मर्यादाओं का निर्धारण हुआ है। वे कभी भी पक्षपात नहीं कर सकते। जैनागमों के परिशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने नारी-जाति के उत्थान के लिए कितने सशक्त स्वर दिये और नारी को अध्यात्म साधना की कितनी उच्च भूमिका पर प्रतिष्ठित किया है, किन्तु जो नैसर्गिक भिन्नताएँ हैं, उन्हें झुठलाया भी नहीं है।

मानव-निर्मित मर्यादाओं के प्रति तो हम उक्त तर्क कर सकते हैं, किन्तु प्रकृति के अन्य उपादानों पर दृष्टिपात करें तो वहाँ भी हमें वही व्यवस्था दिखाई देती है।

वनराज सिंह, जंगल का राजा होता है, सिंहनी नहीं। हाथियों के यूथ का नायक गजराज ही होता है। बन्दर समूह में पच्चासों बन्दरियों का स्वामी वलवान बन्दर ही होता है। पशु जगत् की प्राकृतिक व्यवस्था से भी यह स्पष्ट

हो जाता है कि वहाँ भी पुरुष को ज्येष्ठत्व ही नहीं नायकत्व भी प्रदान किया गया है। तो वहाँ की मर्यादाओं का निर्धारण किसने किया और क्या उसमें भी पक्षपात किया गया है ?

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि पुरुष प्राकृतिक एवं आगमिक दृष्टियों से ज्येष्ठ सिद्ध होता है और जो ज्येष्ठ होगा, उसे वंदन आनुषंगिक ही होगा। व्यावहारिक जीवन में भी देखा जाता है कि दस वर्ष की उम्र वाले चाचा एवं मामा को २५ वर्ष की उम्र वाले भतीजे-भानजे नमस्कार करते हैं। सादगी एवं सद्गुण सम्पन्न ४० वर्षीय बहू पुनः विवाहित २० वर्षीय सास को प्रणाम करती है। यही नहीं, मुनि-परम्परा में भी पर्याय ज्येष्ठ पुत्र को लघु दीक्षा पर्याय वाला पिता सम्मान देता है। एक २० वर्षीय आचार्य के नेतृत्व में बड़े-बड़े स्थविर महामुनि चलते हैं और उनका सत्कार-सम्मान करते हैं। यह सब पद की महत्ता है। राष्ट्रपति-पद राष्ट्रीय प्रजातन्त्र में सर्वोच्च माना जाता है। अतएव एक पैंतीस वर्षीय राष्ट्रपति का आदर सत्कार बड़े-बड़े अनुभवी राष्ट्र नेता करते हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष फलित होता है कि आध्यात्मिक दृष्टि से कैवल्यज्ञान जैसी सर्वोच्च सत्ता की अधिकारिणी मानी जाने के उपरान्त भी व्यावहारिक एवं शारीरिक दृष्टि से स्त्री को द्वितीय स्थान ही प्राप्त होता है। इस स्थिति को कुछ आधुनिक क्रान्तिकारी जागरूक महिलाओं ने भी स्वीकार किया है। विश्रुत विद्वान् श्री जैनेन्द्रजी ने अपनी कृति "समय और हम" में एक विदुषी अमेरिकन महिला का प्रसंग देते हुए लिखा है कि उनके कथनानुसार हमें पुरुषों से द्वितीय स्थान स्वीकार कर लेना चाहिये। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति में, जो अति प्राचीन संस्कृति है, नारी का पितृ पक्ष सम्बन्धी गोत्रादि परिचय बदल जाता है। उसे पुरुष के माध्यम से ही पहचाना जाता है। सन्तान की परम्परा भी पुरुष वंशानुसार मानी जाती है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनागमों एवं तीर्थंकरों ने नारी को जो द्वितीय स्थान अपनी संघीय व्यवस्था में प्रदान किया है, वह यौक्तिक एवं समीचीन है। इसमें नारी जाति के अनादर की भावना अथवा उसे हीन समझने की कल्पना करना निरी मूर्खता ही होगी। उपर्युक्त व्यवस्था प्रकृति, कर्म सिद्धान्त एवं सामाजिक संघीय व्यवस्था के आधार पर बनी है, न कि हीन बुद्धि से

प्रश्न—५

वर्तमान सन्दर्भ में युवा वर्ग में धार्मिक असंतोष के कारण क्या हैं ? उनके समाधान क्या हो सकते हैं ?

उत्तर

युवावस्था कुछ कर गुजरने की अवस्था होती है और युवा खून क्रान्ति पथ का अनुगामी होता है। यौवन की इस क्रान्तिकारी वेला में युवक नित नूतन दिशा की खोज करता है। उसे सदियों से चला आ रहा पुरातन-पथ समीचीन नहीं लगता है। अतः वर्तमान सन्दर्भ में ही नहीं युवावस्था सदैव ही अपनी पुरातन मान्यताओं के प्रति असन्तुष्ट रही है। आज से नहीं, सदियों से यही क्रम चल रहा है। प्रत्येक युग में पुरानी पीढ़ी के स्वर रहे हैं कि युवक अनास्थावान बनते जा रहे हैं, उन्हें धर्म पर विश्वास नहीं है, आदि। और जब वे सीनियर होते हैं, तो अपने जूनियरों के प्रति उनके भी वे ही स्वर होते हैं। इस असन्तोष में काल क्रम के अनुसार उतार-चढ़ाव अवश्य हो सकता है, किन्तु वह अपने वर्तमान से सन्तुष्ट कभी नहीं हो पाता है। और जब वह असन्तुष्ट होता है, तो सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक सभी क्षेत्रों में क्रान्ति चाहता है, परिवर्तन चाहता है।

चूँकि धार्मिक उत्कर्ष के मूल सिद्धान्त अपरिवर्त्य होते हैं, अतः अन्यान्य क्षत्रों में परिष्कारात्मक सामन्जस्य बिठाते हुये भी धार्मिक क्षेत्र में वह सामन्जस्य नहीं बिठा पाता है और उससे विरोध करता चला जाता है।

वर्तमान सन्दर्भ में भी कुछ ऐसी ही स्थिति परिलक्षित होती है। चूँकि आज का वातावरण अत्यधिक भौतिकता-प्रधान बन गया है, अतः युवा वर्ग पर उसका प्रभाव सहज होता है और एतद्वारा अध्यात्म के प्रति उनकी उपेक्षा भ अपने आप बनती है।

यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि वातावरण का प्रभाव प्रत्येक चेतना पर पड़ता है। जैसा वातावरण होगा, भावात्मक निर्माण एवं पतन भी तदनुरूप होगा। आज के वातावरण की ओर दृष्टिपात करें, तो स्पष्ट हो जाता है कि उसमें अध्यात्म के प्रति उपेक्षा ही नहीं, अपितु परोक्ष तिरस्कार की भावना भी बढ़ती जा रही है, और उस वातावरण का प्रभाव युवावर्ग पर सर्वाधिक एवं बहुत शीघ्र होता है। उपन्यास आदि साहित्य, सिनेमा आदि मनोरंजन के साधन एवं कॉलेजों में सह-शिक्षा से अनुबंधित वातावरण सभी कुछ ऐसे अश्लील वायुमण्डल का निर्माण करते हैं कि युवावर्ग उनकी ओर खिंचता चला जाता है और उसकी सीधी ही प्रक्रिया होती है अध्यात्म पर। किन्तु यह एकान्तिक दृष्टिकोण नहीं है। कुछ सीमा तक युवक अपने आपको इस वातावरण के प्रभाव से बचा भी लेता है। यह उसमें क्षमता है। यही नहीं उसकी जिज्ञासु-प्रतिभा जिज्ञासा की भूख को लिए हुए चलती है और उस भूख के शमन के लिए खुराक की खोज भी रहती है और ऐसा होना इस युग की देन है, क्योंकि

भौतिक अनुसंधान एवं आविष्कारों ने इसको सूक्ष्मता से समझने का सुन्दर अवकाश प्रदान किया है। परिणामस्वरूप उसकी वुद्धि इतनी पैनी एवं सूक्ष्म-दर्शी बन चुकी है कि वह इस छोर से उस छोर तक पहुँचने के लिए मचल उठती है। किसी रूप में वह बाहर प्रस्फुटित होने का अवसर देखती है और अवसर पाकर कुछ प्रकट भी होती है। किन्तु अधिकांश लोगों में उसको देखने-समझने की क्षमता प्रायः नहीं होती है। परिणामस्वरूप कई आघातों से आहत होकर या तो कुंठा का रूप धारण करती है, या मुड़कर भौतिकता को ही सब कुछ मान बैठती है अथवा विद्रोह का रूप धारण कर लेती है। वैसी स्थिति में मस्तिष्क के तनाव को हल्का करने के लिए उपन्यास, सिगरेट, सिनेमा आदि का सहारा लेती है, जिससे उसकी गति विचित्र बन जाती है। किन्तु दूसरी ओर उसके सामने समस्या है कि वह अध्यात्म के साथ अपना संयोजन कैसे करे ? क्योंकि वर्तमान के मतभेदपूर्ण धार्मिक क्षेत्र की ओर उसकी दृष्टि जाती है, तो वह हतप्रभ-सा रह जाता है। जिस धर्म का उद्देश्य विश्ववात्सल्य, पारस्परिक प्रेम, सामाजिक सौहार्द है, उसी धर्म के उपासक सामान्य-सी वातों के लिये एक-दूसरे को समाप्त करने पर तुले हुए हैं। चींटी तक की रक्षा करने वाले अहिंसा के पुजारी सामाजिक कुरीतियों एवं तुच्छ भौतिक स्वार्थों के पीछे कितने जघन्य हिंसा कृत्य कर जाते हैं।

क़दाचित् वह इस समूहगत सैद्धान्तिक अवहेलना की उपेक्षा कर ले, किन्तु जब वह अपने अभिभावकों, अध्यात्म-साधना के प्रति उत्प्रेरकों की ही द्वेषपूर्ण स्थिति देखता है, तो हैरान-सा रह जाता है। अभिभावक एवं अपने वुजुर्ग कहते क्या एवं करते क्या हैं, उनके जीवन में धार्मिक स्थानों के आचरण एवं कथन कुछ और होते हैं और धर्मस्थान से बाहर के व्यावहारिक जीवन के आचरण कुछ और। वे ही अभिभावक जब युवकों को धार्मिक क्रिया हेतु प्रेरित करते हैं, तब युवक सहज प्रश्न करते हैं—क्या परिवर्तन आया है आप में इन तथाकथित धार्मिक आचरणों से ? बुजुर्ग जब उचित समाधान नहीं दे पाते हैं, तो उस तर्क-निष्ठ मानस को नास्तिकता का फतवा प्रदान कर देते हैं। फलस्वरूप युवा-मानस धर्म से कटता चला जाता है।

होना यह चाहिये कि अभिभावक, युवकों के सामयिक एवं तर्कनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर में शान्त मस्तिष्क से काम लें और अपने जीवन की वास्तविक स्थिति को नग्न सत्य के रूप में स्पष्ट कर दें कि वे धार्मिक सिद्धान्तों की बहुत गहराई में नहीं उतरे हैं, वे जो कुछ धर्माचरण कर रहे हैं वह श्रद्धा के आधार पर कर रहे हैं। साथ ही यह मेरी कमजोरी है कि मैं प्रवचनों आदि में जो कुछ सुनता हूँ उसे जीवन में पूरी तरह नहीं उतार पा रहा हूँ। इसके पीछे अनेक कारण हैं, पारिवारिक समस्यायें, आय के स्रोत के अभाव के कारण आर्थिक विपन्नता, सामाजिक कुरीतियों का बाहुल्य, व्यापारिक सहयोगियों का अभाव

एवं कानूनगत व्यवस्था की पेचीदगी। इन परिस्थितियों में मैं अपने-आपको उच्च आदर्श श्रावकत्व की भूमिका पर प्रतिष्ठत नहीं कर पा रहा हूँ। इसे मैं अपनी कमजोरी मानता हूँ। किन्तु तुम चाहो तो अभी से अपने जीवन को नियमित एवं व्यवस्थित बना सकते हो। मेरी कमजोरी को देखकर तुम्हें उसका अनुसरण नहीं करना चाहिये। तुम उच्च आदर्श श्रावक का अनुकरण कर सकते हो। इसके अतिरिक्त धार्मिक सिद्धान्तों के विषय में तुम्हारी जो जिज्ञासाएँ हैं, उन्हें विद्वान् मुनियों के समक्ष जाकर समाहित करो।

इस प्रकार मधुर शब्दों में यदि युवकों को सम्बोधित किया जाये तो कोई कारण नहीं कि वे अपने अभिभावकों की इच्छा के विपरीत कार्य करें। किन्तु होता इससे विपरीत है। अभिभावक अपनी सैद्धान्तिक अनभिज्ञता एवं आचरण की कमजोरी को छिपाने का प्रयास करते हैं। युवा वर्ग पर इसका विपरीत प्रभाव पड़ता है। यह भी युवक को धर्म से दूर करने का एक कारण बन जाता है।

अभिभावकों के समान ही कुछ वर्तमान श्रमण वर्ग की स्थिति है। उनके समीप भी अधिक प्रेरित करने पर कदाचित् युवक चला जाए, किन्तु वहाँ भी उन्हें अपनी जिज्ञासाओं का समुचित समाधान नहीं मिल पाता है। क्योंकि अधिकांश श्रमणों की स्थिति यह है कि वे स्वय बहुत कम स्वाध्यायशील हैं और जो कुछ अध्ययन है वह भी केवल तोता-रटन्त-सा। उसके पीछे गहरा चिन्तन नहीं है तथा इस सैद्धान्तिक ज्ञान को आज के वैज्ञानिक परिवेश में किस प्रकार प्रस्तुत किया जाए, यह कला प्रायः नहींवत् है। आज आवश्यकता यह है कि जैन तत्त्व-ज्ञान के सिद्धान्तों को, जो कि वास्तव में वैज्ञानिक सिद्धान्त हैं, नूतन शैली में वैज्ञानिक सिद्धान्तों के साथ समन्वित करके प्रस्तुत किया जाय। यह कहा जा चुका है कि युवक हर चीज में नूतनता चाहता है। यदि आत्मा-परमात्मा, कर्म एवं पुनर्जन्म सम्बन्धी गूढ़ सिद्धान्तों को आज के परिवेश में समझाने का प्रयास किया जाय, तो युवक निश्चित उस ओर आकर्षित होगा। आज का युवक बुद्धिजीवी है। रूढ़ अवधारणाओं का समादर नहीं करता है तो तर्कसंगत वैज्ञानिक प्रतिपादन समझ पूर्वक स्वीकारने में भी एतराज नहीं करता है। किन्तु हम देखते हैं कि आज का श्रमण वर्ग प्रायः इस विषय में निश्चेष्ट है। कुछ सचेष्ट भी हैं जो अत्यन्त आधुनिकता की बातें करते हैं। उनके आचरण-सिद्धान्त विपरीत हैं। जब ऐसे विश्रुत विद्वान् मुनियों की भी कथनी-करणी में अन्तर दिखाई देता है, तो युवक असमंजस में पड़ जाता है।

तात्पर्य यह है कि धर्म को वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के रूप में प्रस्तुत किया जाये और श्रमण वग अपने इस दायित्व को महसूस करे, तो किसी हद तक युवकों में धार्मिक चेतना जागृत की जा सकती है।

इतना सब कुछ होते हुए भी सम्पूर्ण दोष अभिभावक एवं श्रमण-वर्ग पर ही नहीं थोपा जा सकता है। कुछ कमजोरियाँ युवा वर्ग की स्वयं की हैं। वे स्वयं अपने जीवन के मौलिक उद्देश्यों के प्रति अनभिज्ञ रहते हैं और तद् विषयक ज्ञान के प्रति वे सचेष्ट नहीं बन पाते। अपने बाहरी बनाव-शृंगार एवं फैशन-परस्ती में ही वे इतने व्यस्त रहते हैं कि जीवन के मूल उद्देश्य को समझने तक का अवकाश नहीं मिल पाता।

अपने-आपको अत्यधिक आधुनिक एवं बुद्धिजीवी दिखाना आज का एक फशन बन गया है। जो अपने-आपको आधुनिक दिखाने का प्रयास करेगा, उसके लिये यह भी सहज होगा कि वह पुराणपन्थी नहीं होने का दिखावा करे। हमारे जीवन की अधिकांश सामाजिक रीति-नीतियाँ पुरातन रूढ़ मान्यताओं के आधार पर ही चलती हैं। हम उन सभी मान्यताओं को विवाह-त्यौहार आदि के प्रसंगों पर भयंकर आडम्बरों के माध्यम से पोषित करते हैं। उन गलत एवं अपव्ययकारी परम्पराओं में क्रान्तिकारी परिवर्तन की कल्पना तक नहीं की जाती है। किन्तु धर्म के शाश्वत सिद्धान्त का क्रान्ति के बहाने से बदलने का प्रयास किया जाता है। यह भी एकांगी भौतिकी बुद्धि का दुरुपयोग मात्र है।

युवकों को सर्वप्रथम अपने जीवन के प्रति सजग होना चाहिये। किन्तु वे उस विषय में उतने ही प्रमत्त दिखाई देते हैं। आज युवा वर्ग भौतिक वातावरण में इतना आप्लावित हो गया है कि उसकी दृष्टि एकदम एकांगी बन गई है। आज का उनका लक्ष्य ही भौतिक समृद्धि है। इन्द्रियाकर्षी पदार्थों एवं तड़क-भड़क के साधनों में इतनी अधिक रुचि उत्पन्न होती जा रही है कि जीवन का कोई आध्यात्मिक पहलू भी है, इसे वे सोच ही नहीं पाते हैं। जहाँ कहीं अपनी समवयस्क सोसायटियों में बैठेंगे, प्रसाधन, चलचित्र एवं उपन्यास आदि की ही चर्चा करेंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि युवकों में धार्मिक असंतोष का कोई एक कारण नहीं है। वातावरण, अभिभावकों की कथनी एवं करनी में असमानता एवं धर्म के नव्य-भव्य वैज्ञानिक शैली में प्रतिपादन का अभाव आदि कई कारण हैं।

प्रश्न का दूसरा पक्ष है कि उक्त असंतोष का समाधान क्या हो? वैसे तो उपर्युक्त विवेचन में असंतोष के जिन मूल कारणों को स्पष्ट किया गया है, उन कारणों को समाप्त कर देने से असंतोष अपने आप समाप्त हो सकता है, तथापि संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि प्रथम तो ऐसा वायुमण्डल निर्मित किया जाये कि युवक स्वयं यह समझने का प्रयास करें कि जिस भौतिक चका-

चौंध में वे जी रहे हैं, जीवन का लक्ष्य उतना भर ही नहीं है। जीवन बहुत मूल्यवान है और किसी महान् शक्ति-सत्ता की उपलब्धि के लिये प्राप्त हुआ है। यह जीवन अनन्त संभावनाओं का छिपा हुआ कोष है। हम जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों को भी समझने और तद् द्वारा अदृश्य सत्ता से साक्षात्कार करने का प्रयत्न करें। यदि इतना न भी कर पायें, तो कम-से-कम जीवन को नैतिक धरातल पर तो पूर्ण रूपेण प्रतिष्ठित करें।

मैं सोचता हूँ इतनी सी समझ का उद्भव युवकों के मानस में हो जाये, तो वे निश्चित अपने-आपको उस रूप में ढालने का प्रयास करेंगे जब तक युवा वर्ग के समक्ष कोई रचनात्मक कार्य नहीं आते हैं, तभी तक वे भटकते हैं। अतः आवश्यकता इस बात की भी है कि युवकों के समक्ष कुछ आध्यात्मिक रचनात्मक कार्य रखे जायें और वे यह समझने लगें कि जीवन के सर्वांगीण विकास के लिये इन कृत्यों की भी आवश्यकता है।

जब जीवन-निर्माणकारी सुन्दर कार्यों का एक मार्ग उन्हें मिल जाता है तो फिर अन्यान्य असत्कार्यों के लिये उनके पास अवकाश ही नहीं बचेगा। परिणामतः उनकी सोसायटी और तत्सम्बन्धी वातावरण भी अपने आप बदल जाएँगे।

समाज एवं राष्ट्र के कर्णधार एम० पी० एवं एम० एल० ए० (लोक सभा एवं विधान सभा सदस्य), आदि अग्रगण्यों का यह पुनीत कर्त्तव्य हो जाता है कि वे जीवन निर्माणकारी वातावरण बनाने के लिये अश्लील एवं अनैतिकतापूर्ण साहित्य एवं सिनेमा आदि पर वैधानिक प्रतिबन्ध लगाएँ। कानूनी प्रतिबन्ध के साथ ही अध्यात्म स्तर के मनोरंजन के साधन भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिससे सुन्दर वातावरण के निर्माण के साथ ही प्रत्येक युवक के मानस में अध्यात्म के प्रति जागरण उत्पन्न हो।

साथ ही अभिभावक भी अपनी कथनी एवं करनी को एक नहीं कर पाएँ, तो कम-से-कम अपनी उस कमजोरी को तो सरलतापूर्वक स्वीकार करें कि मैं धार्मिक नियमों के अनुसार नहीं चल पा रहा हूँ। तुम मेरा अनुकरण नहीं करके अपने जीवन को व्यवस्थित बनाओ। मेरा धार्मिक अध्ययन भी विशेष नहीं है। अतः तुम अपनी जिज्ञासाओं का समाधान विद्वान् मुनियों के पास जाकर प्राप्त करो। और इसी प्रकार श्रमण परम्परा भी अपने पुनीत दायित्व को समझ कर अपने अध्ययन क्षेत्र को कुछ विस्तृत बनावे और युवकों की जिज्ञासाओं का वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में समाधान दे, तो कुछ हद तक युवकों का धार्मिक असंतोष समाप्त हो सकता है।

यदि दस पाँच युवकों में भी ऐसी जागृति का संचार हो सके, तो वे अपने अनेक साथियों पर प्रभाव अंकित कर सकते हैं और व्यक्ति से समाज और समाज से राष्ट्र एवं इस प्रकार विश्व का समस्त युवा जगत् अपनी अमूल्य जीवनी-शक्ति को सही दिशा प्रदान कर सर्जनात्मक अध्यात्म की ओर उन्मुख हो सकता है।

चूँकि राष्ट्र एवं समाज का दायित्व-भार युवकों के सशक्त कंधों पर ही आने वाला होता है, अतः युवा वर्ग अध्यात्मनिष्ठा, नैतिक एवं चरित्र सम्पन्न होगा, तो आने वाली पीढ़ी ही नहीं, समूचा देश एवं विश्व, अध्यात्म, नैतिक निष्ठा एवं चरित्र उत्थान की ओर करवट ले सकता है।

प्रश्न–६

आपने साधना-मार्ग में निर्ग्रन्थ श्रमण-संस्कृति का ही अनुसरण क्यों किया ? उसके द्वारा क्या उपलब्धियाँ हुई ?

उत्तर

साधना का मार्ग जीवन के चरम विकास का मार्ग है। इसमें मानवीय तन की सर्वोच्च सत्ता के साक्षात्कार का उद्देश्य होता है। अतः जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि के मार्ग का चयन उतनी गहरी खोज एवं तर्क-निष्ठ प्रज्ञा के द्वारा होना चाहिये। लक्ष्य किंवा ध्येय का अर्थ ही है कि उसके प्रति सम्पूर्ण रूप से समर्पण हो जाये। साधना का मार्ग भी सम्पूर्ण समर्पणा का मार्ग है। जिस मार्ग का हम चयन करते हैं, उसमें सर्वतोभावेन समर्पित होना होता है। एक बार यदि मार्ग के निर्धारण में गलती रह जाए, तो हमारी समर्पणा ही विपरीत हो जाएगी और हम गन्तव्य की विपरीत दिशा में ही बढ़ते चले जाएँगे। अतः जीवन के सर्वांगीण विकास के लक्ष्य-निर्धारण में गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता होती है। साथ ही पथ-प्रदर्शक एवं समीचीन साधना के प्रति सत्प्रेरक भी साधना की उच्च कोटि पर प्रतिष्ठित महापुरुष होना चाहिये।

जिस समय मैंने साधना-पथ का निर्धारण किया, यद्यपि उतनी गहरी तर्क-पटु प्रज्ञा मुझ में नहीं थी, अपनी सामान्य बुद्धि के आधार पर मैंने तत्कालीन सामान्य जन-चेतना को प्रभावित करने वाले अनेक मत-पंथ एवं धार्मिक सम्प्रदायों का परिचय प्राप्त किया। मैंने उन्हें निकट से पहचानने का प्रयास किया। उनमें से कुछ में मैंने पाया कि वहाँ साधना की सम्यग् दिशा का अभाव है, केवल कुछ रूढ़ एवं विपथगामी अवधारणाओं के आधार पर अपनी साम्प्रदायिक परम्पराओं का पोषण किया जा रहा है। कुछ साधना-पथ, राग-

द्वेष की तीव्र ग्रन्थियों से आवेष्टित हैं। कुछ साधना-मार्ग अधूरे, अवैज्ञानिक, असंस्कारित एवं मानवीय-सभ्यता से भी विपरीत दिखाई देते हैं।

मैंने यथाशक्ति-यथासाध्य उनका सम्यग् विश्लेषण करने का प्रयास किया, तो पाया कि जो साधना-पथ स्वयं राग-द्वेष की जटिल ग्रन्थियों से परिवेष्टित है, वह सम्यग् दिग्बोधक नहीं हो सकता है तथा उसका अनुसरण साधना-मार्ग को समुज्ज्वल नहीं बना सकता है। जीवन की बहुमूल्य उपलब्धि के लिये आवश्यक है कि जिस पथ का अनुगमन किया जाए, वह जीवन-गत जटिल राग-द्वेषात्मक ग्रन्थियों को तोड़ने में सक्षम हो और वह मुझे निर्ग्रन्थ श्रमण-संस्कृति को पुनीत छाया में दिखाई दिया। जिस संस्कृति का नाम ही निर्ग्रन्थ (ग्रन्थि-रहित) है वह निश्चित ही राग-द्वेष की ग्रन्थियों को तोड़ने में सहयोगी बन सकती है। इसी चिन्तन के आधार पर मैंने अपना मार्ग निर्धारित किया। तत्कालीन साम्प्रदायिक मान्यताओं एवं साधना-पद्धतियों की भी बहुआयामी विस्तृत जानकारी के पश्चात् अपने लक्ष्य का चयन किया था और आज मुझे अपने उस चयन पर सात्विक गर्व है। मार्ग चयन के पश्चात् विभिन्न दर्शनों एवं साधना-प्रणालियों का मैंने सूक्ष्म अध्ययन किया और पाया कि मेरा चयन अपनी उस समय की बुद्धि के अनुसार भी बहुत सुन्दर हुआ था।

निर्ग्रन्थ श्रमण-संस्कृति जीवन के सर्वांगीण विकास के लिये सर्वोत्तम संस्कृति है। मेरा ध्रुव विश्वास है कि इस संस्कृति की आराधना एवं उपासना-पद्धति से मैं अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर सकूँगा।

प्रश्न का उत्तरार्ध कुछ अपने मौलिक उत्तर के लिये असमन्जस में डाल देता है। साधना पथ की उपलब्धियाँ अदृश्य उपलब्धियाँ होती हैं। उन्हें भौतिक शब्द-शृंखला में आबद्ध नहीं किया जा सकता है। अनुभूतिगत तत्त्व का साक्षात्कार अनुभूति के आलोक से ही किया जा सकता है तथापि शब्दों के माध्यम से उन उपलब्धियों के संकेत मात्र दिये जा सकते हैं।

साधना-पथ पर पद-चरण करने से पूर्व की स्थिति पर चिन्तन करें, तो अन्धकार और प्रकाश सा अन्तर परिलक्षित होता है। पूर्व का वह ग्रामीण जीवन अज्ञानता, काषायिक प्रचण्डता एवं राग-द्वेष की परिणतियों से संव्याप्त जीवन था। ममत्व की गहरी शृंखला जीवन के चारों ओर जकड़ी हुई थी, सामान्य से तुच्छ स्वार्थ में सम्पूर्ण जीवन उलझा हुआ था।

संक्षेप में कहूँ तो अज्ञान-अन्धकार में एवं विषमता के दल-दल में पूरा जीवन फंसा हुआ था। संयोगतः कहें या और कुछ निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति की शांत क्रान्ति के जन्मदाता अनन्त आराध्य गुरुदेव आचार्य श्री गणेशीलालजी

म० सा० का सान्निध्य एवं निर्ग्रन्थ श्रमण-संस्कृति की पुनीत छाया मिली और जीवन कुछ व्यवस्थित रूप से गतिशील बना। साधना-मार्ग में जितनी गति हुई, मुझे उससे आंशिक सन्तोष हुआ है, पूर्ण नहीं। ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवन चित्रों पर जब भी चिन्तन चलता है, लगता है, अभी तो सागर में बूँद जितना भी विकास नहीं हो पाया है। भावना सदा यही बनी रहती है कि किन्चित् मात्र भी प्रमाद न बने, आत्मा नित नूतन उपलब्धियों के द्वार उद्घाटित करती जाए और एक दिन अपने परम एवं चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सके।

इस प्रश्न का उत्तर प्रसंगत: संक्षिप्त ही दिया जा सकता है, क्योंकि अपने आप पर कुछ बोल पाना बहुत कठिन है।

• • •

चिन्तन-कण

चिन्तन मानवीय जीवन की सर्वतो महत् उपलब्धि है। इसी के आधार पर मानव संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहा जाता है। विश्व के समस्त प्राणियों में मानव में ही वह चिन्तन की क्षमता है, जिसके माध्यम से वह परम निश्रेयस की ओर गतिशील हो सकता है।

सामान्यतः चिन्तन प्रशस्त एवं अप्रशस्त उभयमुखी होता है तथापि चिन्तन शब्द ऊर्ध्वमुखी विचारों के अर्थ में रूढ़-सा हो गया है। अतएव तत्त्व-द्रष्टा मनीषियों के लिए 'चिन्तक' विशेषण का प्रयोग किया जाता है। सही अर्थों में चिन्तन मनीषा का ही एक कार्य है, जो मनस् की आन्तरिक स्थिति को अभिव्यंजित करता है।

साधनागत ऊर्ध्वमुखी चेतनाओं का चिन्तन सामान्य साधकों को दिग्बोध तो देता ही है उनके आन्तरिक व्यक्तित्व को भी अभिव्यक्ति प्रदान करता है। आत्मोन्मुखी साधक की मनःस्थिति साधना की ऊँचाइयों के संस्पर्शन में किन-किन स्थितियों से गुजरती है, कहाँ-कहाँ व्यवधान उपस्थिति होते हैं तथा व्यव-धानों के प्रतिरोधात्मक उपायों का सर्जन कैसे होता है, आदि विषयों का सम्यगव-वोध प्राप्त होता है युग प्रचेताओं के चिन्तन-कणों से।

यह बताया जा चुका है कि आचार्य प्रवर एक आध्यात्मिक योगी युग पुरुष हैं। उनके विविध आयामी व्यक्तित्व को पूर्व पृष्ठों में विविध दृष्टि-बिन्दुओं से समझने का प्रयास किया गया है। इसी परिप्रेक्ष्य में उनके मननशील आन्त-रिक व्यक्तित्व के परिबोध हेतु इस प्रकरण में कुछ चिन्तनकणों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

ये चिन्तन-कण आचार्यश्री के ऊर्ध्वमुखी चिन्तनशील मानस के परिचायक हैं। आचार्यश्री अपने शैशव से ही चिन्तन के आदी रहे हैं, किन्तु साधना के असिपथ पर पद-चरण के पश्चात् तो आपका सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही चिन्तन प्रधान हो गया। उन्हीं चिन्तन के अमूल्य क्षणों को यदा-कदा अवकाश मिलने पर आप शब्दबद्ध करते रहे हैं। यह मेरा वैयक्तिक प्रत्यक्षीकृत अनुभव है कि जब-जब भी आचार्य प्रवर को एकान्त में क्षण मिलते, आपकी मुख-मुद्रा चिन्तन प्रधान बन जाती, आपका मानस अनन्त गहराइयों के अन्वेषण में खो जाता।

अगणित बार ऐसे भावपूर्ण प्रसंग बनते, किन्तु कुछ ही प्रसंग ऐसे बनते जब हम शिष्यों में से यदि किसी ने तत्काल कलम-डायरी समक्ष कर दी, तो वह अमूल्य निधि नवनीत के रूप में हस्तगत हो जाती ।

उन्हीं चिन्तन-कणों में से कुछ चिन्तन-कण प्रस्तुत हैं, जिनके माध्यम से हम आचार्य प्रवर के चिन्तक मानस से परिचित होने का प्रयास करेंगे तथा उनकी उपयोगिता को आत्मसात कर जीवन को चिन्तन की एक स्वस्थ दिशा प्रदान करेंगे ।

आत्मवत् दृष्टि

आत्मन् ! जैसा तुम बनना पसन्द करते हो, वैसा ही प्रत्येक व्यक्ति को देखो । तुम ईश्वर बनना चाहो तो हर व्यक्ति को ईश्वर के रूप में देखो । तुम्हारे साथ कोई नीचता का व्यवहार करता है, तो तुम उसकी नीचता को, नीचता रूप को मत देखो, अपितु उसको विकास की शक्ति के रूप में देखो । कोई अच्छा कहे या बुरा कहे, इसका खयाल मत करो, बल्कि पवित्र हृदय क्या कहता है, उस पर विशेष ध्यान दो ।

प्रभावक शब्द

स्वच्छ मन एवं शांत मस्तिष्क से प्रकट किये गये विचार अमूल्य एवं कल्याणप्रद होते हैं । स्वानुभूतिपूर्वक प्रयुक्त सीधे सादे वाक्य जितने असरकारक होते हैं, उतने इधर-उधर के लिए हुए पांडित्यपूर्ण वाक्य नहीं । वचन एक दर्पण है । चतुर पुरुष वचनों के अन्दर इंसान का आंतरिक प्रतिबिम्ब देख सकते हैं ।

निष्काम कर्म

धैर्य कभी नहीं छोड़ना चाहिये । कर्त्तव्यनिष्ठा से सत्यकर्म करने वाले को आपत्तियाँ आने पर भी सफलता अवश्य मिलती है । निष्काम भाव से कर्त्तव्य पालन करने वाले को सर्वतोमुखी फल अवश्य मिलता है, जिससे वह उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है ।

अमुक कार्य करूँ, पर मेरे पास साधन नहीं हैं ऐसा चिन्तन उसके मन की अपरिपक्वता का द्योतक है । अगर वह सच्चे दिल से उस कार्य में लग जाय तो सभी प्रकार के साधन, मिठास पर चींटियों की तरह सहज ही उसके पास आ जायेंगे ।

आत्मावलोकन

हे आत्मन् ! सारा संसार भी यदि तुम्हारी निन्दा, भर्त्सना व तिरस्कार

करे, तो तू लेशमात्र भी उत्तेजना व उदासीनता मत ला, बल्कि इसके विपरीत तू यह चिन्तन कर कि यह सब किस कारण से हो रहा है ? अगर उसमें कोई वास्तविक कारण मालूम हो जाय, तो उसको दूर करने की कोशिश कर और अपनी निन्दा आदि को सहायक रूप में देख ।

प्रशंसा

प्रशंसा जहरीले सर्प के समान है । अगर इसका विष तुझे चढ़ गया तो तू नष्ट हो जायेगा ।

जीवन का मूल

ब्रह्मचर्य जीवन का मूल है । इसी से जीवन की सारी रौनक है । आधुनिकता के भुलावे में आकर इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । इसकी उपेक्षा करना सारे जीवन की महत्ता को तिलांजलि देना है ।

आवेश

आवेश दिल की कमजोरी का सूचक है । आवेश में आकर किया जाने वाला कार्य त्रुटिपूर्ण होता है । अतः सत्यान्वेषक को आवेश से दूर रहना चाहिए ।

सच्चा प्रेम

जिस प्रेम से शक्ति का संचय होता है, वही वस्तुतः सच्चा प्रेम है । जिससे शक्ति का नाश होता है, वह प्रेम नहीं है ।

मृत्यु प्रत्येक देहधारी की वृत्ति है । इस पर विजय पाना मृत्यु को परास्त करना है ।

मानसिक स्नान

मनुष्य प्रातःकाल उठकर पानी से स्नान करता है । उससे जीवन में कुछ स्फूर्ति आती है । मगर उसी समय विचारों से मानसिक स्नान कर लिया जाय तो चिरस्थायी जीवन-विकास की स्फूर्ति प्राप्त हो सकती है ।

कृत्रिमता बनाम स्वाभाविकता

कृत्रिमता देखने में सुन्दर मालूम होने पर भी अहितकर होती है । स्वाभाविकता देखने में अच्छी मालूम न होने पर भी हितकर होती है ।

किसी अभिलाषा से किसी की प्रशंसा करना इंसानियत से गिरना है ।

दुनिया के पीछे चलने वाला प्राणी अपना विकास नहीं कर सकता है। उसका जीवन अनुकरणीय नहीं होता है।

पाठ्यक्रम : एक विश्लेषण

पैनी निगाह से देखा जाय तो वर्तमान प्रचलित परीक्षोपयोगी साहित्य साम्प्रदायिक मनोवृत्ति से ओतप्रोत ही मिलेगा। ऐसे साहित्य से विद्यार्थी विकास की प्रकाशमय किरणों को छोड़कर अन्धकार में ही भटकता रहता है, क्योंकि वह बचपन में ही अन्ध परम्परा की कोल्हू का बैल बना दिया जाता है। फिर वह आगे कैसे बढ़ सकता है ?

रूढ़ि तोड़ना - साहस कार्य

रूढ़ि पूर्ण विनाशकारी परम्पराओं को सामान्य मनुष्य नहीं हटा सकता। उसे हटाने में वास्तविक ज्ञान व साहस की अत्यधिक आवश्यकता होती है।

अनुवादित पदार्थों का उतना महत्त्व नहीं जितना आविष्कृत पदार्थों का है।

आत्म साक्षी

दुनिया क्या देख रही है, इस पर विचार मत करो। तुम क्या देख रहे हो, इसी का विचार करो। 'इस काम से दुनिया क्या कहेगी' यह न सोचकर मेरी पवित्रात्मा क्या कहेगी, यह सोचो।

सफलता की सीढ़ी

अतीत अवस्था का स्मरण, वर्तमान का अनुभव, भविष्य का चित्रण सामने रखकर प्रवृत्ति करने वाला व्यक्ति जीवन में हमेशा सफलता का अनुभव करता है।

नेत्र-प्रेम और नेत्र-मोह

नेत्र-प्रेम और नेत्र-मोह, दोनों में महान् अन्तर है। नेत्र-प्रेम भ्रातृ-भाव और विश्व-वात्सल्य से ओत-प्रोत होता है। जबकि नेत्र-मोह व्यक्ति-भाव, शत्रु-भाव और वैयक्तिक वात्सल्य से। पहला मित्र है—आगे बढ़ाने वाला है और दूसरा है—नीचे गिराने वाला।

व्यक्ति स्वातन्त्र्य

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य जीवन का स्वाभाविक अधिकार है। इस पर प्रतिबन्ध कहीं पर नहीं होना चाहिये, मगर समाज के सामान्य नियमों से व्यक्ति को

अलग भी नहीं होना चाहिये । व्यक्ति-समूह ही समाज है । विकास व साधन की दृष्टि से उसकी परम आवश्यकता है, मगर वह प्रामाणिक व्यक्तियों का समाज हो । प्रामाणिकता सद्आचरण से आ सकती है, कहने मात्र से नहीं ।

प्रभावक उपदेश

जो व्यापार के तौर पर उपदेश देता है, वह उसे जीवन में बहुत कम उतारता है, क्योंकि उसका लक्ष्य उपदेश द्वारा यश अथवा सम्पत्ति कमाना होता है जो व्यापार के तौर पर नहीं, अपितु स्वानुभूति को जिज्ञासुओं के समक्ष रखता है, वह अपने जीवन में अधिक आचरण करने वाला होता है, क्योंकि उसका लक्ष्य जीवन सुधार का होता है, न कि प्रशंसा प्राप्ति का ।

पशु बनाम मानव

पशु-पक्षियों में भी समाज-व्यवस्था देखी जाती है । उनमें किसी को अपराध करने पर सामूहिक या व्यक्तिगत दंड मिलता है । पशु-पक्षियों में जैसे भी अनुकूल या प्रतिकूल साधन होते हैं, उसका वे यथावसर उपयोग करते हैं । जब कभी विजातीय आक्रमण होता है, तो स्वजातीय अपराधों को गौण कर वे सामूहिक एकता से प्रत्याक्रमण करते हैं । उनमें भी साम्राज्यवाद वृत्ति और समाजवाद वृत्ति दोनों ही पाई जाती हैं । अनुशासन-व्यवस्था इनमें अच्छी होती है । उनमें ईमानदारी अधिक होती है, बेईमानी बहुत कम । उनमें प्रेम और मुग्धता भी अपेक्षाकृत अच्छी होती है । उनकी अपनी सांकेतिक भाषा होती है । आज का मानव जरा तुलना करे अपने आपकी उनसे ।

मानापमान

सुख और सम्मान के लिए लालायित मत रहो । अपमान और दुःख से दूर मत भागो । जहाँ अपमान होता हो, चित्त को दुःख और संक्लेश पैदा करने वाले उत्तेजनात्मक बर्ताव हो, वहाँ तुम जाओ और अपने मन-मस्तिष्क की परीक्षा करो कि ऐसी अवस्था में तुम्हारा मस्तिष्क कितना शांत रहता है, तुम्हारे मन में कितनी पवित्रता बनी रहती है । उस समय यदि तुम्हारा मस्तिष्क शांत रहे, मन में अपवित्रता न आये और कर्त्तव्य कर्म पर मजबूत रह सको तो समझ लो कि तुमने कुछ इंसानियत प्राप्त की है ।

परिवर्तन प्रगति का प्रतीक

देश, काल, ऋतु के परिवर्तन के साथ वातावरण और वायुमण्डल का भी परिवर्तन होता है । इसके साथ जो इंसान अपने जीवन का परिवर्तन करता रहता है, वह सदा विजयी रहता है और जो सभी अवस्थाओं में समयानुसार

परिवर्तन करने में असमर्थ रहता है, वह सदा पश्चात्ताप करता हुआ ह्रास की ओर अग्रसर होता है, प्रगति की ओर नहीं।

सन्त जीवन : निष्पक्ष दृष्टि

वह मेरा सत्कार करेगा, मुझे नमस्कार करेगा, मेरी प्रशंसा करेगा, अतः मैं उसे प्रेम की दृष्टि से देखूँ, मधुर शब्दों से वातचीत करूँ—जो ऐसा विचार कर, ऐसा ही आचरण करता है और अपने आपको महात्मा समझता है, तो यह उसका आत्म-पतन है। वह व्यर्थ में समय और शक्ति वर्वाद करता है। महात्मा का प्रेम निष्काम और निर्मल होता है। वह किसी आकांक्षा से किसी को नहीं देखता न मधुर शब्दों में वार्तालाप ही करता है। उसकी दृष्टि सहज स्वाभाविक रूप से किसी पर पड़ जाती है, तो उसको आत्मीय रूप से देख लेता है फिर वह प्राणी कोई भी हो। उसकी दृष्टि में जाति का, ऊँच-नीच का, पापी-धर्मी का भेदभाव व घृणा नहीं होती है। वह प्राणी-हित की दृष्टि से समय आने पर सभी से वातचीत करेगा। विना अवसर किसी से वातचीत नहीं करेगा। उसकी समय-शक्ति व्यर्थ नहीं जाती। वह मनुष्यों की निगाह से अपने को नहीं देखता अपितु स्वयं की पवित्र निगाह से अपने आपको देखता है।

प्रेम बनाम मोह

आज का मानव समाज प्रायः गुलाम मनोवृत्ति से चल रहा है। रूढ़ि तथा परम्परा मानव-जीवन की संगिनी बन गई है। बुद्धि काम-सम्राट् के किले में बन्द-सी मालूम होती है। साहित्यकार, कलाकार, अध्यापक, पत्र-सम्पादक आदि में से अधिकांश लोगों ने अपने जीवन का चरम लक्ष्य प्रेम के नाम पर मोह का सम्पादन ही मान रखा है। उनको वही साहित्य, वही कला, वही कहानी, वही समालोचना पसन्द आयेगी जिसमें पशु वृत्ति से भी निंदित प्रणय-प्रसंगों का रोचक वृत्तांत पाया जाता हो। इस वृत्तांत का जो व्यक्ति अधिक रोचक ढंग से सम्पादन करता है, उसी को सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार माना जाता है। पुरस्कार भी उसी को अधिक मिलता है। वह युग का सृष्टा समझा जाने लगता है। ऐसी अवस्था में कौन व्यक्ति ऐसे श्रेष्ठ पद को पाने हेतु लालायित नहीं होगा? प्रत्येक व्यक्ति येन-केन-प्रकारेण इसी पद को पाने के लिए आकाश में उड़ने की कोशिश करता है। वैसा ही साहित्य, वैसी ही गोष्ठी, वैसी ही सोसायटी और वैसे ही वायुमंडल में वह अपने को धन्य समझता है। उसकी बुद्धि उसी दायरे के अन्दर चक्कर काटती है। उस घेरे से बाहर रह जाने पर वह अपने को अभागा, पुण्य-हीन समझता है और यह दावा करता है कि मैं विकास कर रहा हूँ। यही अवस्था अधिकांश व्यष्टि एवं समष्टि में बनी हुई है। इसको आधुनिक मानव-समाज की गुलामी न कहें तो क्या कहें?

आत्म-गर्व

आत्म-गर्व विकास के लिये होना चाहिये न कि दूसरों को नीचा दिखाने के लिये।

प्रत्येक कार्य में स्वावलम्बी एवं स्वतंत्र इंसान ही कुछ कर सकता है।

जनहितकारी मौलिक विचार ही सच्चे रूप में जनता का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं।

जय-विजय-विचार-विमर्श में

हार-जीत की दृष्टि से किया हुआ विचार-विमर्श कभी भी निर्दोष नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें बुद्धि स्वच्छ एवं निष्पक्ष नहीं रह सकती।

जिस विचार से हिंसक वृत्ति की प्रधानता का उद्गम होने लगता है, वह विचार इंसानियत के विपरीत है।

मन की आकर्षण शक्ति

मन का अन्तर्जगत् के साथ सम्बन्ध है। जिस मन में जितना अधिक आकर्षण होगा, उतना ही वह अन्तर्जगत को अपनी ओर आकर्षित कर सकेगा। आकर्षण शक्ति किसी-किसी में नैसर्गिक होती है पर उसको अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह रह भी सकती है और चली भी जाती है। अतः ज्ञान-पूर्वक प्राप्त की गई आकर्षण शक्ति को ही अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिये, क्योंकि वह स्वाधीन होती है।

बीती ताहि बिसार दे

जो बात बीत चुकी, उसका स्मरण कर ग्लानि लाने की आवश्यकता नहीं, किन्तु नवीन उत्साह पैदा करने की जरूरत है। वास्तविक लक्ष्य में तन्मय होकर कर्त्तव्य कार्य में लग जाने पर कोई कार्य असाध्य नहीं। व्यतीत अवस्था से भी अच्छी अवस्था प्राप्त की जा सकती है। प्रकृति के अन्दर सभी शक्तियाँ विद्यमान हैं। इसका स्वभाव ही बुराई को दूर कर अच्छाई की ओर ले जाना है। यह किसी प्रकार की बुराई को सहन नहीं करती है, उसे साफ करने की कोशिश करती है।

वैचारिक प्रभाव

वायुमंडल के अन्दर भी संघर्षमय वातावरण विद्यमान रहता है। जिस स्थान में जिस विचारधारा का प्राबल्य होगा उसकी ही विजय होगी। अपनी

बात मनवाने के पहले वायुमंडल को शुद्ध करो, फिर जिन विचारों को तुम श्रेष्ठ समझते हो और यदि ये वास्तविक रूप से जनहितकारी एवं कल्याणप्रद हैं, तो निष्काम भाव से दुनिया के सामने रख दो। वे विचार शीघ्रातिशीघ्र कार्य रूप में परिणत हो जायेंगे।

तुम प्रसन्नचित्त रहो, चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं, किन्तु स्वयं अपने जीवन में जिन-जिन बातों की त्रुटियाँ या कमजोरियाँ अनुभव करो उनको शीघ्रातिशीघ्र दृढ़ संकल्प के साथ दूर कर दो। फिर तुमको कभी किसी विफलता के दर्शन नहीं होंगे।

महात्मा

सच्चे महात्मा कभी अपने आपको प्रकट नहीं करते, मान-प्रतिष्ठा एवं पूजा के लिये कभी अपनी जिह्वा को नहीं हिलाते और न मन में ही इस प्रकार का संकल्प आने देते हैं। उनका ध्यान सदा वास्तविक कर्त्तव्य-कर्म में रहता है। वे मान और अपमान, मित्र और शत्रु, सुख और दुःख, प्रिय एवं अप्रिय को अपने निर्विकार मन-मस्तिष्क के परीक्षण के रूप में देखते हैं। उनके प्रति अनुराग या द्वेष कभी नहीं लाते, वे सदा प्रसन्नचित्त रहते हैं।

आत्म-प्रवंचना

मैं यदि किसी से चालाकी से बात करता हूँ और मन में यह समझता हूँ कि मैं बड़ा चतुर हूँ—उसको चकमा दिया कि वह समझ भी नहीं सका, यह मेरा भ्रम है, आत्म प्रवंचना है और मूर्खता का नमूना है। वह ऊपर से किसी कारणवश न समझ पाया हो, किन्तु उसकी अन्तरात्मा पर मेरे कुटिल भावों की छाप अवश्य पड़ेगी, वह समय पाकर प्रतिक्रिया के रूप में सामने आयेगी और उससे वायुमंडल दूषित होगा, जो कि मेरे और विश्व के लिये अहितकर है। अतएव जीवन में प्रत्येक बात का ध्यान रखना चाहिये और ऐसा ही कार्य करना चाहिये जिससे किसी का अहित न हो।

प्रगति-पथ

बहते पानी की तरह अभ्यस्त विचारधाराओं को रोककर अनभ्यस्त नवीन कार्य की ओर ले जाना प्रगति का चिह्न है। अभ्यस्त मार्ग से तो अंधा, बच्चा, मूर्ख और सामान्य बुद्धि के अन्य प्राणी भी यंत्रवत चलते ही हैं, उसमें कोई विशेषता नहीं। अभ्यस्त मार्ग पर आपत्तियाँ नहीं के समान आती हैं, मगर अनभ्यस्त मार्ग से चलने पर अनेक आपत्तियाँ आती हैं और वे अस्वाभाविक-सी भी मालूम होती हैं। किन्तु जो विवेकपूर्वक उनका सामना करता हुआ आगे बढ़ता रहता है, वह अवश्य सफल हो सकता है। वही वस्तुतः प्रगति कही जा सकती है।

प्रगतिशील पुरुष

जो केवल एक ही अवस्था में रहता है वह वास्तविक अनुभव के बिना प्रगति नहीं कर सकता। जब तक विविध विपरीत परिस्थितियों का सामना होने पर उनमें क्षीर-नीर की तरह सावधानीपूर्वक विश्लेषण कर गुणावगुण का निर्णय नहीं किया जाता, तब तक वही अवस्था रहती है।

बीज-रक्षण

जिस सद्विचार धारा का बीज-वपन करते हो, उसको सावधानी के साथ विकसित एवं प्रफुल्लित करो। उसके अनुकूल वायुमंडल से उसका सिंचन करो। उसकी देखरेख पूर्ण शक्ति के साथ तब तक करो जब तक कि वह परिपक्व एवं मजबूत न बन जाय, अन्यथा उसकी विपरीत विचारधारायें उसको समाप्त कर देंगी।

सफलता बनाम भाग्य

कुछ व्यक्ति यह कहा करते हैं कि हमने अमुक कार्य के लिये बहुत प्रयत्न किये मगर उसमें सफलता नहीं मिली। क्या करें ? हमारे भाग्य अच्छे नहीं हैं और जब तक भाग्य अनुकूल नहीं होता तब तक प्रयत्न करना व्यर्थ है। देखिये ना, पहले लोग मेरी इज्जत किया करते थे और अब मुझे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। वही मैं हूं, जो पहले था और वही मेरा कार्य है जो पहले था। फिर भी यह अवस्था जो हुई, यह सब भाग्य का चमत्कार है। पर ये सब बातें अंतर का सूक्ष्म निरीक्षण नहीं होने से कही जाती हैं। वस्तुतः देखा जाय तो विफलता का कारण अपनी वृत्तियों के प्रति सतत जागरूक नहीं रहना है। इन्सान कुछ भी सत्कार्य प्रारंभ करता है उस समय उसकी उस कार्य में तल्लीनता रहती है और उसी समय प्रारंभिक सफलता की रौनक उसके सामने आती है। उस रौनक को देखकर वह अपने आप पर काबू नहीं रख सकता। वह यह अनुभव करने लगता है कि मैं ही संसार में सब कुछ हूँ, मेरे सामने कौन व्यक्ति ठहर सकता है। मैं सभी दृष्टियों से परिपूर्ण हो चुका हूँ—आदि। ये ही विचार उसकी विफलता के कारण बनते हैं और उसी समय वह ह्रास की ओर चल पड़ता है।

संघर्ष और जीवन

जो मनुष्य संघर्ष से भय खाता है और उससे अलग अलग रहना चाहता है, वह अपनी कायरता को पुष्ट करता है। संघर्ष कोई बुरी वस्तु नहीं है, वह जीवन विकास का मुख्य साधन है। जिस जीवन में संघर्ष नहीं, उसे जीवन नहीं कहा जा सकता। अनुकूल और प्रतिकूल दोनों संघर्षों के बीच निर्लेप, प्रसन्नता-

पूर्वक खेलने वाला व्यक्ति ही विकास की ओर बढ़ सकता है। हाँ, एकांगी संघर्ष से भी कुछ विकास हो सकता है, पर वह स्वेच्छापूर्वक नहीं कहा जा सकता।

मुहूर्त की प्रतीक्षा

चिन्ता करने से कोई लाभ नहीं होता, वल्कि हानि ही होती है। अगर कुछ करना है तो प्रसन्नतापूर्वक उसमें लग जाना चाहिये। समय या मुहूर्त की अनावश्यक प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये। कार्यारम्भ का वही समय या मुहूर्त अति उत्तम है, जिस समय पूर्ण उत्साह हो। विना उत्साह अच्छे मुहूर्त में आरम्भ किया हुआ कार्य भी सफल नहीं हो पाता।

क्षमायाचना बनाम दिखावा

जो पवित्र दिल से सदा सवका हित चाहता है, कभी भी किसी के प्रति दुर्भाव नहीं आने देता, और अगर कभी किसी के प्रति कोई दुर्भाव आ भी गया तो तुरन्त उनको दूर करने की शक्ति रखता है, उस व्यक्ति के लिये सदा ही क्षमायाचना का दिन समझना चाहिये, किन्तु जो व्यक्ति अधिकांश रूप से अपने दिल और दिमाग को बुरे विचारों में रखता है और यही सोचा करता है कि मैं कैसे सबसे श्रेष्ठ कहलाऊँ और कैसे दूसरों को नीचा दिखाऊँ, प्रायः इन्हीं विचारों को कार्यान्वित करने के लिये वाह्य दिखावे के तौर पर नम्र बनता है या क्षमायाचना का उच्चारण करता है, वह क्षमायाचना के संवत्सरी पर्व को लजाता है एवं कपट-क्रिया की वृद्धि भी करता है। ऐसे व्यक्ति आत्मशुद्धि से दूर रहते हैं।

विश्व-कुटुम्ब

प्रत्येक इंसान को नियमित रूप से एवं व्यवस्थित रूप में विश्व-हितकारी कुछ-न-कुछ कार्य करना चाहिये। विना कुछ किये विश्व से सहायता लेना उचित नहीं कहा जा सकता। इंसान को विश्व के पदार्थों से जो भी शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक शक्ति प्राप्त हुई है, उसका सदुपयोग तभी समझा जा सकता है जबकि इंसान विश्व के लिये कुछ करता है। अगर वह ऐसा कुछ भी नहीं करता और व्यक्तिगत स्वार्थ में ही इस शक्ति का व्यय करता है, तो वह विश्व में दूसरों को कष्ट देने वाला एवं कृतघ्न की श्रेणी में आ जाता है।

स्वयं को छलना

मनुष्य अपने स्वार्थ को छिपाने की कोशिश करता है। उसकी भावना यह रहती है कि ऊपर से मैं परमार्थ की बातें या परमार्थ के कार्य दिखलाऊँ ताकि लोग मुझे परमार्थी कहें और मेरा स्वार्थ भी सिद्ध हो जाय। मगर यह उसका भ्रम है। वह उन्हीं लोगों को धोखा दे सकता है, जो विशेषज्ञ नहीं हैं। स्वार्थी व्यक्ति में निर्भयवृत्ति का अभाव-सा रहता है। वह अपनी वृत्ति को छिपाने की

कितनी ही कोशिश क्यों न करे, मगर विवेकशील पुरुष के सामने वह छिपी नहीं रह सकती ।

उत्तेजना

किसी कार्य में अति शीघ्र उत्तेजना आना अत्यधिक अपूर्णता का द्योतक है । ऐसे व्यक्ति हिताहित के सोचने में असमर्थ रहते हैं । वे तात्कालिक फलाफल को देखकर अपनी शक्ति को पतंगे की तरह झोंक देते हैं । जो ऐसा नहीं करता है वह उनकी दृष्टि में कायर या भीरू दिखाई पड़ता है । मगर जो दूरदर्शितापूर्वक कार्य करने में तत्पर है, वह कायर और भीरू की श्रेणी में नहीं आ सकता ।

वोट की ओट

आजकल राजधानी में वोटों की प्रवृत्ति जोरों से चल रही है । वोट प्राप्त करने वाली प्रत्येक पार्टी वोटों के लिये भरसक प्रयत्न कर रही है । यह प्रयत्न सड़कों, रास्तों, पेम्पलेटों एवं भाषणों तक ही सीमित नहीं रहा है किन्तु प्रत्येक घर में, प्रत्येक वयस्क मनुष्य को साम-दाम-दंड और भेद आदि का प्रयोग दिखाकर भी चल रहा है । खड़ा होने वाला व्यक्ति चाहे अयोग्य या स्वार्थ की जघन्य भावना की साकार मूर्ति भी क्यों न हो, उसको भी सुयोग एवं सत्पुरुष का चोला पहनाया जा रहा है । यह तरीका प्रजातंत्र का नहीं, यह तो पूंजीपति, साम्राज्यवादी एवं कुटिलता का है । इससे प्रजातंत्र उतना ही दूर है जितना कि घोर अंधकार से देदीप्यमान प्रकाश । यह प्रवृत्ति दैविक नहीं है, राक्षसी है, जनता को अंधकार में ले जाने वाली है ।

इच्छा-निरोध

"इच्छाओं को रोकना जीवन को कुण्ठित करना है, विकास को रोकना है । उन्हें यथेष्ट प्रवृत्ति करने देना जीवन का विकास करना है ।" यह विचार बिना मननपूर्वक गतानुगतिक लोकोक्ति को पुष्ट करता है । वस्तुत: इच्छाओं की यथेष्ट प्रवृत्ति को रोके बिना अपूर्व जीवन प्राप्त नहीं किया जा सकता है । नदी का प्रवाह रोके बिना उससे बिजली पैदा नहीं की जा सकती । उसको रोकने में कष्ट का सामना करना पड़ता है । इन्द्रियों की यथेष्ट प्रवृत्तियाँ रुकती हैं, तभी आत्म-साधना में सफलता प्राप्त की जा सकती है । इच्छाओं को रोकने में आंतरिक संघर्ष अवश्य होता है, पर इस संघर्ष के विना जीवन में बिजली (ऊर्जा) पैदा नहीं की जा सकती । हाँ, इसमें सतत जागरुकता की अत्यधिक आवश्यकता होती है ।

प्रगतिशीलता

प्रगतिशील पुरुष समय एवं परिस्थिति को देखकर किसी कार्य विशेष पर

जोर दिया करते हैं। उनका कोई त्रैकालिक विशेष कार्य निश्चित नहीं होता। विशेष कार्य का निश्चय समय एवं परिस्थिति पर बहुत कुछ आश्रित रहता है। इससे वे विश्व एवं स्वयं को बहुत आगे ले जा सकते हैं। मगर साधारण व्यक्ति इसे समझ नहीं पाते। वे तो प्रगतिशील पुरुषों के द्वारा निर्दिष्ट विशेष कार्य को ही सब कुछ मानकर बैठ जाते हैं। उनके लिये वही चरम सीमा हो जाती है। ऐसी स्थिति में वे पीछे रह जाते हैं, आगे नहीं बढ़ सकते।

सत्य आचरण-असि धारा

सत्य समझना, उसको आचरण में लाना तलवार की धार पर चलने के समान है। आवश्यक व्यावहारिक सत्य भी यदि प्रत्येक इन्सान पूर्णरूपेण आचरण में उतार ले तो आज की बाह्य अशांतिमय स्थिति का प्रायः अन्त हो सकता है। मगर जब व्यावहारिक सत्य का अंश भी अपनाने में पूरा ध्यान नहीं जाता है तो फिर वास्तविक सत्य को कैसे प्राप्त कर सकते हैं? वह तो जीवन का पूर्ण विकसित स्वरूप है। व्यावहारिक सत्य को जीवन में उतार कर ही उसकी ओर आगे बढ़ा जा सकता है, क्योंकि विकास क्रमशः होता है।

साधना का शत्रु—प्रमाद

साधना में सबसे ज्यादा खतरनाक है—प्रमाद। वह अनेक रूपों में प्राणी को फंसा लेता है। उसके जाल को तोड़कर जो हर समय नियमित कार्य में लगा रहता है और शुद्ध अंतःकरण की प्रेरणा को महत्त्व देता है, वह प्रायः सफल होता है। उसके सामने खतरा या आपत्ति नाम की कोई शक्ति अधिक समय नहीं ठहर सकती।

जनतंत्र

आजकल राजनैतिक क्षेत्र में जो हम देख रहे हैं, वह निष्प्राण कार्य हो रहा है। आज की लड़ाई महत्त्वकांक्षा और कुर्सियों की है, न कि जनतन्त्र की। जनतंत्र में लड़ने और गाली-गलोच की आवश्यकता नहीं। न राजतन्त्र और न दण्ड की आवश्यकता है, न गुट या पार्टीबाजी की जरूरत है जोर न जोर जबर-दस्ती से किसी पर आज्ञा चलाने की। आज का समय प्राचीन काल से बिल्कुल परिवर्तित-सा हो गया है। आज की मुख्य आवश्यकता उस विचार के इन्सानों की है जो वास्तविक कर्त्तव्य के प्रति हृदय परिवर्तन कर सकें।

संघर्ष वासनाओं का

अन्तःकरण में अनन्त वासनायें छिपी हुई हैं। जिसका जिस समय प्रबल निमित्त आता है, उसी समय वह उभर पड़ती है। हर समय उन्हीं वासनाओं का परस्पर संघर्ष एवं विप्लव होता रहता है। अतएव अधिकांश मनुष्य जीवन की

वास्तविक झांकी नहीं देख सकते और उसके बिना जीवन का सही मार्ग नहीं मिल सकता। प्रशांत एवं निर्मल मन की स्थिति ही इसके साधन रूप में सिद्ध हो सकती है।

शिक्षा : एक दृष्टि

नई तालीम दी जाय, मगर नई तालीम का नकशा वास्तविक शांति का हो। बुनियादी आवश्यकताओं के साधनों का विकेन्द्रीकरण होकर अन्न-वस्त्र आदि जरूरी चीजों में स्वावलम्बी एवं स्वतंत्र हो जाय फिर भी जब तक प्रत्येक प्राणी एक-दूसरे का अंग है, एक कुटुम्बी है, एक ही प्रकृति माता की संतान-सहोदर भाई है और उसके साथ मेरा वही कर्त्तव्य है जो कि स्वशरीर के साथ है, ऐसी विश्व व्यापी एकात्मीयता की शिक्षा नई तालीम के नक्शे में नहीं रखी जायेगी तब तक वर्ग-विहीन, शोषण-विहीन एवं शासन रहित स्थायी शांति नहीं हो सकती।

शासन : एक स्पष्टीकरण

शासन-रहितता से अभिप्राय उस शासन से है जो शासन शोषण या हिंसा से मुक्त हो, जिसमें विचार स्वातन्त्र्य का दमन नहीं किया जाता हो। शासन इन्सानियत से वंचित रखने वाला नहीं हो, बल्कि प्रेम या अहिंसा का शासन अवश्य हो। इसके बिना प्रगति नहीं की जा सकती।

वातावरण का प्रभाव

समय और परिस्थिति के अनुसार इन्सान परिवर्तित होता है। उसके सामने जैसा वातावरण होता है वह उसी के अनुकूल अपने विचारों को ढालता है और प्रतिकूल वातावरण को समय-अनुसार बदलने की चेष्टा करता है। वह उसको परिवर्तित कर सकता है, किन्तु सर्वथा नष्ट नहीं कर पाता। यह सब मध्यम श्रेणी के विचारकों की परिस्थिति है। मगर जो वस्तुतः सत्य-शोधक एवं विवेकशील पुरुष है, वह स्वयं पवित्र अन्तःकरण को सामने रखकर निर्लिप्त, विशाल दृष्टि से नवीन वातावरण तैयार करता है। वह किसी प्रवाह या उत्तेजित वातावरण में नहीं बहता किन्तु निश्चल धैर्य के साथ आगे बढ़ता है।

उपयोग : विचार-शक्ति का

विचार-शक्ति का सदुपयोग करना चाहिये, उसे व्यर्थ की बातों में नष्ट नहीं करना चाहिये। यह एक ऐसा शस्त्र है जिसके सदुपयोग करने से स्वपर की रक्षा और दुरुपयोग से स्वपर का नाश होता है। अगर इन्सान यह सोचता है कि मेरी उन्नति में अमुक व्यक्ति बाधक है, उसको कैसे हटाऊँ या उसका

कैसा खात्मा हो एवं उसको दुःख और आपत्ति में गिराऊँ तो वह अपनी विचार-शक्ति का दुरुपयोग करता है। विचार-शक्ति का सदुपयोग करने वाला सोचता है कि मुझे आपत्ति में डालने वाला कोई नहीं है। जो मेरी उन्नति में बाधक दिखता है वह बाधक नहीं, साधक है। वह चारों ओर से विचारों को केन्द्रित कर सत्य के मार्ग में गति और कर्त्तव्य को देखता है। अगर मेरी गति एवं कर्त्तव्य निरन्तर रूप से जारी है तो विश्व का कोई भी पदार्थ मुझे रोक नहीं सकता, ऐसा सोचना विचारों का सदुपयोग है।

प्रभाव-आचरण का

कितना ही सुन्दर सिद्धान्त हो और उसका शाब्दिक प्रचार सारे संसार में भी क्यों न कर दिया गया हो, उसे वास्तविक प्रचार नहीं कहा जा सकता। वास्तविक प्रचार जितना आचरण द्वारा हो सकता है, उतना अन्य साधनों से नहीं। चाहे उनके आचरणकर्ताओं की संख्या कम ही क्यों न हो, मगर वही स्थायी होता है।

व्यक्तित्व का प्रभाव

दिल एवं दिमाग का असर शरीर पर पड़ता है और वह शरीर के प्रत्येक अंग से बाह्य वायुमण्डल में फैल जाता है। बिना बोले वह सूक्ष्म रूप से प्रत्येक पदार्थ पर असर करता रहता है। जिस भाव की जितनी प्रबल शक्ति होगी वह जन साधारण पर उतना ही अधिक असर करेगी और समय पाकर अपने ढांचे में ढाल देगी। विचारक पुरुषों के साथ उसका संघर्ष होगा। उसमें या तो प्रबल शक्ति विजय प्राप्त कर लेगी या तीसरी शक्ति की सृष्टि होगी।

पद-लिप्सा बनाम देशद्रोह

छोटी-छोटी बातों को लेकर पद-लिप्सा से कोई गुट या पार्टी बनाना जनता के प्रति धोखा करना है। यह देश या समाज की सुव्यवस्था की ओट में देश व समाज के प्रति द्रोह है। वास्तविक रूप से जन-सेवा करने वाले ऐसा कभी नहीं सोचते। उनके तन-मन और धन व्यर्थ के कामों में नष्ट नहीं होते। वे व्यक्तिगत स्वार्थ के पीछे पार्टी बाजियों में नहीं पड़ते। वे सही रूप से कर्त्तव्य को सामने रखकर चलते हैं, न कि व्यक्तिगत स्वार्थ को।

अनुभूतिमूलक शिक्षा

मनुष्य शिक्षा के लिये बहुत कोशिश करता है और कुछ अक्षरी ज्ञान-मौखिक ज्ञान से शिक्षा युक्त बातें याद कर लेता है और उसी के ऊपर श्रद्धा रखकर स्व-पर के जीवन में उतारने का प्रयत्न करता है, मगर वह सही प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि स्वानुभूति के बिना वास्तविक शिक्षा नहीं पाई

जा सकती। वास्तविक शिक्षा प्राप्त करने के लिये पवित्र अन्तःकरण की आवश्यकता होती है। बाह्य साधन तो निमित्त मात्र होते हैं। जब तक व्यक्ति यह सोचता रहेगा कि आपत्ति या कष्ट का सामना न करना पड़े तब तक वह सही शिक्षा नहीं पा सकता। जो शिक्षा दूसरों को देनी है, वह शिक्षा पहले अपने ऊपर आजमाकर अनुभव करें कि यह मुझे हितकर एवं प्रियकर मालूम होती है या नहीं? फिर जो उसे हितकर एवं प्रियकर ज्ञात हो तो वही दूसरे को दे।

परापेक्षी वृत्ति-मानसिक दुर्बलता

"अमुक बड़े आदमी ने अमुक मत का समर्थन कर दिया, वह अधिक फैलेगा, हमारे मत का समर्थन नहीं हुआ, अतएव हमारा मत कमजोर हो जायेगा, उसके पास हमें भी पहुँचना चाहिये।" ऐसी बातें कमजोर दिल के मनुष्य कहा करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि हमने जो मत स्वीकार किया है, यह सोच-विचार कर किया है या बिना सोचे। अगर सही मायने में सोचा है और उसे जीवनोपयोगी अनुभव भी कर रहे हैं, तो हमें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिये। निर्भयता एवं दृढ़तापूर्वक उसका अनुसरण करते हुए आगे बढ़ना चाहिये। दूसरे किसी असंयमी की प्रामाणिकता की छाप का गुलाम रहने वाला मनुष्य कभी सुख तथा शांति नहीं पा सकता। सुख एवं शांति का सही मायने में वही अनुभव कर सकता है, जो पवित्र अन्तःकरण की प्रामाणिकता तथा दिव्य दृष्टि की छाप चाहता हो।

जीवन की विराटता

जीवन का सम्बन्ध केवल शरीर तक ही सीमित नहीं है। इसका सम्बन्ध न्यूनाधिक रूप से सारे संसार के साथ है।

जीवन की विशेषता

जीवन विश्व की अनेक विभिन्न इकाइयों में से एक है। इसके अन्दर समग्र तत्त्व न्यूनाधिक रूप से बीज रूप में विद्यमान हैं। इन सभी तत्त्वों का विकास भी किया जा सकता है और शरीर के अतिरिक्त अन्य भौतिक साधन के बिना विश्व की हलचल का ज्ञान हो भी सकता है। अपने अस्तित्व को स्वतंत्र रूप में कायम रखते हुए विश्वस्थ सम्बन्धों को स्वच्छ भी रखा जा सकता है।

साधना की भूमिका

शुद्ध कर्त्तव्य दृष्टि को सामने रखकर चलते रहना, निष्ठापूर्वक जीवन कला को मद्देनजर (दृष्टिगत) रखना, विनयशीलता व सुविधि का त्याग न करते हुए निर्भयतापूर्वक मनःस्थिति को रखना, मान-अपमान आदि स्थिति का मन में

विचार तक नहीं आने देना, इससे ज्ञान-फल की कुछ स्थिति बनती है, अतः उपर्युक्त दशा साधना में सर्व प्रथम आनी चाहिये।

विवेक-आनन्द-आश्रम

आज विवेकानन्द आश्रम में बैठने का प्रसंग आ रहा है। इस नाम से भी प्ररणा प्राप्त करनी चाहिये। जीवन की अनेक समस्याएँ उलझी पड़ी हैं, उनको सुलझाये बिना मार्ग साफ नहीं बन पाता। मार्ग साफ हुए बिना जीवन की गति अवरुद्ध रहती है अर्थात् सही तरीके से गति नहीं बन पाती। सम्यक् गति के बिना कितना ही कुछ चला जाय, कितना ही सोचा जाय, कुछ भी तत्त्व-चिन्तन किया जाय, कितना ही ग्रन्थ का अध्ययन-अध्यापन किया जाय, कराया जाय, कितने ही आश्रम खोले जायें, दुनिया की प्रायः सभी कलायें सिखाई जाय, किसी भी पार्टी का कैसा भी सदस्य बना जाय, समग्र ग्रंथों को रटकर कंठस्थ कर लिया जाय, अज्ञानावस्था का कितना भी तप तपा जाय, कितना भी कष्ट उठाया जाय, योग-साधना की कितनी भी प्रक्रिया की जाय, पर इस प्रकार के सभी कार्य अरण्य रुदन के तुल्य रहते हैं। अतः सम्यक् गति प्राप्त करने के लिये विवेक जागृत करने की नितांत आवश्यकता है। उसमें नित्यानित्य वस्तु-विवेक, इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी भौतिक योग साधन-सामग्री से ममत्व को दूर कर सत्चित्त आनन्द घन रूप दिव्य शक्ति समूह का जो स्वरूप है, वही एकमात्र प्राप्तव्य है। इस दशा को प्राप्त करने के लिये, उसी के अनुरूप साधन-सामग्री का अवलोकन एवं उसके अनुसार दिनचर्या का भली भांति निर्धारण रूप विवेक सबसे पहले होना चाहिये। इससे सभी समस्यायें व उलझनें सहज भाव से सुलझाई जा सकती हैं। उसके पश्चात् आगे की श्रेणी सुनिश्चित रूप से अमल में लाने का उपाय सोचा जाय, ताकि जीवन की सुगति आनन्दपूर्वक बनाई जा सके। इसके लिए समग्र रूप से सम्यक् श्रम की आवश्यकता है, जिसको कि सही मायने में आश्रम कहा जा सकता है।

जीवन का अस्तित्व—एक मूल्यांकन

मानव तू विचार तो कर कि तुम्हारा अस्तित्व यहाँ किसलिए है ? आपस में लड़ने के लिए ? प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग करने के लिये ? या पशु जीवन की तरह जीवन बिताने के लिए ? नहीं ! इन कामों के लिये तुम्हारा अस्तित्व नहीं है। तुम्हारा अस्तित्व तो विश्व में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी अदा करने के लिए है, यह बोध तुझे होना चाहिये। तुझे अपने जीवन को विश्व के अन्दर रहने वाले गुह्य तत्त्व को व्यक्त कर विश्व-कल्याण का मार्ग प्रशस्त बनाने के लिए लगाना चाहिए। स्व कितना रहस्यमय है, इसकी निरन्तर शोध करते रहना चाहिये। इन कामों में यदि जीवन का सदुपयोग बना, तो वस्तुतः जीवन के अस्तित्व की सार्थकता है, अन्यथा मिट्टी के ढेले के समान यह पुतला प्राप्त हुआ

और पानी की बूंदों से गलने की तरह विकारों में गलकर नष्ट हुआ। हाथ कुछ नहीं आया, व्यर्थ ही.....................।

कार्य और भूमिका

प्रत्येक कार्य में धैर्य, शांति और विवेक की नितान्त आवश्यकता रहती है। इनके बिना कार्य की परिपक्वता नहीं बन पाती और परिपक्वता के बिना उस कार्य से सही मायने में तुष्टि नहीं होती। तुष्टि के अभाव में विषय-तृष्णा "दिन दूनी रात चौगुनी" की कहावत के अनुसार निरन्तर बढ़ती रहती है, जिससे मन की चंचलता अधिक वेगवती बनती है और अशांति सीमा को लांघने लगती है, परिणामतः आसपास का वायुमंडल भी दूषित बन जाता है एवं परम्परा से इसकी दुर्गंध दूर तक फैल जाती है।

अतः प्रत्येक विचक्षण पुरुष को किसी भी कार्य में हाथ डालने के पूर्व अपनी भूमिका का भली भांति अवलोकन कर लेना चाहिए। यदि स्वयं की भूमिका में किसी बात की कमी महसूस हो तो कुछ समय उसकी पूर्ति में लगना चाहिये। फिर जब यह अनुभव हो जाय कि मेरी भूमिका अमुक कार्य करने के योग्य सक्षम बन गई है, तो फिर उस भूमिका पर दृढ़तापूर्वक स्थिर रहकर सम्यक् ज्ञान के साथ कार्य में हाथ डालना चाहिए।

खणं जाणहि पंडिए

मेरा प्रत्येक अमूल्य क्षण जा रहा है। इन क्षणों को सार्थक करना मेरे हाथ की बात है। मैं व्यर्थ की बातों में जितनी अपनी शक्तियों को लगाता हूं, उतना ही अपने आप में शक्तिहीन होता हूँ और मेरा प्रत्येक क्षण व्यर्थ जाता है। इससे न केवल मैं अपने आपकी ही शक्ति का अपव्यय करता हूँ, बल्कि व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा विश्व का भी अहित करता हूँ। इस तरीके से, एक दृष्टि से प्राणी मात्र का कल्याण ही करता हूँ। अतः मुझे पूरी सावधानी रखने की आवश्यकता है, ताकि मैं स्व-पर के कल्याण की कड़ी में कुछ शक्ति अदा कर सकूँ।

अमूल्य जीवन

मानव यत्किंचित तुच्छ इंद्रिय सुखों के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अमूल्य जीवन को नष्ट कर रहा है। इसके विषय में कुछ भी सही रीति से सोचने का प्रयत्न नहीं कर पा रहा है। यह अवस्था बीत जाने के पश्चात् असंख्य प्रयत्न करने पर भी वर्तमान मानव-जीवन की अवस्था प्राप्त करना सबसे अधिक कठिन है। कौन जानता है कि यहाँ से कहाँ जाकर गिरेंगे और क्या दशा होगी? उस दशा में आज-सा मान रहेगा या नहीं ? प्राप्त की हुई चिन्तामणि को समुद्र में फेंक दें, उसको पाना तो फिर भी शक्य हो सकता है, पर इस मानव अवस्था

को व्यर्थ के कामों में खो देने के पश्चात् अत्यधिक पश्चात्ताप के अतिरिक्त कुछ भी बनना कठिन है। अतः पूरी सावधानी के साथ वर्तमान मानव अवस्था को संभालकर इसे सही जीवन-कला प्राप्त करने में लगा देना ही मानव का मुख्य ध्येय होना चाहिये।

शिक्षा अवयवों से

शरीर के अन्दर रहने वाला प्रत्येक अवयव अपने-अपने स्थान पर रहता हुआ किस खूबी से अपना कार्य सम्पादन करता है। केन्द्रीय स्थान से जिस भी बात की आज्ञा प्राप्त होती है, उसके अनुसार वह अवयव निरन्तर अपनी गति से अपना कार्य प्रारम्भ कर देता है, उसको कोई देखे या न देखे। कोई उसकी तारीफ करे या निन्दा, वह अवयव इन बातों पर जरा भी ध्यान न देकर प्राप्त आज्ञा को कार्य रूप में परिणत करता रहेगा। निन्दा या स्तुति का असर यदि केन्द्रीय स्थान पर हुआ तो उस असर की झांई के साथ आज्ञा अवयव के पास पहुँचेगी तथा उतनी ही मात्रा में उसकी कार्य-प्रणाली पर असर होगा। कार्य परिणति में भी उसी के अनुरूप परिवर्तन आयेगा, जरा भी विपरीत या न्यूनाधिक नहीं। अतः शरीर के प्रत्येक अवयव की इस प्रामाणिकता से भी मनुष्य को शिक्षा लेनी चाहिये।

महनीय व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति

किसी भी वास्तविक प्रयास के फलस्वरूप मानव यदि अन्तःस्थल पर पहुँच जाता है और वहाँ की सत्व-सम्पन्न शक्ति को भली भाँति पहचान लेता है तो उसकी सब वृत्तियों में परिवर्तन आ जाता है। उसकी चाल, उसकी दृष्टि, उसका बोलना, उसका सुनना, मनन करना आदि अन्य प्राणियों से विलक्षण होंगे। आन्तरिक सत्व-सम्पन्न व्यक्ति अमूल्य शक्ति का जन साधारण की तरह अपव्यय नहीं होने देगा। वह उसका सत्य प्रयोग भी दिव्य एवं भव्य, विशाल तथा व्यापक वास्तविक जीवन-निर्माण को सम्मुख रखकर उसके अनुपात से करेगा, जिससे समग्र जीवन उसी सत्व-सम्पन्न शक्ति के रूप में परिणत कर पायेगा।

अपनों से अपमान

समग्र विश्व तेरा है, तू उसका है। फिर भय और चिन्ता किससे? घर में कौन शत्रु? कोई नहीं। सभी मित्र, सज्जन और स्नेही, सभी सहायक, सभी हितैषी, सभी मेरा शुभ चाहने वाले। घर में कदाचित् किसी की फटकार मिलती है, कभी कटु शब्द भी सुनने को मिलते हैं, मारने और त्रास देने का वायुमंडल भी बनता दिखाई देता है। पर क्या वे सब वस्तुतः हानिप्रद हैं? नहीं! वे सब तेरे हितकर ही हैं। जीवन-निर्माण के लिये हैं। जो तेरी त्रुटि तुझे नहीं दिख

रही है, पर तेरे लिए अहितकर है, उसी के सुधार के लिए कह रहे हैं, अतः हितैषी हैं। वैसा ही दृष्टिकोण सारे संसार के साथ बन जाय तो सब कुछ अच्छा बन जाता है। फिर संहारक, भय और चिन्ता का नामोनिशान ही नहीं रहे बल्कि हर स्थान पर जीवन की उज्ज्वलता ही परिलक्षित होने लगे। प्रत्येक समय उत्साह सर्वत्र सहायक सज्जन, स्नेही के अतिरिक्त कोई दृष्टिगत ही नहीं होने पाये। वह स्थिति जिस भी आत्मा में आ पायेगी, वह आत्मा इस विश्व की वास्तविक स्थिति की आत्मा होगी। उससे फिर गुह्य व अदृश्य कुछ भी नहीं रह पायेगा।

अंकन व वृत्तियाँ

यद्यपि स्व-पर विज्ञाता शक्ति अंकन एवं वृत्तियों से विजातीय स्थिति में रहती है, फिर भी कम विकसित होने या आवृत्त पदार्थों से दब जाने से कमजोर सी बन जाती है। उस अवस्था में वृत्तियों व अंकन तत्त्वों की रंगीन छाया में भी आ जाती है। यानी उनको रंग से रंगीन बन जाने के कारण रंगीन वृत्तियों व अंकनों की अत्यधिक प्रचुरता बढ़ा लेती है और उसी में घुलमिल जाने से स्वकीय स्व-पर विज्ञातत्व विपरीत दिशा में मुड़ जाता है। इससे अशुभ वृत्तियों का निर्माण तथा दुःखद स्थितियों का अंकन उसी जाति का द्वंद्व, जो कि भूमंडल पर समय दिशा आदि आपेक्षित सुख-दुःख वृत्तियों के सम्मिश्रण से अनेकानेक विभिन्न विजातीय वृत्तियों के निर्माण की वृत्तियाँ बाह्य पदार्थों का निमित्त पाकर भी बनती हैं और आंतरिक वृत्ति के उथल-पुथल से भी। किसी अपेक्षित सुखात्म वृत्ति में रागात्म वृत्ति का प्रादुर्भाव और विपरीत में द्वेषात्मक वृत्ति का प्रादुर्भाव होता है। दोनों वृत्तियों का विस्तृत परिवार उसी परिणाम में वह स्व-पर विज्ञाता शक्ति अयगोलक में आग की तरह सब वृत्तियों के रूप को धारण करती हुई अनेक रूपों में प्रतिभासित होने लगती हैं। वह उन रूपों में इतनी फंस जाती है कि स्व-पर विज्ञाता शक्ति, न तो उन सूक्ष्म वृत्तियों को भली भांति पहचान पाती है और न स्वयं के स्वरूप को। अतः घड़ी के कांटे की तरह वृत्तियों में ही घूमती रहती है। इसलिये अधिकांश मनुष्य अपने जीवन को समझ नहीं पाते। अधिकांश दार्शनिकों के लिये भी जीवन एक रहस्यपूर्ण समस्या बन गया है। इससे वे भी इस वृत्ति पाश को चीर कर स्व-पर विज्ञाता शक्ति के आधार-भूत अविनाशी सर्व शक्ति सम्पन्न तत्त्व का साक्षात्कार न कर पाये और अनेक आन्तरिक शंकाओं से ओतप्रोत बन गये। तो फिर अन्य प्राणियों का तो कहना ही क्या ?

प्रबलतम शक्ति-व्यवधान समाप्त

अचल, अविनाशी, अखंड, परम शुद्धि, अन्तिम परिपूर्ण ज्ञान-विज्ञान आदि समस्त श्रेष्ठ मत शक्तियों के स्व-पर स्वरूप के चरम विज्ञाता सत्य को

अविचल परम लक्ष्य के रूप में स्थापित करने का दृढ़ संकल्प आने पर कोई भी बाधक तत्त्व बाधकता के रूप में नहीं रह सकता। ऐसे पुरुष के सामने जीवन की व्यक्तिगत कितनी भी जटिल समस्यायें क्यों न आ जायें, उसके लिये जटिलता रह ही नहीं सकती। पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा विश्व सम्बन्धी परस्पर अत्यधिक भिन्नता के साथ विरुद्ध दिखाई देने वाली गूढ़ गुत्थियाँ सरलतम प्रतीत होंगी। इतना ही नहीं, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अन्तरदृष्टि से विलोकित जो विश्व का विभिन्न स्वरूप है, जिसको स्थूल दृष्टि, स्थूल विचार, प्रचलित दार्शनिक दृष्टियाँ आज तक के समस्त वैज्ञानिक औजार के माध्यम से नहीं देख पातीं, उनके अन्तर्गत रहने वाली समस्त गतिविधि किसी भी रूप को लेकर क्यों न सामने आये, उस पुरुष के लिये न कोई आश्चर्य का विषय होगा, न किसी प्रकार का संकोच, न किसी जाति की ग्लानि, न किंचिदपि किसी कोने के अनन्तवें भाग में भय की छाप की झलक। वह तो पवित्र सलिल धारा की भाँति अपनी परम मस्तानी अवाध शक्ति का आलोक लेकर चलता रहेगा। उसके लिये न कोई विरूप है, न कोई वाधक, न कोई सर्वथा पर न विद्वेष की काली घटा, विराग की परमलता, न कोई वाधक दिवार न आपत्ति की चट्टान। उसके लिये तो सदा सर्वदा राज मार्ग विद्यमान रहता है। किसी प्रकार की रुकावट न हो। अतः गति अवरोध का प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

विचारों का रूपान्तरण

मस्तिष्क का परिवर्तन केवल आर्डर से नहीं होता, वह होता है हिताहित प्राप्ति परिहार के सही विज्ञान से। वह विज्ञान केवल भौतिक नहीं, अपितु भौतिकता पर, नियंत्रण पर क्षमता रखने वाला अध्यात्मिक विज्ञान है। आध्यात्मिक विज्ञान बाजारू वस्तु की तरह सहज मिलने वाला नहीं। उसके लिये कठिन तप की आवश्यकता है। कठिन तप इसलिये कि विकारी दशा से मन को दृढ़ता के साथ मोड़ना पड़ता है। वह मोड़ आर्थिक दृष्टि प्रधान पाठशालाओं व महाविद्यालयों में नहीं हो सकता है। क्योंकि इसमें मुख्य रूप से दृष्टिकोण का भेद है। वैसे ही पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीयता प्रधान दृष्टिकोणों में भी परिवर्तन की स्थिति प्रायः नहीं रहती क्योंकि वहाँ भी मुख्य दृष्टिकोण तत्तत् (उस-उस) विषयक रहता है। यदि वैसा नहीं रखा जाता है तो वे अपने-अपने स्थान के सफल कार्यकर्त्ता साबित नहीं हो सकते। अतः कदाचित् किसी के नहीं चाहने पर भी विवशता के साथ वैसा रखना पड़ता है। इस प्रकार के जितने भी कार्य क्षेत्र हैं, वे प्रायः विकारी दृष्टिकोण में सफल नहीं हो सकते। बल्कि उनमें भी नैतिक संचालन के लिये अन्य की आवश्यकता रहती है। अतः इसकी पूर्ति के लिये ऐसे वर्ग की आवश्यकता है, जो कि इन दृष्टिकोणों से ऊपर उठा हुआ वास्तविक स्थिर लक्ष्यनिष्ठ आन्तरिक ऊर्जा सम्बन्धी अनुभूतियों से ओत-प्रोत होता हुआ वैसा रूपान्तरण ला सके।

संस्कार और अनवरत अभ्यास

शरीर किसी नियत स्वभाव वाला नहीं है। जिसमें भी स्वभाव के संस्कार निश्चित समय पर डालने का अभ्यास किया जाय, वैसा बन सकता है। आरम्भ में कुछ कठिनता महसूस होगी, अटपटा लगेगा। कुछ समय के लिये ऐसा भी अनुभव होगा-मानों अस्वाभाविक स्थिति का काम कर रहा हूँ। मन ऊब-सा जायेगा, उससे उठने की कोशिश होने लगेगी एवं पूर्व स्वभाव को ही अपना स्वभाव समझकर उसी का प्रतिपादन करने की उमंग भी उठ सकती है। लेकिन इस सबके बावजूद भी जिस अभ्यास को चालू किया है, उससे जरा भी पीछे न हटकर अनवरत गति से निश्चित समय में प्रवाहित होता रहे तो कालान्तर में अनुभव होगा कि मैं जिन गुणात्मक संस्कारों का आरोपण सह रहा था, यही मेरा वास्तविक व स्वभाव है। ऐसा होने पर इसके बिना चैन नहीं पड़ेगा। उससे विपरीत स्थिति पसन्द नहीं आयेगी। इस प्रकार जिन भी संस्कारों का स्वभाव बनाने की आवश्यकता हो, उन्हीं संस्कारों का पूर्वोक्त रीति से अभ्यास होने पर वैसा स्वाभाविक स्वभाव इस शरीर का बन सकता है। काफी समय के पश्चात् तो बिना ही अभ्यास निश्चित समय पर वैसा ही अनुभव होने लगता है। यह शरीर एक प्रकार की वह भूमि है जिसमें सभी प्रकार की सर्व अर्थ परमार्थ, आदि रूप फसल तैयार हो सकती है। इसको एक दृष्टि से चिन्तामणि की उपमा भी दी जा सकती है। बशर्ते कि इसका अधिष्ठाता आत्मदेव वास्तविक ज्ञान-विज्ञान अनुभूति पूर्वक आचरण सम्पन्न हो।

भयंकर शत्रु

प्राणी मात्र का एक सबसे बड़ा भयंकर शत्रु है, जो हर समय उसका नाश करता है। वह चमड़े की दृष्टि में जल्दी नहीं आता। कभी आता भी है, तो उसका बड़ा स्थूल रूप। पर वह तो किसी कोयले की खदान में अचानक ज्वाला के रूप को धारण करने वाली आग के समान है। जैसे दबी आग शनैः-शनैः पास के छोटे-बड़े सभी तत्त्वों को प्रति क्षण जलाती रहती है। वैसे ही वह शत्रु प्रतिक्षण प्राणी मात्र के अन्दर रहने वाले छोटे-मोटे जीवन तत्त्व को भस्म करता रहता है। जिसका विज्ञान बड़े-बड़े समाज के कर्णधार, विचारक, चतुर कहलाने वालों को नहीं हो पाता। वे भी प्रायः इसके चंगुल में फँसे रहते हैं। वह क्षय रोग के कीटाणु की तरह सताता रहता है। दूसरी दृष्टि से देखा जाय, तो वह समस्त अध्यात्म रोगों की जड़ है। बड़े-बड़े योगी लोग भी कभी-कभी उससे आक्रांत होते सुने गये हैं, अन्य का तो कहना ही क्या? उसी का असर स्थूल शरीर पर भी पड़ता है और अनेक बीमारियाँ आ घेरती हैं, जिनका निवारण करने में बड़े-बड़े डॉक्टर भी प्रायः असफल रहते हैं। इस रोग से मुक्ति पाये बिना ही प्राणी चल बसता है। साधना का क्षेत्र भी पूरा सफल नहीं

हो पाता। शांति की चादर को प्रतिक्षण कतरने वाले पहाड़ी चूहे के समान सम्पूर्ण आपत्तियों का प्रमुख द्वार वह शत्रु है प्राणी के अन्दर रहने वाला काल्पनिक भय।

अन्तरानुभूति

पिछली रात्रि ५ बज कर ४० मिनिट के लगभग गणित का चिन्तन करते हुए पाट से नीचे उतरते समय अन्तर आभास का दृश्य अपूर्व था। प्रथम तो उज्ज्वलता ऐसी लग रही थी जैसे प्रकाश पुंज में से धूम्र जड़ मूल से अलग हट रहा है। इससे महसूस होने लगा कि मिथ्यात्व आदि विकार जड़ मूल से उखड़ गये हैं, और सर्व विकारी प्रवृत्तियाँ धुएँ के रूप में लगने लगीं। तदनन्तर विचार हुआ कि वस्तुतः आत्मा की दशा इस प्रकार से आगे बढ़ती है। संत जो पढ़ाई कर रहे हैं, वह भी आवश्यक है। पर इन संतों की योग्यता बढ़ जाय तो आन्तरिक पढ़ाई इससे भी महत्त्वपूर्ण है। अतः इसके लिए एक विधान पद्धति का आन्तरिक कोर्स तैयार कर उसके अनुसार आन्तरिक अध्ययन कराऊँ। इसके पश्चात् ऐसा भासित होने लगा कि धूम्र रहित तीन साढ़े तीन हाथ के लगभग लम्बे और गोल स्तंभ के समान गोल छड़ जैसा प्रकाश पुंज का दृश्य आन्तरिक स्थिति के सामने है।

समता का विस्तार

शरीर की रचना वैज्ञानिक पद्धति से बनी हुई है। इसका पूर्ण विज्ञान परिपूर्ण सम्यग् ज्ञान-शक्ति के बिना शक्य नहीं। फिर भी यत्किंचत अन्तर आभांस की अवस्था से चिन्तन किया जा सकता है, वह भी स्नायु के माध्यम से। क्योंकि चैतन्य आत्मा अनन्त शक्ति सम्पन्न होने पर भी अपूर्ण दशा में शरीर के सूक्ष्मतम तत्त्व तथा सूक्ष्मतम अवयवों के साथ स्नायु, आदि के माध्यम से कार्य करता है। चैतन्य आत्मा का प्रकाश अनन्त सूर्यों के प्रकाश से भी अधिक है। उस आत्म ज्ञान के प्रकाश को उपमा की दृष्टि से नहीं आंका जा सकता। ऐसे परिपूर्ण ज्ञान प्रकाश को प्राप्त करने का लक्ष्य सदा सन्मुख रख कर शरीर रूप में रहने वाले चैतन्य आत्मा को सम्यग्ज्ञान के साथ अवलोकन करने का सही प्रयास होना आवश्यक है। एतदर्थ सर्व प्रथम इस अवस्था की योग्यता आना नितान्त आवश्यक है। योग्यता के लिये सूक्ष्म एवं स्थूल समग्र प्रकार के जीवों को आत्मवत् समझने के साथ उनके प्रति शक्ति भर समता दर्शन की वृत्ति बनाई जावे। इस समता दर्शन का संक्षिप्त व विस्तार से यथा स्थान समझकर पूर्ण आचरण रूप में परिणित करना।

समता दर्शन केवल मस्तिष्क रूप से न हो कर आन्तरिक अनुभूतियों में प्रस्फुटित होना चाहिये। आन्तरिक अनुभूति में समता दर्शन के अभिव्यक्त होने पर पाँच इन्द्रिय सम्बन्धी समग्र विषय की तृष्णा के परित्याग की अवस्था स्पष्ट

रूप में आयेगी और उस अवस्था में मन की विकृत अवस्थायें सीमित होकर समभाव वृत्ति बन जायेंगी।

ऐसी अवस्थायें आने पर ही चैतन्य आत्मा उपर्युक्त लक्ष्य को मद्देनजर रखता हुआ जिन-जिन अवयवों के माध्यम से शुभाशुभ प्रवृत्ति करता है, उन-उन शारीरिक अवयवों में वह चैतन्य स्वयं की ही ज्ञान शक्ति से अपने आपको अवलोकन करने का अभ्यास करे और यह देखने का प्रयास करे कि इन अवयवों में चैतन्य का परिस्पंदन किस प्रकार हो रहा है।

ऐसे तो शरीर व्यापी चैतन्य शरीर के प्रत्येक सजीव अवयवों में अपना साकार रूप धारण करके रहा हुआ है। अतः शरीर के बाहरी अवयवों का परिस्पन्दन प्रायः सामान्य रूप से चर्म चक्षु से दृष्टिगोचर होता ही है पर आन्तिरिक अवयवों का आवरण मुक्त तथा सूक्ष्मतर होने से चर्म चक्षु सही रूप में अवलोकन करने में प्रायः असमर्थ हैं। अतः सहजिक योग के माध्यम से अन्तर के शारीरिक अवयवों में होने वाले परिस्पन्दनों के माध्यम से चैतन्य शक्ति के प्रकाश पुंज को क्रमिक रूप से विकसित करते हुए लक्ष्य की ओर बढ़ाना चाहिये। लेकिन यह परिस्पन्दन चैतन्ययुक्त शरीर के अवयवों में ही व्यवस्थित पाये जाते हैं, चैतन्य रहित जड़ शरीर में नहीं। चैतन्य रहित जड़ में यदि कोई व्यवस्थित कला देखी जाती है, तो वह व्यवस्थित कला भी उसी स्व-पर प्रकाश ज्ञान स्वरूप चैतन्य आत्मा की ही है। चैतन्य रहित जड़ में व्यवस्थित कलाकृति बनाने की वैज्ञानिक शक्ति नहीं होती। अतः व्यवस्थित कलाकृति उपयोगवान चैतन्य की है। इस विराट् विश्व में विचारों का विभिन्न वैचित्र्य विभिन्न रूपों, प्रकारों, कार्यकलापों आदि के रूप में परिलक्षित हो रहा है। पर आश्चर्य इस बात का है कि मूल तत्त्वों को समझा नहीं जा रहा है।

ऊपरी-ऊपरी परत को ही सब कुछ समझ लिया गया। उसी के ऊपर प्रायः समस्त मानव वर्ग तैर रहा है और मान रहा है कि सब पा लिया गया। पर वस्तुस्थिति यहीं तक सीमित नहीं है। यह तो एक छोर है, कुछ अंश है। अन्य सभी अंश रहस्यमय गुफा की तह में सन्निहित हैं। उनकी तरफ दृष्टि नहीं जाने से जीवन की उलझनें बढ़ती जा रही हैं। जो भी यह बोलते हैं कि हम सुलझ गये, वे प्रायः अधिक उलझे हुए हैं। जीवन की वास्तविक गुत्थी सुलझे विना उलझनें समाप्त नहीं हो सकतीं। अतः मूल स्रोत के रहस्य की ओर बढ़ना नितान्त आवश्यक है।

अभिमान—एक अभिशाप

अभिमान की मनोवृत्ति जीवन-विकास में घोरतम शत्रु है। मन में जब अभिमान का अंश रहता है, तब वह किसी छोटे व्यक्ति से बात करना भी पसन्द नहीं करता। चाहे उस छोटे व्यक्ति से कितना ही महत्त्वपूर्ण कार्य क्यों न हो, उससे

बातचीत करने पर अपना बहुत भला हो सकता हो, फिर भी अभिमान उससे बात नहीं करने देता। कभी-कभी यहाँ तक की स्थिति आ जाती है कि मृत्यु के क्षणों तक भी अभिमान उसे झुकने नहीं देता। झुकना तो दूर, बात तक नहीं करने देता। इस प्रकार अनेक तरह की कहानियाँ तो वर्तमान जीवन में प्रकट दिखने वाली होती हैं। इसके अतिरिक्त मन की कोमल वृत्ति से विकसित होने वाली अनेक शुभ वृत्तियाँ कुंठित हो जाती हैं। उनके कुंठित हो जाने से इस जीवन की आंतरिक शक्तियाँ तो प्रायः नष्ट होती ही हैं, जो लाख प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं हो सकतीं। इसके साथ-साथ अगली स्थिति बिगड़ जाती है। क्योंकि अभिमान की दशा में दूसरे के प्रति सदा हीन भावना बनी रहती है। इस हीन भावना के समय अगले जन्म का आयुष्य बन्ध भी नीच गति का होता है। उस गति के प्राप्त होने पर प्रायः उसी के अनुरूप ही आगे के विचार बनते रहते हैं। इस क्रम से अनेक जिन्दगियाँ बर्बाद हो जाती हैं। अतः विचारवान इंसान को चाहिये कि अपने मन के किसी भी कोने में अभिमान न रहने दे।

शक्ति का दुरुपयोग

मानव अपनी स्थिति को नहीं समझने के कारण व्यर्थ की बातों में अपनी मानसिक शक्ति लगाता रहता है और व्यर्थ की कल्पना से रात-दिन सोचा करता है कि वह व्यक्ति मेरा है, मेरी पार्टी का है, मैं उसको अपना बना लूँ, उसके साथ मित्रता कर लूँ और जो मेरा नहीं है, उसकी उपेक्षा कर दूँ क्योंकि वह मेरे काम नहीं आता। अमुक काम तो आता है, पर अन्दर में निन्दा करता है। मेरी जड़ काटता है। मेरी प्रशंसा को बर्दाश्त नहीं करता। अतः उससे सम्बन्ध प्रगट में न तोड़कर उदासीन हो जाना ठीक रहेगा, आदि न मालूम किस-किस को लेकर कितना क्या सोचता है, जिसको वह स्वयं भी नहीं समझ पाता। और इसी प्रकार की कल्पनाओं से वह अपनी शक्ति को बर्बाद करके चल बसता है। कुछ भी रचनात्मक-सृजनात्मक-निर्माणात्मक कार्य नहीं कर पाता है। यह मानव मन की बड़ी कमजोरियों में से एक है। इसको समाप्त करने के लिये मन में शुद्ध संकल्प की नितान्त आवश्यकता है। इसके लिये अपने विचारों को साफ करने की पद्धति अपनानी चाहिये। वह यह है कि प्रातःकालीन किसी भी नियत समय में आलस्य को दूर हटाकर एकान्त स्थान में सर्वथा प्रकार से परिपूर्ण सिद्धि प्राप्त आत्मा को नमन कर लक्ष्य स्थिर किया जाय और सर्वथा प्रकार से सभी पापकारी तथा क्षुद्र प्रवृत्तियों के परित्याग के दृढ़ संकल्पपूर्वक आचरण में परिणित अवस्था बनाई जाय, ताकि उन प्रवृत्तियों से ऊपर उठने की क्षमता प्राप्त की जा सके। तदनन्तर वास्तविक स्थिति की दृष्टि से विचार किया जाय कि मैं जो कुछ भी सोच रहा हूँ, कर रहा हूँ, उसमें कितना व्यर्थ तथा कितना किस समय तक काम में आने वाला है? इस विषय का भलीभांति विचार करने पर

जीवन की महान् विशालता का अनुभव होने लगेगा और जीवन-विज्ञान की कला बढ़ेगी।

मानव जीवन—आनन्द का केन्द्र

मनुष्य आनन्द का केन्द्र बन सकता है और दुःख का महासागर भी। दोनों अवस्थाओं का मूल मनुष्य जीवन है। इस योनि में रहने वाली आत्मा को भलीभांति सोच लेना चाहिये कि अब कौन सा कार्य करना है। यदि वास्तविक मनुष्यत्व, मनुष्यपन की अवस्था प्राप्त कर जीवन को सही ज्ञान के साथ विकसित किया तो यही मानव जीवन वास्तविक आनन्द का सच्चा केन्द्र बन सकता है। उसके लिये जीवन में बदबू मारने वाली समस्त विकारों की गन्दी नालियों को परिमार्जित करना होगा। सत्य, शील रूप पवित्र जल से उनको धोना होगा। मानव ही नहीं प्राणीमात्र के प्रति आत्मीयता स्थापित करनी होगी। जीवन के प्रत्येक क्षण को सार्थक बनाने के लिए सत्पुरुषार्थ का अक्षुण्ण मार्ग अपनाना होगा। आत्मीय प्रत्येक शक्ति की धारा में विवेक शक्तिपूर्वक ज्ञान दूरबीन से सही अवलोकन करना होगा और यह देखना होगा कि किस-किस आत्मीय शक्ति के प्रवाह में कौनसा मलिन कचरा कितनी मात्रा में साफ हुआ और कितनी मात्रा में अभी तक विद्यमान है। किस के पीछे कितना विकास रहा और इस विकास को सुखाने का कितना ताप पहुंचा, आदि विषयक निरीक्षण यथासमय करना आवश्यक होगा, ताकि सफलता की शक्ति आगे बढ़ती रहे और जीवन का आनन्द-केन्द्र समीप आता रहे।

प्रभुता में बाधक—अभिमान

जीवन में छिपी शक्ति की अभिव्यक्ति होने पर आत्मा तीनों लोकों की प्रभुता प्राप्त कर सकती है। वह प्रभुता शस्त्र बल, धन बल अथवा अन्य किसी बाह्य बल से प्राप्त नहीं हो सकती। वह तो आन्तरिक शक्ति के सही विकास पर निर्भर है। आन्तरिक शक्ति अभिमान की मात्रा से दब जाती है। बड़ा से बड़ा व्यक्ति क्यों न हो, अभिमान उसको भी गिरा देता है। वाहुवली जैसे वलिष्ठ को भी अभिमान ने पछाड़ दिया। जंगल में ध्यान लगाकर खड़े रहने से लतायें शरीर पर व्याप्त हो गईं। पक्षियों के घोंसले तक का कथन प्रसारित हो गया। पर मन की एकाग्रता भंग नहीं हुई। शरीर ने जरा भी लचक नहीं खाई, नेत्र की पलकें स्फुरित न हो पाईं। कितना कठोर कार्य। वाहुवलीजी ने शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक प्रक्रिया की साधना में जरा भी कमी नहीं आने दी। पर आन्तरिक अभिमान वृत्तियों के कारण त्रिभुवन प्रभुता रूप चरम आत्मीय शक्ति प्राप्त करने में बाधा उपस्थित हो गई। केवलज्ञान उपस्थित नहीं हो पाया। जिस समय सूक्ष्म रूप से रहने वाले अभिमान को नष्ट किया कि

तत्क्षण उसी अवस्था में केवलज्ञान प्राप्त हो गया और त्रिभुवन-प्रभुता की विराट शक्ति के स्वामी बन गये। अतः अभिमान का सर्वथा परित्याग तो त्रिभुवन-प्रभुता प्राप्ति का एक साधन है।

उद्बोधन के स्वर

आम व्यक्ति के दिन रात वैसे ही व्यतीत हो रहे हैं, कुछ करने योग्य किया नहीं जा रहा है। वह किसी कल्पना, व्यर्थ के विचार मस्तिष्क के पटल पर आने जाने से शक्ति का अपव्यय बन रहा है। निद्रा, स्वप्न, जागृति, चिन्ता आदि प्रक्रियाओं में समय बीत रहा है। भव्य चेतना, इन सभी दशाओं में तुझे सावधानीपूर्वक आगे बढ़ने की आवश्यकता है। इन्हीं दशाओं में अनादिकाल से चलता आ रहा है। उनसे ऊपर उठने का सोचा भी नहीं। यत्किंचित सोचा भी तो ऊपरी तौर से। अन्तःस्थल से सोचने का जरा भी प्रयास सही ज्ञानपूर्वक नहीं बन पाया। यही कारण है कि आत्मा का विकास प्रायः अवरुद्ध सा ही रहा। भव्य प्राणी अब भी समय है, अवसर है, अवकाश है। जीवन की योग्य दशा है, साधन सामग्री का अनुकूल योग है वास्तविक ज्ञान का पट खोलने का। क्यों नहीं खोला जा रहा है, क्यों व्यर्थ में पड़ा हुआ है? अब तो जग! अब तो चेत! क्या कर रहा है? बड़े दुःख का विषय है कि तुम्हारा सारा समय व्यर्थ में जा रहा है। कुछ भी सही मायने में कर नहीं पा रहा है। कब करेगा? कब जगेगा? कब चलेगा गन्तव्य स्थान पर? सही दिशा सामने रखकर सच्चे परुषार्थ बल से चल पड़! सफल होगा तुम्हारा दिन-रात!

सूक्ष्म दृष्टि—विलक्षण चिन्तन

सूक्ष्म और सही दृष्टि का चिन्तन बड़ा ही विलक्षण होता है और वस्तुस्थिति के पार तक पहुँचाने वाला होता है। इसके लिये चित्तवृत्ति की समता आनी आवश्यक है। समता का तात्पर्य सर्व तत्त्व को एकान्तिक रूप से एक सदृश्य मान लेना या समझ लेना नहीं है, वरन् समता का अर्थ है—प्रत्येक पदार्थ की प्रत्येक अवस्था का भलीभाँति सापेक्ष दृष्टि के साथ वस्तु स्वरूप अवलोकन करना तथा उसके अन्तःस्थल तक पहुँचकर वास्तविक अवलोकर कर लेने पर निर्णायक बुद्धि का होना। इस प्रकार की चित्तवृत्ति बनाने पर जो भूमिका बनेगी और उस भूमिका की अवस्था से जो चिन्तन प्रारम्भ होगा, वह भूमिका सूक्ष्म पवित्र दृष्टि की बन पायेगी। वहाँ जीवन की सर्वग्रंथियाँ यथा-शीघ्र सुलझ सकेंगी एवं आनन्द की वास्तविक अनुभूति की दशा प्रशस्त बन पायेगी। फिर तो राजमार्ग-सा कार्य बन जायेगा। मार्ग खोजने की दृष्टि से रुकना नहीं होगा। गति भी तीव्र बन जायेगी। यह कार्य स्थूल दृष्टि से नहीं बन पाता। हाँ, प्रारम्भ में स्थूल बुद्धि भी आगे बढ़ाने में सहायक बन सकती है। अतः यथास्थान सूक्ष्म दृष्टि के चिन्तन की आवश्यकता है।

सफलता का मूल मंत्र—संकल्प शक्ति

जीवन निर्माण का कार्य स्वयं के सान्निध्य से सम्पन्न होता है। सान्निध्य का तात्पर्य सिर्फ समीपता नहीं, बल्कि स्वयं की कला का प्रयोग करना है। यानी स्वयं की संकल्प शक्ति को इस प्रकार दृढ़ एवं निरन्तर स्थायी बना देना जिससे अभीष्ट कार्य यथाशीघ्र सम्पन्न हो सके। किसी भी कार्य में विलम्ब या शैथिल्य उस कार्य की कारण सामग्री के प्रमुख सूत्रधार संकल्प शक्ति पर निर्भर है। वह संकल्प शक्ति वास्तविक ज्ञानपूर्वक निरन्तर जीवन-निर्माण की परिपूर्ण कारण सामग्री के प्रत्येक अंग में प्राणस्वरूप बनकर दृढ़, दृढ़तर, दृढ़तम बन जाय तो अन्य कोई भी शक्ति उसमें बाधक नहीं बन सकती। बाधकता प्रायः संकल्प शक्ति की कमजोर अवस्था पर ही कामयाब हुआ करती है। बाधकता की शक्ति वहाँ सफल हो सकती है, जहाँ संकल्प शक्ति के सदस्य इतस्तः अलसित हों। मानव अपनी उस महत्त्वपूर्ण शक्ति को व उसके सदस्यगण की महत्ता को प्रायः समझ नहीं पाता। फलस्वरूप निर्माण कार्य में बाधाओं के विचित्र रंग-रूप से प्रायः हर क्षण वृक्ष के पत्ते की तरह प्रकम्पित होता रहता है। इससे अशांति के काले बादल सर्वत्र मंडरा जाते हैं और कर्त्तव्य विमूढ़ता का बोलबाला तथा उत्साहीनता की जंजीर निर्माण कार्य में बाधक बनती रहती है। अतः सदा सावधानी की आवश्यकता है।

ब्रह्मचर्य—एक अनुचिन्तन

ब्रह्मचर्य के वास्तविक परमार्थ को यदि सन्मुख रखा जावे तो जीवन का नक्शा कुछ और ही बन सकता है।

शरीर से निकलने वाला वीर्य प्रवाह निष्कारण नहीं होता। उसमें कारण अनेकों हो सकते हैं। पर मुख्य कारण दो होते हैं। एक विचार और दूसरा वय यानी शरीर की अवस्था विशेष।

इन दोनों में भी विचारों की ही प्रमुखता मानी जा सकती है। क्योंकि विचारों के भी दो रूप संक्षिप्त में रहते हैं, जिनको ज्ञात और अज्ञात के नाम से भी पुकारा जा सकता है। उनमें से यानी ज्ञात और अज्ञात विचार-धाराओं में से किसी भी अवस्था में अब्रह्मचर्य की ओर मुड़ने पर वीर्य पदार्थ के स्खलित होने का प्रसंग प्रायः बनता है। यद्यपि विचारों के मोड़ में अनेकानेक कारण हैं पर उनमें भी शरीर के अवयवों की एक अवस्था विशेष को प्रबल कारण कहा जा सकता है। जिससे विचारों का मोड़ प्रायः बन जाया करता है।

ब्रह्मचर्य—शारीरिक प्रभाव

शारीरिक अवस्था को व्यवस्थित रखना भी आत्मशक्ति पर निर्भर है।

यद्यपि पौद्गलिक कार्य पदार्थ के अन्दर विचित्र स्वभाव बनता है तथापि उस स्वभाव का समय पर परिपाक भी हो जाता है। उस परिपाक के फलस्वरूप विचार आदि अवस्थाओं पर असर भी हो सकता है। लेकिन उस वक्त या उस परिपाक के पूर्व ही विचारों का पुट दिया जाय, तो पदार्थों के पूर्व रस में परिवर्तन आ सकता है। जिस भी अवस्था के विचार परिपक्व होंगे उसी अवस्था में पदार्थों का परिवर्तन किया जा सकता है। अर्थात् इस विराट् विश्व में आत्म-शक्ति सर्वोपरि है। उसका मोड़ सही दिशा की ओर हो तो समग्र वायु मण्डल में इच्छानुसार परिवर्तन लाया जा सकता है।

इस शक्ति का सही अनुभवकर्ता स्वयं के शरीर में व्याप्त वीर्य के नाम के धातु को स्खलित नहीं होने देकर अन्य शक्ति में परिवर्तित कर देगा। स्खलित होने देना या नहीं, इसका नियंत्रण आत्मीय शक्ति पर निर्भर है।

आत्मीय विशेष शक्ति के जागृत नहीं होने तक ही अन्य शक्तियाँ अपना-अपना कार्य कर गुजरती हैं और वे विभिन्न प्रकार की हो जाने से विभिन्नता पैदा कर देती हैं। यही अवस्था प्रायः प्राणीवर्ग में चल रही है।

ब्रह्मचर्य—मानसिक प्रभाव

मानसिक वृत्ति की समग्र धारायें यदि अब्रह्मचर्य की ओर जरा भी झुकें और वास्तविक निर्धारित कार्य में निरन्तर संलग्न बन जायें तो यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि द्रव्य वीर्य रूप धातु की परिस्खलना नहीं हो पाती। क्योंकि द्रव्य वीर्य रूप धातु की परिस्खलना भाव वीर्य रूप आन्तरिक आभ्यन्तरीय शक्ति पर निर्भर है।

भाव रूप आभ्यन्तरीय शक्ति अपने समग्र परिवार के साथ जिस भी कार्य में निमग्न होगी उसी कार्य की साधिका रूप अन्य भौतिक शक्ति में द्रव्य वीर्य रूप धातु व्याप्त होती रहेगी। यानी भाव रूप आभ्यन्तरीय वीर्य शक्ति से द्रव्य रूप वीर्य नामक धातु को परिवर्तित, परिवर्धित, संक्रमित, रूपान्तरित आदि अनेक अवस्थाओं में संस्थापित किया जा सकता है। बशर्ते कि इस प्रकार की सही विधि समग्र पहलुओं से ज्ञात कर सही दृढ़तर अत्यन्त विश्वसनीय संकल्प पूर्वक निरन्तर अभ्यास में लाई जाय।

यह कार्य मानवीय जीवन की सही दिशा की निर्मल परिस्थिति में शक्य किया जा सकता है। अशक्य स्थिति की कल्पना निराधार है।

आत्म-शक्ति

मानव जीवन में सर्व शक्ति सम्पन्न बनने के साधन बीज रूप में विद्यमान रहते हैं। विल पावर (आत्म शक्ति) के अनुपात से विकसित होने का चांस रहता

है। आत्मशक्ति का मोड़ दृढ़तर आन्तरिक लक्ष्य के अनुकुल प्रायः बन जाया करता है। आन्तरिक शक्तियां जिस कार्य के लिये अत्यन्त तन्मयता के साथ संयुक्त बन जाती हैं, प्रायः शरीर के महत्त्वपूर्ण अंग भी अपने-अपने स्थान पर रहते हुए कार्य के सम्पादन में सहयोगी बनते हैं। उस वक्त शारीरिक रस-ग्रंथियां अपने-अपने स्थान में उसके अनुरूप रस-संचय में संलग्न रहती हैं। उस रस के स्राव से भोजनादि की अवस्था में रासायनिक प्रक्रिया बनती रहती है, जो कि शरीर के विभिन्न अवस्थाओं में रसादि आदि रूप में जो धातुओं की अव्यवस्था परिणित है, उनमें विल पावर के अनुरूप कार्य साधिका की शक्ति उत्पन्न कर लेती है। इस प्रकार व्यवस्था निरन्तर रूप से बढ़ती रहे तो धीरे-धीरे मानव शरीर में सर्व शक्ति समूह का अवस्थान व्यक्त होते हुए बीज वृक्ष का रूप धारण कर सकता है यानी किसी भी शक्ति के लिये पर मुखापेक्षी न रहकर स्वयं वही अन्यों को शक्ति-प्रदान-विधि के रूप में विधाता साबित हो सकती है, अतः मानव जीवन में रही शक्तियों को सावधानी के साथ विकसित करने की आवश्यकता है।

शुद्धि : अन्तर-बाह्य

जीवन की आन्तरिक धरा पर चलना सरल नहीं है। वहां पर चलना जिसने सीख लिया, उसने जीवन की सफलता पा ली, ऐसा कहा जा सकता है। जिसने आन्तरिक धरा पर चलना नहीं सीखा और अन्य कितनी कुछ भी उपलब्धियां प्राप्त करली हों, उसके लिये ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उसने जीवन की सफलता पाई है, क्योंकि आन्तरिक गति के बिना बाह्य गति सिर्फ मकान को बाहर से पोतना और अन्दर गंदगी भरे रखने के समान है। यदि बाह्य गति आन्तरिक गतिपूर्वक बने तो दोनों जीवन के वास्तविक पंख बन सकते हैं।

जीवन-गंगा

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र या अवयवों में हर समय उत्साह एवं उमंग की लहर होनी चाहिये। जीवन एक पवित्र बहती गंगा के समान है। उसमें सभी वस्तुयें आकर मिलती हैं। गंगा सभी वस्तुओं को स्वच्छ एवं शीतल वना देती है। वैसे ही जीवन गंगा में जो भी वस्तुएं प्रविष्ट हों अथवा संयुक्त हों वे सभी यथायोग्य शांत एवं पवित्र बन जायें अर्थात् उन वस्तुओं के निमित्त राग-द्वेष न हो, यहां उनके पवित्रपन की अवस्था है।

जीवन और उसका उपयोग

जीवन बाह्य व्यवहारों से उलझ गया है। सर्वत्र दृश्य पदार्थों का आकर्षण जीवनी शक्ति को विभक्त कर रहा है। शक्ति की विराटता इन दृश्य पदार्थों में अवरुद्ध हो रही है। मनुष्य जन्म से शक्ति को फैलाना चालू करता है। सर्वप्रथम

स्तन पान की ओर मुड़ता है। पश्चात् माता-पिता एवं परिवार में समाता है। तदनन्तर खेल, विद्याध्ययन एवं अर्थ में स्वकीय शक्ति को लगा देता है। फिर समाज, राष्ट्र आदि भौतिक कार्यों में व्यस्त बनकर जीवन की इतिश्री भी कर देता है। आन्तरिक अभिव्यक्ति की तरफ देखने का अवसर भी नहीं मिल पाता।

विचारों का प्रभाव

पवित्र आत्मीय विचारों का प्रभाव जड़ पदार्थों पर भी पड़ता है। उनकी पर्यायों में परिवर्तन आता है। उनकी अवस्था आत्मीय विचारों के अनुरूप ढल जाती है। अतः वे जिन भी पदार्थों को जिस रूप में मोड़ना हो उस रूप में विचारपूर्वक योग्य संयोगों में मोड़ सकते हैं। यह असंदिग्ध विषय है।

निर्ग्रन्थ प्रवचन में उल्लिखित कर्म सिद्धांतानुसार कर्म वर्गणा के जड़ परमाणु चैतन्य संयुक्त होने पर चैतन्यवत् कहलाते हैं।

आत्मीय विचार शांत एवं अमृत तुल्य हैं, तो उन विचारों का निरन्तर व्यवस्थित संयोग जिन परमाणु स्कन्धों को मिलेगा वे परमाणु स्कन्ध शान्त, सुधारस एवं अमृत तुल्य अवश्य बन जायेंगे।

सत्य-बोध

आज प्रातःकाल सेठिया कोठरी की ऊपरी छत पर ७.३० से ८.३० के बीच घूमते समय वस्तु सत्य की सच्ची अनुभूति जागृत हुई। भूत, भविष्य के मध्य वर्तमान दिन का वर्तमान चिन्तन क्षण अति महत्त्वपूर्ण है। उसी की सावधानी ध्रौव्य पर्याय के साथ अत्यधिक उज्ज्वल पवित्रतम कार्य में दत्तावधान होना ही श्रेष्ठ सार्थक समय है। उसी में सर्वज्ञता के स्वरूप की अभिव्यक्ति का अवसर है।

मानव : एक सुरभित पुष्प

पुष्प सदा–सर्वदा अपने ही स्वभाव में निमग्न रहता है। स्वकीय पराग-सौरभ को अपने आप में भरने में जरा भी विलम्ब नहीं करता है। जब परिपूर्ण भर जाता है, तब उसमें से अपने आप इधर-उधर सर्वत्र सुगन्धि प्रसृत होने लगती है। उससे मानव को जो लाभ होता है, वह फलों आदि से नहीं होता।

मानव भी इस विराट विश्व का दिव्य पुष्प है। इसको भी अपने आप में पवित्र गुणों की सुगन्धी निरन्तर भरते रहना चाहिये। किसी भी समय कैसी भी व्यवस्था क्यों न हो, प्रतिकूल से प्रतिकूल प्रसंग पर भी सद्विचारों को अपने से एक समय के लिये भी विलग न होने दें। प्रतिकूल विचारों को समभाव के धरातल पर बिखेरकर जो जिस रूप में ज्ञान हो उसको वस्तु स्वरूप की दृष्टि से उसी रूप में अवलोकन करें। पर राग-द्वेष के रंग को अपने विचारों पर न चढ़ने दें ताकि स्वयं के पवित्र विचारों की सौरभ को किसी भी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचे। यह मानव रूप दिव्य फूल की सफलता की कुंजी है। □